बहु
यहं
र्ण व
काम
यों
“प्र

यच

[म
“प्र
का
सिद्ध
रि
गुप्त
ीय
नत
प्रत
हा
र्य
है
का
ो
न”

बहुत कम और ध्वनि, व्यञ्जनासे अधिक काम लेना यही उसके चमत्कारका मुख्य हेतु है। इस प्रकारके (र्ण काव्यके निर्माता ही वास्तवमें 'महाकवि' पदके समु- कारी हैं। फिर उनकी रचना परिमाणमें कितनी ही यों न हो।

"प्रतीयमानं पुनरन्यदेव
वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं
विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥"

(ध्वन्यालोक–१।४)

(महाकवियोंकी वाणीमें अभिधीयमान—वाच्य अर्थसे "प्रतीयमान"—अर्थ एक ऐसी चमत्कारक वस्तु है–जो कार चमकती है जिस प्रकार अंगनाके अंगमें हस्त- सिद्ध अवयवोंके अतिरिक्त लावण्य।

ारिकाके "महाकवीनाम्" पदकी व्याख्या करते हुए गुप्तपादाचार्य्य लिखते हैं—

ीयमानानुप्राणित-काव्यनिर्माणनिपुणप्रतिभा- ानत्वेनैव महाकविव्यपदेशो भवतीतिभावः।"

प्रतीयमान अर्थसे युक्त काव्य निर्माणकी जिनमें शक्ति हाकवि" कहलानेके अधिकारी हैं।

र्णयके अनुसार 'महाकवि' कहलानेके लिए यह [illegible]- है कि साहित्यदर्पणादिमें वर्णित लक्षणोंसे युक्त का कोई बड़ा पोथा बनावे तभी 'महाकवि' कहलावे। ो इस प्रकारके 'रसस्वतन्त्र' कविको महाकविसे भी ज' की पदवी दी है। यथा—

"यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेषे तेषु प्रबन्धेषु तस्मिंस्तस्मिंश्च रसे स्वतन्त्रः स कविराजः। ते यदि जगत्यपि कतिपये।"

हमारे "विहारी" जगत्के उन्हीं कतिपय कविराजोंमें हैं।

विहारीके सम्बन्धमें लेख लिखते हुए अब तक जो कुछ यह ऊपर लिखा गया सो सरसरी तौरसे अप्रासंगिक सा प्रतीत होगा, पर ऐसा नहीं है; इसकी यहां आवश्यकता थी। हमें अभी आगे चलकर "गाथासप्तशती" "आर्यासप्तशती" और 'अमरुकशतक"-से ख़ास तौरपर विहारीसतसईकी तुलना करनी है, यदि इस तुलनामें विहारी पूरे उतर जायँ अर्थात् विहारीकी कविता इनकी बराबरीकी या कहीं इनसे बढ़ी चढ़ी सिद्ध होजाय, इनके मुक़ाबलेमें उसका पलड़ा कहीं झुक जाय तो जो बात सिद्ध होगी उसे क्या अभिधावृत्तिसे कहनेकी आवश्यकता होगी! मैं डरता हूं कि "देववाणी वाले" देवतालोग मुझे "भाषा" का अनुचित पक्षपाती, छोटा मुँह बड़ी बात कहनेवाला, "विभीषण" आ[illegible] पवित्र पदवियों का पात्र बनाकर शाप और अभिशापकी [illegible] न करने लगें! पेशगी दुहाई है 'सहृदयताकी!!' मेरा [illegible] अभिप्राय स्वप्नमें भी नहीं है, मैं अपने परमाराध्य प्रातःस्मरण[illegible] संस्कृतकवियोंकी निन्दा करने नहीं चला हूं, उनमें मेरी अवि[illegible] भक्ति है, अशिथिल श्रद्धा है। मेरे स्वाध्यायसमयका अधिक [illegible] संस्कृत-साहित्यके अनुशीलनानुरागमें ही व्यतीत हुआ है। अ[illegible] [illegible]य नहीं बीता है तबतक हिन्दी कविताके विषयमें मेरी धार[illegible] भी कुछ ऐसी ही थी। हिन्दी भाषाकी कवितामें भी ऐसा मनोमोहक चमत्कार हो सकता है, इसका विश्वास नहीं था।

चिरसञ्चित अज्ञानान्धकारको विहारीके कविता-प्र[illegible] अचानक आकर विच्छिन्न कर दिया, मैंने विहारी के क[illegible]

बड़े ध्यान और अवधानसे पढ़ा, पढ़ा क्या, उसने बलात् ऐसा करनेके लिये विवश कर दिया। अनेक बार पढ़ा, तुलनात्मक दृष्टिसे देखा, उसकी तुलना संस्कृत, प्राकृत और उर्दू, फ़ारसीकी कवितासे की। अनुशीलनके इस संघर्षमें विहारीका रंग और भी पक्का होता गया। वह हृदय-मन्दिरमें संस्कृतकवियोंके बराबर आसन जमाकर बैठ गया। अपने इन परिवर्त्तित विचारोंकी सूचना मैंने अपने कई संस्कृतज्ञ विद्वान् मित्रोंको दी, विहारीकी कविता सुनाकर जानना चाहा कि ऐसा समझना कहीं मेरा मतिभ्रम तो नहीं है? विहारीने कहीं 'मदाख़लत-बेजा'से तो यह मेरे दिलपर क़ब्ज़ा नहीं कर लिया है? मुझे सुनकर संतोष हुआ कि नहीं ऐसा नहीं है, मैंने ग़लती नहीं की है, ऐसा होना स्वाभाविक है, नितान्त न्याय्य है। विहारीने दिलमें जो जगह की है वह उसका क़ुदरती हक़ है। इसमें जौ बराबर भी जियादती नहीं हुई है।

ऐसी दशामें महाशय! यदि मैं विहारीके विषयमें कुछ कहने लगा हूं तो सच समझिए केवल इसी विचारसे कि ऐसे अवसरपर चुप रहना सहृदयताके हृदयमें चुभनेवाला असह्य शल्य है, अक्षम्य अपराध है। कवि-तार्किक-शिरोमणि श्रीहर्षकी आज्ञा है—

"वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं
गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत्।"

पहले समयमें संस्कृतज्ञ विद्वानोंने सतसईपर संस्कृतके गद्य और पद्यमें तिलक और अनुवाद करके अपनी गुणग्राहिता प्रकट की है सही, पर इससे संस्कृतज्ञोंमें सतसईका यथेष्ट प्रचार नहीं हुआ। ऐसे अनुवादों द्वारा कविताका मूलतत्त्व अवगत करना असम्भव

है। वास्तवमें कविता अनुवाद करनेकी चीज़ है ही नहीं। अनुवादमें आधेसे अधिक सौष्ठव कविताका नष्ट हो जाता है। रस निकल जाता है, छिलका रह जाता है। एक भाषाकी कविता दूसरी भाषामें आकर कविता नहीं रहती। यह 'शराब' अपने मटके से निकली और 'सिरका' हुई, यह 'राग' एक गलेसे दूसरे गलेमें उतरते ही 'बेसुरा' हो जाता है। यह 'प्रतिबिम्ब' एक दर्पणसे दूसरेमें आया और 'परछाईं' बनकर रह गया। गोवर्द्धनाचार्य्य जैसे महाकवि जब पर्यायसे इसमें अपनी अक्षमता स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार करते हैं, तब आधुनिक अनुवादकोंपर क्या आस्था की जासकती है। संस्कृत भाषाके माधुर्य्यमें किसीको कलाम नहीं है, पर ब्रजभाषाका माधुर्य्य भी एक निराली चीज है, वह 'सितोपला' है तो यह 'द्राक्षा' है। विहारी शृंगारी कवि, भाषा ब्रजभाषा, शृंगाररसकी कविता, (*शृंगारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्*) अहो रम्यपरम्परा! इसका आस्वादन कर चुकनेपर भी यदि चित्तवृत्ति कुसंस्कारवश कहीं अन्यत्र रसास्वादके लिये जाना चाहती है तो सहृदयता, विहारीके शब्दोंमें मचलकर कहती है—

* "जीभ निबौरी क्यों लगै, बौरी! चाखि अंगूर।" इसलिये—

"जो कोऊ रसरीतिको, समभयो चाहै सार।
पढ़ै विहारी-सतसई, कविताको सिंगार॥"

---

*"तो रस राच्यो आन बस, कह्यो कुटिलमति कूर।
जीभ निबौरी क्यों लगै, बौरी चाखि अंगूर।।"

कविने यह अपनी कविता-कामिनीकी ओर ही बड़े मार्मिक ढंगसे इशारा किया प्रतीत होता है।

सतसईके आदर्श ग्रन्थ

विहारीकी सतसईके आदर्श—"प्राकृत गाथासप्तशती" "आर्यासप्तशती" और "अमरुकशतक" मुख्यतया ये तीन ग्रन्थ हैं। तुलनात्मक दृष्टिसे पढ़नेपर इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं रहता कि उक्त तीनों ग्रन्थ, सतसईकी रचना करते समय विहारीके लक्ष्यमें थे, इसमें एकसे अधिक प्रमाण हैं। सतसईके अनेक दोहे उक्त ग्रन्थोंकी सूक्तियोंके आधारपर बने हैं, जैसा कि इस लेखमें उद्धृत अवतरणोंसे सिद्ध होगा। पर विहारी इस मैदानमें अपने इन आदर्श महारथियोंसे किसी मौक़ेपर एक इंच भी पीछे नहीं रहे हैं, यही नहीं, अनेक स्थलोंपर इनसे बहुत आगे बढ़ गये हैं। कहीं कहीं तो इन्हें मंज़िलों पीछे छोड़ गये हैं। कहीं उनसे मज़मून छीन लिया है तो कहीं संस्कार कर दिया है, कहीं काया पलट दी है तो कहीं जान डालदी है। इस प्रकारके स्थलोंमें ऐसा कोई अवसर नहीं जहाँ इन्होंने 'बातमें बात पैदा' न करदी हो, अपनी प्रतिभाके प्रकाशसे आदर्श पद्योंके भावोंको अतिशय चमत्कृत करके न दिखा दिया हो। मज़मून चुराया नहीं, छीन लिया है। उन अमरुक आदि महाकवियोंके मुक़ाबलेमें—जिनका यशोगान ऊपर हो चुका है, उन मज़मूनोंपर क़लम उठाना जिनपर वे क़लम तोड़ चुके थे, और फिर वह कुछ कर दिखाना जो वह भी न कर सके थे, हँसी खेल नहीं है, बड़ी टेढ़ी खीर है। निहायत खट्टे अंगूर हैं। कोई माने न माने मैं तो विहारीकी इसी बातका क़ायल हूं। किसी सख्त मुक़ाबलेमें ही तो बहादुरीके असली जौहर खुलते हैं! प्रतिद्वन्द्विताकी परीक्षामें बड़े बड़े शूरवीरोंका पित्ता पानी हो जाता है, उसमें जो बाज़ी लेजाय वही तो बहादुर है।

जिस बातसे यहां मैं विहारीकी महिमा सिद्ध करना चाहता हूं, सम्भव है इसीसे कोई महाशय उनकी लघिमा सिद्ध करने लगें। वे कहेंगे कि अनुवाद करना कोई बहादुरी नहीं है ! यह तो नितान्त निन्दनीय बात है। साहित्यपारावारके कर्णधार तो इस करतूतके नामसे घिन करते हैं, वे कहते हैं—

"कृतप्रवृत्तिरन्यार्थे कविर्वान्तं समश्नुते।"

यह सिद्धान्त शायद सिद्धान्तरूपमें ठीक कहा जा सकता हो, पर कार्यक्षेत्रमें तो यह चलता नहीं दीखता, औरोंकी कौन कहे संस्कृतकविकुल-गुरुओं तकके काव्योंमें पूर्ववर्त्ती कवियोंकी छायाही नहीं, अनुवादतक एक आध स्थानपर नहीं अनेक स्थानोंपर मिलता है। 'अतिप्रसंग' होजायगा इसलिये यहां इसके उदाहरण नहीं दूंगा, इशारे परही बस करता हूँ। इसीलिये तो "*छायामपहराति कविः*" की रिआयत रखदी है।

अर्थापहरणका विचार

श्रीआनन्दवर्धनाचार्यने "ध्वन्यालोक" के चतुर्थ उद्योतमें और राजशेखरने "काव्यमीमांसा" के १२ वें, १३ वें, अध्यायोंमें अर्थापहरणकी बड़ी ही विशद व्याख्या और मार्मिक मीमांसा की है।

प्राचीन कवियोंने कोई बात नये कवियोंके लिए ऐसी नहीं छोड़ी है, जिसे वे वर्णन न कर गये हों। वास्तवमें कोई नयी बात संसारमें होती ही नहीं, वही गिनी चुनी जानी पहचानी बातें हैं, जिन्हें अपनी अपनी प्रतिभासे नया नया रूप देकर कवि वर्णन करते हैं। पुरानी बातोंमें उक्तिवैचित्र्यसे नवीनता लाना ही कविकी कारीगरी है। आनन्दवर्द्धनाचार्य कहते हैं:—

"दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः, काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥"

वही पुराने पेड़ हैं, पर वसन्त अपने रससञ्चारसे उन्हें नवीन-रूप प्रदान करके नया बना देता है। किसीमें नयी कोंपलें निकालकर, किसीमें फूल खिलाकर, किसीमें फल लगाकर, किसीमें दृष्टि-हारी रूप रंग और किसीमें मनोहारी सुगन्ध भरकर विकासक वसन्त पुराने वृक्षोंको नया करके दिखा देता है।

कवि भी प्रकृति-वाटिकाका विकासक वसन्त है। वह प्रकृतिके उन्हीं नीरस रूखे सूखे ठूंठ रूखोंमें अपनी प्रतिभाशक्तिसे अलौकिक रसका सञ्चार करके कुछसे कुछ कर दिखाता है। कवि-वसन्त किसी पुराने कविता-द्रुममें रस-ध्वनिके मधुर फल, किसीमें अलङ्कार-ध्वनि के मनोहर पुष्प और किसीमें वस्तु-ध्वनिके सुन्दर रूपरंगका सन्निवेश करके सूखेसे हरा और निर्जीवसे सजीव बना देता है। किसीको शब्दशक्तिके और किसी को अर्थ-शक्तिके सहारे ऊपर उठा देता है। किसी को अर्थालङ्कारके चमत्कारसे और किसीको शब्दालङ्कारके वैचित्र्यसे आंखोंमें खुबने और चित्तमें चुभनेवाला कर दिखाता है।

"संवादास्तु भवन्त्येव, बाहुल्येन सुमेधसाम्।"

अर्थात् "सौ स्याने एक मत" के अनुसार अन्य-सादृश्यसे सर्वथा बचे रहना कविके लिये अशक्य है। एक अनूठी बात जो एक कविको सूझती है वह उसी प्रकार दूसरे कविको भी सूझ सकती है। इसलिये कभी कभी दो कवियोंके भाव आपसमें टकरा जाते हैं। कभी ऐसा होता है कि किसी पूर्व कविका कोई वर्णन पिछले कविको पसन्द आगया पर कुछ कसर कोर भी उसे उसमें मालूम पड़ी, इसलिये उसीमें संस्कार करके—'इसलाह' देकर—उसे नये

ढंगसे वर्णन कर दिया। कभी ऐसा होता है कि किन्हीं प्राचीन सूक्तियोंका मनन करते करते उनका भाव कविके हृदयमें इस प्रकार बस जाता है कि परकीयत्वकी प्रतीति तक जाती रहती है, कवि जब कविता करने बैठता है तो बेमालूम तौरपर वही वासनान्तर्विलीन भाव लेखनी से अनायास टपक पड़ते हैं। इस प्रकार "सादृश्य" के अनेक कारण हो सकते हैं। आनन्दवर्द्धनाचार्य्यने सादृश्यके ये तीन भेद—१–प्रतिबिम्बवत्, २–आलेख्यवत् और ३–तुल्यदेहिवत् बतलाये हैं। इनमेंसे पहले दो को परिहरणीय और अन्तिमको उपादेय ठहराया है। राजशेखरने इन्हींका १–प्रतिबिम्बकल्प, २–आलेख्यप्रख्य, ३–तुल्यदेहितुल्य नामसे उल्लेख करके एक चौथा भेद "परपुरप्रवेशप्रतिम" नामक और बढ़ा दिया है, और सादृश्यनिबन्धनके इन चार भेदों द्वारा बत्तीस प्रकारके "अर्थहरणोपाय" बतलाये हैं—(*इत्यर्थहरणोपाया द्वात्रिंशदुपदर्शिताः* ,—इनके उदाहरण दिये हैं। 'हरणोपायों' का तारतम्य दिखलाते हुए किसीको उपादेय और किसी को हेय बतलाकर अन्तमें उदारतासे फ़ैसला दिया है—

"नास्त्यचौरः कविजनो, नास्त्यचौरो वणिग्जनः।
स नन्दति विना वाच्यं, यो जानाति निगूहितुम्॥"
"शब्दार्थोक्तिषु यः पश्येदिह किञ्चन नूतनम्।
उल्लिखेत्किञ्चन प्राच्यं मन्यतां स महाकविः॥"

अर्थात् कवि और वणिक्-व्यापारीजन-परार्थापहरण-पराङ्मुख प्रायः नहीं होते। इनमें जो दूसरेकी चीजको इस ढंगसे छिपानेकी योग्यता रखता है कि चोरी ज़ाहिर न होने दे और लोकनिन्दासे बचा रहे, वही बड़ा साहूकार है और वही महाकवि है। शब्दार्थ में कुछ निराली नूतनता पैदा करके जो प्राचीन भावको

चमत्कृत बना देता है वही महाकवि है। यही सिद्धान्त आनन्द-वर्द्धनाचार्य्यने भी स्थिर किया है—

"यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित्
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते।
अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्
सुकविरुपनिबध्नन् निन्द्यतां नोपयाति॥"

(ध्वन्यालोक ४। १६)

अर्थात् जिस कवितामें सहृदय 'भावुक'को यह सूझ पड़े कि हाँ इस में कुछ नूतन चमत्कार है, फिर उसमें पूर्वकविकी छाया ही क्यों न झलकती हो तो भी कोई हानि नहीं। ऐसी कविताका निर्माता 'सुकवि' अपनी 'बन्ध-च्छाया' से पुराने भावको नूतन रूप देनेके कारण निन्दनीय नहीं समझा जा सकता।

"कवितासादृश्य"के सम्बन्धमें यह सिद्धान्त (आर्डर) है उन आचार्यंका जिनके अन्तिम फ़ैसले की अपील साहित्य-समाज में नहीं है। इतनेपर भी यदि दुराग्रहवश कोई नये पुराने विचारके सज्जन "*कृतप्रवृत्तिरन्यार्थे कविर्वान्तं समश्नुते*" का राग अलापे जायँ और हमारे कवि-नायककी कवितापर मक्खी बनकर भिनभिनानेका साहस करना चाहें तो इसका इलाज हम सहृदयों-पर छोड़ते हैं। पर इतना कहे देते हैं कि फिर एक विहारी ही क्यों, हिन्दीका कोई कवि भी अछूता नहीं छूटेगा। कविता-आकाशके "सूर्य्य" और "चन्द्रमा"को गहन लग जायगा। "तारे" भी खद्योतकी तरह निष्प्रभ हो टिमटिमाते दीख पड़ेंगे—

"अंधेर छा जायगा जहाँ में अगर यही रोशनी रहेगी।"

जिस कवित्तपर रीझकर राजा रघुनाथरावने 'पद्माकर' को लाखों रुपया दे डाला था, वह कवित्त क्या था? इस पुराने

संस्कृत पद्यका—जो महाराज भोजदेवकी प्रशंसामें किसी कविने कहा था—अनुवाद है—

"निजानपि गजान् भोजं, ददानं प्रेक्ष्य पार्वती।
गजेन्द्रवदनं पुत्रं, रक्षत्यद्य पुनः पुनः॥"

परन्तु पद्माकरने—

"संपति सुमेर की कुबेर की जु पावै ताहि
तुरत लुटावत विलम्ब उर धारै ना।
कहै—'पदमाकर' सुहेम हय हाथिन के
हलके हजारन के वितर विचारै ना॥
दीन्हे गज बकस महीप रघुनाथ राव
याहि गज-धोखे कहूँ काहू देइ डारै ना।
याही डर गिरिजा गजाननको गोय रही
गिरिते गरेते निज गोदते उतारै ना॥"

कवित्तके इस पिछले पदसे पहले संस्कृत-पद्यको दबा दिया है। "रक्षत्यद्य पुनः पुनः" को पुनःपुनः पढ़नेपर भी चित्तमें वह चमत्कार नहीं आता जो "गिरिते गरेते निज गोदते उतारै ना" को एक बार पढ़नेसे आजाता है। सादृश्य क्या स्पष्ट अनुवाद होनेपर भी इसमें वह नवीनतायुक्त चमत्कार है जिसकी ओर आनन्दवर्द्धनाचार्य्यने ऊपर इशारा किया है। ऐसे "सादृश्य" को कौन बुरा कहेगा? फिर विहारीके यहाँ जो सादृश्य है वह तो नितान्त सादृश्यरहित है।

सतसईके दोहे

"सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटे लगें घाव करें गम्भीर ॥"

जिन भावोंको अभिव्यक्त करनेके लिये प्राकृत कवियोंने गाथाछन्द, गोवर्द्धनाचार्य्य ने आर्याछन्द और अमरुकने शार्दूल-विक्रीडित जैसे बड़े बड़े छन्द पसन्द किये, उसी कामके लिये विहारीलालने दोहा जैसा छोटा छन्द चुना। विहारीकी मुश्किल-पसन्द तबीयत का इससे भी कुछ पता चलता है। लम्बे चौड़े छन्द-में कविको छलांगे भरनेकी स्वच्छन्दता रहती है। रस, अलङ्कार, ध्वनि और रीति आदिको यथास्थान बैठानेका यथेष्ट स्थान रहता है। पर दोहेकी छोटीसी डिबियामें इन सबको इकट्ठा करके भरना और उस दशामें भी इन सबका स्वरूप अक्षुण्ण रखना, सचमुच बड़े भारी 'करतबी' जादूगरका काम है।

दोहेकी प्रशंसामें रहीमकी यह उक्ति विहारीके दोहोंपर ही ठीक घटती है—

"दीरघ दोहा अर्थके, आखर थोरे आहिं।
ज्यों रहीम नट कुण्डली, समिटि कूदि कढ़ि जाहिं ॥"

छोटीसी संकुचित कुण्डलीके घेरेमें जिस तरह मोटा ताज़ा करतबी नट हाथ पांव समेट, शरीरको तोलकर साफ़ जाता है, इसी तरह ज़रासे दोहेकी कुण्डलीमें होकर अपने सब अवयवों समेत इतने गौरवशाली अर्थका सही सलामत विना उलझे निकल जाना, जितना कौतूहलोत्पादक है, उतनाही कठिन भी है। बड़े परिश्रमसे वर्षोंके अभ्याससे नटको यह कुण्डलीकी कला सिद्ध

होती है। दोहेमें कमाल पैदा करने की कला उससे भी कहीं कठिन है। कुल ४८ मात्राके छोटेसे छन्दमें इस ख़ूबी से इतना "मैटर" भर निकालना, सचमुच जादू है जादू।

विहारीके दोहोंपर समय समयपर बड़े बड़े बाकमाल लोगोंने "कुण्डलियाँ" और "कवित्त" गढ़नेका प्रयत्न किया है। पर किसीकी भी कला ठीक नहीं बैठी। ज़रासे दोहेमें जो अर्थ सिमटा बैठा था वह वहांसे निकलते ही इतना फैला कि कुण्ड-लियों और कवित्तों के बड़े मैदान में नहीं समा सका। मानो गंगाका समृद्धवेग प्रवाह है जो शिवजीकी लटोंसे निकलकर फिर किसीके क़ाबूमें नहीं आता। इन्जीनियर लाख कारस्तानी कर हारें पर भागीरथीके प्रवाहको किसी बड़ेसे बड़े गढ़ेमें भरकर रोक रखना, सामर्थ्यसे बाहरकी बात है–हो नहीं सकती, ऐसा हो नहीं सकता।

——::o::——

विवेचना-विनोद

दोहोंमें कविता और कवियोंने भी की है। विहारीसे पहले भी और उसके पश्चात् भी दोहा, कवियोंके "कविता-खेल चौगान" का मैदान रहा है। पर विहारीकी छायाको भी कोई खिलाड़ी नहीं पहुँच सका। विहारीसे पहले हिन्दी में 'तुलसीसतसई' और 'रहिमनसतसई' बन चुकी थीं और पीछे तो सतसइयों का ताँताही बँध गया। बड़े बड़े कवि ख़म ठोकक़र इस मैदानमें उतरे, पर सब ख़ाली डंड पेलकर और कोरी छाती कूटकर ही रहगये। इनमें से परवर्त्ती कवियोंकी सतसइयोंमेंसे किसी किसीकी प्रशंसामें कई

'उत्तमवादी' महानुभावोंने कह डाला है—"यह विहारीकी सतसईके समान है"—"किसीने तो यहां तक कहनेका साहस किया है कि "..............और..........दोहे तो ऐसे बढ़िया रचे हैं कि यदि वे विहारीके दोहोंमें मिला दिये जायँ तो विहारीके दोहे याद न रखने वाला उन्हें शायद पृथक् न करसके।"

'विवेचक' कहानेवालोंके मुँहसे ऐसी विवेचनाहीन बात सुनकर "विवेचना" बेचारी पनाह मांगती है! विहारीके दोहोंमें दोहे मिला दिये जायँ और वह न पहचान लिये जायँ! और पहचाने भी जायँ तो शर्त यह हो कि पहचाननेवालेको विहारीके दोहे कंठस्थ हों? अंगूरकी पिटारीमें शकरपारे मिला दिये जायँ और वह न पहचाने जायँ और पहचाने भी जायँ तो उस दशामें कि अंगूरोंके ऊपर अंगूरके नामकी चिट लगी हो! अंगूरोंकी संख्या कण्ठस्थ याद हो! पर इस बातकी तो "शायद" ज़रूरत नहीं होती, चक्षुष्मान् तो दूरसे देखकर ही बता सकता है कि ये अंगूर हैं, ये शकरपारे हैं। प्रज्ञाचक्षु भी छूकर नहीं तो चखकर पहचान सकता है।

कविताकी विवेचनामें ऐसा विनोद करना विवेचना बेचारीको बदनाम करना है। जिस विवेचकको भाषाविज्ञानका कुछ भी ज्ञान है, जिसने भिन्न भिन्न कवियोंकी कविता तुलनात्मक दृष्टिसे देखी है, जो कविताकी नब्ज़ पहचानता है, उसके छिपे इशारोंको समझता है, जो रीतिके मार्गमें आंख खोलकर थोड़ी दूर भी चला है, जिसने ध्वनिकी आवाज़ दिलके कानोंसे सुनी है और रसका स्वाद सहृदयताकी रसनासे चखा है, इस प्रकार जो 'भावक" कविताका "कैमिस्ट" (रसायनशास्त्री) है, उसे विहारीके दोहे कण्ठस्थ हों या न हों—हां, उसने उन्हें 'भावकता' की दृष्टिसे देखा

भर हो,—वह सैकड़ोंमें नहीं लाखोंमें पुकार उठेगा कि यह विहारी हैं, ये कोई और लोग हैं।

विहारीके अनुकरणमें जो सतसई बनी हैं, उनमें 'चन्दन-सतसई', तो हमारे देखनेमें आयी नहीं, पर उसके नमूनेके जो दो एक दोहे देखनेमें आये हैं, उनसे ही स्थालीपुलाक न्यायसे उसके रंग ढंगका कुछ अनुमान किया जा सकता है। बाक़ी "राम-सतसई"—(शृङ्गारसतसई) और "विक्रमसतसई" हमने देखी हैं और हम दिखावेंगे कि विहारी-सतसईके मुक़ाबलेमें ये कैसी कुछ हैं।

इन सतसइयोंके अतिरिक्त रसनिधि-कृत एक "रतनहज़ारा" और है जो विहारीके मुक़ाबलेमें ३सौकी संख्यामें अधिक है, और मोलमें तो नहीं पर तोलमें बेशक भारी है। उसकी बानगी भी देखिएगा।

"हमने सबका कलाम देखा है
है अदब शर्त मुँह न खुलवायें।
इनको उस नुक्तादांसे क्या निसबत
ख़ाकको आसमांसे क्या निसबत ॥"

सतसईका सौष्ठव

१—गाथासप्तशती और विहारीसतसई

सतसईका सौष्ठव दिखानेके लिये हम पहले 'गाथा-सप्तशती' और "आर्यासप्तशती" के पद्योंसे विहारीके दोहोंका मुक़ाबला करते हैं। इससे यह सिद्ध होनेके अतिरिक्त कि विहारीने अपनी सतसईकी रचना इन्हीं ग्रन्थोंको देखकर की है, यह भी सिद्ध होगा कि सादृश्य-रचनामें भी इन्होंने क्या कुछ विलक्षण करामात दिखायी है।

इस प्रकारके अनेक पद्य 'सतसई-संहार' और 'विहारीका विरहवर्णन' नामक प्रकरणोंमें भी प्रसंगवश उद्धृत हुए हैं। और भी बहुत हैं जो सतसई के भाष्यमें यथास्थान रक्खे गये हैं। यहां हम कतिपय अत्यन्तसादृश्यशाली पद्योंका ही उल्लेख करेंगे।

तुलनाके लिए सबसे पूर्व उसी दोहेके आदर्श पद्योंको लेते हैं, जो सतसईकी रचनाका मूल कारण बतलाया जाता है—

दोहा—"नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कलीहीतें बंध्यो, आगे कौन हवाल॥ ६३०॥

गाथा—"जाव ण कोसविकासं पावइ ईसीस मालईकलिआ।
मअरन्द-पाण-लोहिल्ल भमर तावच्चिअ मलेसि ५।४४॥"
(यावन्न कोषविकासं प्राप्नोतीषन्मालतीकलिका।
मकरन्दपानलोभयुक्त भ्रमर तावदेव मर्दयसि॥)

आर्या—"पिब मधुप ! बकुल-कलिकां, दूरे रसनाग्रमात्रमाधाय ।
अधरविलेपसमाप्ये मधुनि मुधा वदनमर्पयसि॥३६७॥"

पद्य—"अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग !
लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु ।
मुग्धामजातरजसं कलिकामकाले
व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः॥"

(विकटनितम्बा)

प्राकृत-गाथाकार, अविकसित अवस्थामें ही मालतीकलिकाको मर्दन करने वाले भौंरेके 'नदीदेपन' अधीरता या असमयज्ञता-पर चुटकी लेकर उसे लज्जित करना चाहता है ।

आर्याकार (गोवर्धनाचार्य) मालतीकलिका-मर्दनकारी भ्रमरको छोड़कर बकुल-कलिकाको कदर्थित करनेवाले भौंरेके पास पहुँचकर दूर खड़े उपदेश दे रहे हैं कि यों नहीं यों रसपान करो, नहीं तो कुछ पल्ले न पड़ेगा ।

श्रीमती विकटनितम्बादेवीका भ्रमरोपालम्भ इन दोनोंसे निराला है, साफ़ और विस्तृत है । वह भ्रमरको दूसरी जगह खिले चमनमें पेट भरकर जी बहलानेका उपदेश दे रहीं और नवमल्लिकाकी 'बाला' कलिकापर दयाभाव दिखला रही हैं ।

गाथाकारके परिहासोपदेशमें तटस्थताका भाव झलक रहा है । गोवर्धनाचार्यकी शिक्षामें गुरुगम्भीरता है । विकटनितम्बाके उपालम्भमें दौत्यभावकी ध्वनि है ।

इन सबकी अपेक्षा अपने भौंरेके लिये विहारीकी हितचिन्ता बहुत ही गम्भीर, मधुर और हृदयस्पर्शी है । न इसमें तटस्थताकी झलक है, न रसपानका प्रकारोपदेश है । न एक अनखिली कलीको छोड़कर खिली क्यारियों में खुल खेलने की छुट्टी है । वाह !

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कलीहीतैं बँध्यौ, आगे कौन हवाल॥"

विषयासक्त मित्रके भावी अनर्थकी चिन्तासे व्याकुल सुहृज्जनकी चिन्तोक्तिका क्या ही सुन्दर चित्र है। कहनेवालेकी एकान्त हितैषिता, परिणामदर्शिता, विषयासक्त मित्रके उद्धारकी गम्भीर चिन्ताके भाव इससे अच्छे ढंगपर किसी प्रकार प्रकट नहीं किये जा सकते।

इस दोहेका सुननेवालेपर प्रभाव एक ऐतिहासिक घटनासे सिद्ध है।

गाथाकारके उपहासका उसके भौंरेपर क्या प्रभाव पड़ा, उसने कलिकाका पिण्ड छोड़ा या नहीं, आर्याकारके उपदेशपर भौंरेने आचरण किया या सुनी अनसुनी करके रसका नाश ही कर दिया, सो तो कुछ मालूम नहीं, पर विहारीके दोहेने अपने मदान्ध भौंरेपर जो अद्भुत चमत्कार दिखाया, वह जगत्प्रसिद्ध है। जो काम राजनीतिधुरन्धर बड़े बड़े मन्त्रियों का मन्त्र न कर सका, वह विहारीने इस दोहेके जादूसे कर दिखाया। राजा मिर्जा जयसिंहको अन्तःपुरकी 'अनखिली कली'के बन्धनसे छुड़ाकर फिर सिंहासनपर सबके सामने लाकर आसीन कर दिया। कविताके असाधारण प्रभावका इससे अच्छा उदाहरण और क्या होगा!

एक नहीं अपनेसे पहले तीन महाकवियों द्वारा वर्णित भावमें इस प्रकार एक चमत्कारयुक्त नूतनता, एक निराला बांकपन पैदा कर देना 'विहारी'हीका काम है, और यह इसीका प्रताप है कि उल्लिखित आदर्श पद्योंके मुक़ाबलेमें इस दोहेने कहीं अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की है।

\+ + +

दोहा—तीज परब सौतिन सजे, भूषन बसन सरीर ।
सबै मरगजे मुँह करी, वहै मरगजे चीर ॥३२३॥

* * *

गाथा—हल्लफलह्लाणपसाहिआएँ छणवासरे सवत्तीणम् ।
अज्जाए मज्जणाणाअरेण कहिअं व सोहग्गम् ॥१।७६॥
(उत्साहतरलत्वस्नानप्रसाधितानां क्षणवासरे सपत्नीनाम् ।
आर्यया मज्जनानादरेण कथितमिव सौभाग्यम् ॥)

* * *

उत्सवके अवसरपर जब उसकी दूसरी सपत्नियां न्हाधोकर और सजधजकर अपने रूपको निखारकर और सौन्दर्यको चमकाकर अपनी मनोहरताका सिक्का बैठानेके लिये पूरे प्रयत्नसे तत्पर थीं। गाथाकी नायिकाने स्नानके अनादरसे अपने सौभाग्यकी (सिर्फ़) सूचना दी ।

पर सपत्नियोंपर उसके इस सौभाग्यगर्व की सूचनाका क्या प्रभाव पड़ा, सो किसीको मालूम नहीं हुआ । सम्भव है उन्होंने स्नानके अनादरका कारण उसकी शारीरिक अस्वस्थता, आलस्य, फूहड़पन या मान-कोपको समझकर इस पर ध्यान भी न दिया हो । अथवा और उलटी प्रसन्न हुई हों । या नायिकाने इसलिये ही स्नानकी उपेक्षा की हो कि उसे इस मुक़ाबलेकी परीक्षामें सफलताकी आशा ही न हो, इत्यादि अनेक कारण इस स्नाना-नादरके समझे जा सकते हैं ।

चाहे कुछ भी हो, पर यह स्नान न करनेकी बात कुछ अच्छी नहीं हुई, ऐसाभी क्या सौभाग्यगर्व, जो इस दशा-विशेषमें अवश्यकर्तव्य कर्म (स्नान) का भी अनादर करा दे, यह स्पष्ट ही अनौचित्य है। परन्तु विहारीके "*सबै मरगजे मुँह करी, वहै मरगजे चीर*" में कुछ और ही चमत्कार आगया है। बात वही है, वर्णन एक ही प्रसंगका है '*क्षणवासरे*'= *तीजपरब*—"*स्नान-प्रसाधितानाम्*"="*सजे भूषन बसन सरीर*"—"*सपत्नीनाम्*" ="*सौतिन*"—ये सब एक हैं। भाषामात्रका भेद है। पर '*मरगजे चीर*' ने दोहेको चमका दिया है। मरगजे चीरने सचमुच ही कमाल किया है, वहां सौभाग्यगर्विताके मरगजे चीरने (रति-मर्दित वस्त्रने) सपत्नियोंके मुंह मरगजे (मलिन) कर दिये, और यहां दोहेके 'मरगजे' पदने—"*गाथ मरगजे मुँह करी, यहै मरगजे चीर !*"

सपत्नियोंके मलिन मुँह होनेमें विवर्णता अनुभावसे ईर्ष्या-सञ्चारी व्यङ्ग्यका चमत्कार है और कवितामें अलक्ष्यसंक्रम-व्यङ्ग्य ध्वनिका ज़ोर है। वर्णनवैचित्रीके अतिरिक्त असंगति, विभावना, तुल्ययोगिता, आवृत्तिदीपक और लाटानुप्रासकी भर-मार है। अलंकारोंकी क्या खूब बहार है !

× × ×

दोहा—"*अज्यौं न आये सहज रंग, बिरह दूबरे गात।*
अब ही कहा चलाइयत, ललन चलनकी बात" ॥ (१३०)

❀ ❀ ❀

गाथा—'अज्जो दुक्करआरअ पुणो वि तन्तिं करेसि गमणस्स।
अज्ज वि ण होन्ति सरला वेणीअ तरङ्गिणो चिउरा ॥ (३। ७३)

(अव्वो दुष्करकारक, पुनरपि चिन्तां करोषि गमनस्य ।
अद्यापि न भवन्ति सरला वेण्यास्तरङ्गिण्श्चिकुराः ॥)

❀ ❀ ❀

गाथाका भाव है कि वाह तुम भी कोई अजीब हो, फिर तुम्हें जानेकी सूझी, यह क्या ग़ज़ब करने लगे हो, अभी तो वेणी बांधने से—(प्रवासविरहमें पतिव्रताके धर्मानुरोधके कारण)—गुलझट पड़े केश भी सुलझकर सीधे नहीं हो पाये।

निस्सन्देह गाथा अपने ढंगमें बहुत ही उत्कृष्ट है, गाथाकारने किसीको कुछ कहनेकी गुंजाइश नहीं छोड़ी, "*अद्यापि न भवन्ति सरलास्तराङ्गिण्श्चिकुराः*" बात बहुत ही साफ़ और सीधी है, पर तोभी चमत्कारसे ख़ाली नहीं, इसका बांकपन चित्तमें चुभताहै। बहुत ही मधुर भाव है।

पर विहारीलाल भी तो एकही "काइयाँ" * ठहरे! वह कब चूकनेवाले हैं, पहलू बदल कर मज़मूनको साफ़ ले ही तो उड़े!

"अज्यौं न आये सहज रंग, बिरहदूबरे गात"

वाह उस्ताद क्या कहने हैं! क्या सफ़ाई खेली है, काया ही पलट दी! कोई पहचान सकता है! वहां (गाथामें) केवल गुलझट पड़े केश ही थे यहां "विरहदूबरे गात" हैं।

केशोंमें सरलता आनेकी अपेक्षा "दूबरे गातमें" सहज रंगका वापस आना कहीं अधिक वाञ्छनीय और महत्त्वपूर्ण कार्य समझा जा सकता है, फिर "*अबहीं कहा चलाइयत ललन!*

---

* गुस्ताख़ी माफ़ हो, विहारीलालको और कई विचित्र उपाधियोंके साथ "काइयांपन" की उपाधि मिश्रवन्धुओंके "फुलबैंच" से मिली है। आर्डर हुआ है—"काइयांपनमें यह कवि शायद सबसे बढ़ा हुआ है॥"

(मिश्रवन्धुविनोद, प्रथम भाग, विहारीकाल, पृष्ठ १३१)

चलनकी बात" में कितना माधुर्य है। छेकानुप्रास कितना अच्छा है।

काव्यमीमांसाकार राजशेखरजीके सामने यदि यह गाथा और दोहा रखे जाते तो न जाने इस "अपहरण" का वह कोई नया नाम रखते, या अपने कल्पित अपहरण-भेदोंमें कहीं इसे खपाते! हम समझते हैं "तुल्यदेहितुल्य" का यह उत्तम उदाहरण हो सकता है, जो ध्वनिकारके मतसे सर्वथा उपादेय है।

× × ×

दोहा —अनियारे दीरघ दृगनि, किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू, जिहि बस होत सुजान ॥६७१॥

❋ ❋ ❋

गाथा—अण्णाणं वि होन्ति मुहे पम्हलधवलाइँ दीहकसणाइं।
णअणाइँ सुन्दरीणं तह वि हु दट्ठुं ण जाणन्ति ॥ (५।७०)
(अन्यासामपि भवन्ति मुखे पक्ष्मलधवलानि दीर्घकृष्णानि।
नयनानि सुन्दरीणां तथापि खलु द्रष्टुं न जानन्ति)

❋ ❋ ❋

गाथाका भाव है—और सुन्दरियोंके चेहरोंपर भी घनी पलकोंवाली—श्वेत श्याम रंगकी, बड़ी बड़ी आंखें हैं, तोभी देखना नहीं जानतीं (इतनी कसर है!)—गाथाकारने नेत्रोंका "नखसिख" लिखनेमें कोई कसर छोड़ी नहीं "पक्ष्मल" "धवल" 'कृष्ण' 'दीर्घ' सब कुछ है, फिर 'सुन्दरियोंके' सहारे उनमें और भी बल आ गया है। इतनेपर भी देखना न जानें तो दुर्भाग्य उनका! यहां "द्रष्टुं न जानन्ति" की असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य-ध्वनिने गाथाके चमत्कारपर कुछ भारी सा पर्दा डाल दिया है।

देखना नहीं जानतीं, क्यों ? कोई विचित्र बीमारी तो नहीं है ? कहीं चित्रलिखित आंखें तो नहीं हैं ?

पर वाहजी विहारीलाल ! धन्य तुम्हारी प्रतिभा !

"यह प्रतिभा औरै कछू, जिहि बस होत सुजान।"

बात वही है, पर देखिये तो आलम ही निराला है। क्या तानकर 'शब्दवेधी' नावकका तीर मारा है ! लुटाही दिया ! एक * "*अनियारे*" पनने धवल, कृष्ण, पक्ष्मल, सबको एक अनीकी नोकमें बींधकर एक ओर रख दिया ! और वाह रे "*चितवन*" तुम्हारी चितवनकी ताब भला कौन ला सकता है ! फिर 'सुन्दरी' और 'तरुणि' में भी कहते हैं कुछ भेद है। एक (सुन्दरी) वशीकरणका ख़ज़ाना है तो दूसरी (तरुणि) खान है। और तो "*सुजान*" फिर कविताकी जान ही ठहरा। इस एक पदपर तो एड़ीसे चोटीतक सारी गाथा ही कुर्बान है।

"वह चितवन औरै कछू, जिहिबस होत सुजान॥"

लोहेकी यह जड़ लेखनी इसकी भला क्या दाद देगी ! भावक सहृदयोंके वे हृदय ही कुछ इसकी दाद देंगे जो इसकी चोटसे पड़े तड़पते होंगे !

यह दोहा 'अप्रस्तुतप्रशंसा' या समासोक्तिके रूपमें कविकी कवितापर भी पूर्णतया संघटित होता है, और आश्चर्य नहीं—औचित्य चाहता है कि ऐसा हो—यह कविने अपनी कविताकी ओर इशारा किया है। अनेक सतसइयों को सामने रखकर विहारीसतसई देखने,पर इस "व्यतिरेक" और "भेदकातिशयोक्ति"-की हृदयङ्गम यथार्थता समझमें आ सकती है।

× × ×

* अनियारा—नोकीला—अनीदार।

दोहा—"यौं दल मलियत निरदई, दई कुसुम से गात।
कर धर देखो धरधरा, अजौं न उरको जात॥" २२८॥

❀ ❀ ❀

गाथा—"सहइ सहइ त्ति तह तेण रमिआ सुरअदुव्विअड्ढेण।
पम्माअसिरीसाइं व जह से जाआइँ अङ्गाइं॥" १५६॥
(सहते सहत इति तथा तेन रमिता सुरतदुर्विदग्धेन।
प्रम्लानशिरीषाणीव यथास्या जातान्यङ्गानि॥)

❀ ❀ ❀

कवित्त—"सुखदै सखीन बीच दैकै सौहें खायकै
खवाइ कछू खाय बस कीनी बरबसु है।
कोमल मृणालिकासी मल्लिकाकी मालिकासी
बालिका जु डारी मीँड़ मानस कै पसु है।
जानै ना बिभात भयो "केसव" सुनै को बात
देखो आनि गात जात भयो कैधौं असु है।
चित्रसी जु राखी वह चित्रणी विचित्र गति,
देखौ धौं न ये रसिक यामें कौन रसु है॥
(केशवदास-रसिकप्रिया)

❀ ❀ ❀

ये तीनों पद्य—१-प्राकृत गाथा, २-केशवदासजीका कवित्त और ३-विहारीलालजी का यह दोहा—एक ही दुर्घटनाकी मुख्तलिफ़ रिपोर्टें हैं।

गाथामें 'दुर्विदग्ध' और 'शिरीष' ये दो पद ज़रा जानदार हैं, मामूलीसी मज़ाक़िया फटकार है।

कवित्तमें मामला बहुत बढ़ा चढ़ाकर बयान किया गया है। मीठी फटकारसे गाली गलौजतक—'दुर्विदग्ध' से 'पशु'-

तककी—नौबत पहुँच गयी है। "जात भयो कैधौं असु है" यह प्राणघातक आक्रमणके अपराधका स्पष्ट आरोप है। मामला बहुत ही संगीन हो गया है, सुनकर भय लगता है। "देखौ धौं नये रसिक या में कौन रसु है" बेशक इसमें सचमुच रस नहीं है, हँसीमें हत्या हो गयी, रस-भङ्ग हो गया, मज़ा किरकिरा होगया।

विहारीलालने इन दोनोंसे निराले ढंगपर इस घटनाका उल्लेख किया है। न इसमें गाथाके तुल्य राह चलते तटस्थकी सी रिपोर्टका रंग है, न कवित्तके समान तेज़मिज़ाज और बदज़बान दारोग़ा-पुलिसकी सी धमकियोंका ढंग। सुनिए, कितनी प्रेमपूर्ण मधुर भर्त्सना है—

"यों दल मलियत निरदई, दई कुसुमसे गात"

"दुर्विदग्ध" और "पशु" इन दोनोंकी अपेक्षा दोहेके 'निरदई' पदमें जो औचित्य है, वह सहृदयोंसे छिपा नहीं है। कवित्तके "देखौ आनि गाति जात भयो कैधौं असु है" में हृदय-को कँपादेनेवाली कितनी भयानकता है। और दोहेके—

"कर धर देखो धरधरा, अजों न उर को जात"में कितनी विदग्धता भरी है। कुछ ठिकाना है!

इस प्रकार विहारीलालजी इस मैदानमें गाथाकार और केशवदास दोनोंसे बहुत आगे बढ़ गये हैं। क्या अच्छा 'संस्कार' किया है, मज़मून छीन लिया है।

\+ \+ \+

दोहा—*"बामबाहु फरकत मिलै, जो हरि जीवनमूरि।*
तौ तोहीसों भेटिहौं, राखि दाहिनी दूरि ॥" १४२॥

गाथा—"फुरिए वामच्छि तुए जइ एहिइ सो पिश्रोज्ज ता सुइरम्।
संमीलिश्र दाहिणश्रँ तुइ श्रवि एहं पलोइस्सम्॥ २। ३७॥
(स्फुरिते वामाक्षि त्वयि यद्येष्यति स प्रियोऽद्य तत्सुचिरम्।
संम्मील्य दक्षिणं त्वयैवैतं प्रेक्षिष्ये)

* * *

आर्या—"प्रणमति पश्यति चुम्बति संश्लिष्यति पुलकमुकुलितैरङ्गैः।
प्रियसङ्गमाय स्फुरितां वियोगिनी वामबाहुलताम्" ॥ ३४७ ॥

* * *

श्लोक—येनैव सूचितनवाभ्युदयप्रसंगा
मीनाहतिस्फुटिततामरसोपमेन।
अन्यं निमील्य नयनं मुदितैव राधा
वामेन तेन नयनेन ददर्श कृष्णम्॥

(पद्यावली, हरकवि)

पुरुषके दहिने और स्त्रीके बायें अंगका फरकना शकुनशास्त्रमें शुभसूचक माना गया है। इस तत्त्वपर गाथाकी वियोगिनी अपनी फरकती हुई बाईं आंख से कहती है कि तेरे फरकनेकी शुभसूचनापर यदि मेरा प्रिय आज आगया, तो दहिनी आंखको मूंदकर मैं तुझसे ही उसे देखूंगी। ख़ुशख़बरी लानेवालेको इनाम देनेका रिवाज है। सो प्रियके आगमकी शुभसूचना देनेवाली आंखको इससे अच्छा इनाम और क्या हो सकता है कि प्रियके दर्शनका पहला आनन्द वही पेट भरकर लूटे, और उसकी सपत्नी—दूसरी आंख—उससे वञ्चित रहे। सचमुच बड़ाही औचित्यपूर्ण पुरस्कार है, बहुत बढ़िया इनाम है।

जिस इनामके देने का यहां गाथामें, वादा किया गया है, वही इनाम पद्यावलीके उल्लिखित पद्यमें दिलाया गया है।

श्रीकृष्णके आनेपर राधाजीने दहिनी आंखको मूंदकर उसी बाईं से—जिसने फरककर उनके आनेकी पहले कभी सूचना दी थी—उन्हें देखा है। यहां (पद्यावलीके पद्यमें) पहिले शुभसूचनाके अवसरपर पुरस्कारप्रदानकी प्रतिज्ञा नहीं की गयी थी, शायद राधाजीको अपनी आंखकी शुभ सूचनाके परिणामकी सत्यतापर कुछ सन्देह रहा हो !

विहारीने वैसेही पुरस्कारप्रदानकी घोषणा 'बामबाहु' के लिये करायी है, क्योंकि यहां शुभसूचना उसी ने दी है। यहां भी पुरस्कार बहुत उचित है। जैसा जिसका काम उसे वैसाही इनाम। आंखने प्रियदर्शन-प्राप्तिकी सूचना दी थी, उसे वैसा ही इनाम देवे कहा गया। वामबाहु प्रियसमागमकी शुभसूचना दे रही है, सो इसके लिये इनाम भी वैसाही बढ़िया तजवीज़ा गया है—

"तौ तोहीसों भेटिहौं, राखि दाहिनी दूरि।"

कितनी मनोहर रचना है, कितना मधुर 'परिपाक' है। इन शब्दोंमें जितना जादू भरा है. उतना और कहीं है ? और "*जो हरि जीवनमूरि*"ने तो बस जान ही डाल दी है, इस एक पदपर ही प्राकृत गाथा और पद्यावलीका पद्य, दोनों एक साथ क़ुर्बान करदेने लायक़ हैं।

हां, इस झमेलेमें गोवर्धनाचार्यजी तो रह ही गये। उनकी भी ज़रा सुन लीजिये। वह कुछ और ढंगसे इस बातको कहते हैं। उन्होंने इस भावको "कारकदीपक" के प्रकाशसे चमकाया है। और पेशगी इनाम दिला देनेकी उदारता दिखलायी है। कहते हैं प्रियसंगमके लिये फरकती हुई वामबाहुको वियोगिनी प्रणाम करती है, आदरकी दृष्टिसे देखती है, चूमती है और हर्षपुलकित अंगोंसे उसे आलिंगन करती है। इस वियगिनीको अपनी बामबहुके

जा सकता, प्रत्युत जान बूझकर मज़मूनोंकी टक्कर लड़ाई गयी ज्ञान पड़ती है। इसके भी कुछ नमूने देखिए—

दोहा—"*छ्वै छिगुनी पहुँचो गिलत अतिदीनता दिखाय।*
बलि बामन कौ ब्यौंत सुनि को बलि तुम्हैं पत्याय॥२२५॥

आर्या—"निहितार्धलोचनायास्त्वं तस्या हरसि हृदयपर्यन्तम्।
न सुभग समुचितमीदृशमङ्गुलिदाने भुजं गिलसि"॥३३६॥

❀ ❀ ❀ ❀

आर्याका भाव है—आधी नज़रसे कहीं तुम्हें उसने देखभर लिया है, इतनेपर ही तुम उसके हृदयतकपर क़ब्ज़ा करना चाहते हो? सुभग! यह ठीक नहीं है। उंगली पकड़कर पहुंचा पकड़ते हो!

यही भाव दोहेमें भी है, पर बहुत जँचा तुला और इससे कहीं बढ़ा चढ़ा। "*अंगुलिदाने भुजं गिलसि*" और "*छ्वै छिगुनी पहुंचौ गिलत*"—बराबरकी मुहावरेबन्दी है। पर दोहेमें मुहावरा ख़ूब चुस्त बँधा है। आर्यामें सिर्फ़ यही "*अंगुलिदाने भुजं गिलसि*" पद चमत्कृत है, और ऐसा मालूम होता है इसे बांधनेको ही ऊपरकी चारदीवारी कविने खींची है। विहारीलाल इस भावको दोहेमें ले उड़े हैं। 'वामन'जीकी कृपासे दोहा आकाशमें जा पहुंचा है और 'आर्या' बेचारी 'बलि' बनकर पातालमें पहुंच गयी है। दोहेमें "*अति दीनता दिखाय*" पद भी बड़ा ही चमत्कारक है। इसने वामनजीकी करतूतको और अच्छी तरह चमका दिया है। आर्याके नायक नायिका कोई साधारण व्यक्ति हैं, इसलिये वहां "*अंगुलिदाने भुजं गिलसि*" में कोई असाधारण चमत्कार नहीं आने पाया।

पर विहारीने साक्षात् वामनावतार श्रीकृष्णके सम्बन्धमें "बलि-बामनको ब्यौंत सुनि को बलि तुम्हैं पत्याय" कहकर कितना अनुरूप दृष्टान्त दिया है, कितनी पतेकी बात कही है। इसमें कितना असाधारण चमत्कार आ गया है। यदि आज कहीं जयदेवजी महाराज मिलते तो उन्हें यह कविता सुनाकर पूछते कि कहिए कैसी रही, आप अपने इस दावे को अब वापस लीजिए कि—

"शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन-
स्पर्द्धी कोपि न विश्रुतः ॥"

और अधिक नहीं तो इतना ही कह दीजिए—

"शृंगारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन—
स्पर्धी कोपि विराजतेऽत्र भुवने हिन्द्यां विहारी कविः ॥"

कृष्णकविकी टीकामें इस दोहेपर "सेनापति" का एक लम्बा चौड़ा कवित्त लिखा है। उसे भी ज़रा सुन लीजिए, और देखिए सेनापतिजीने कवित्तके इतने बड़े मैदान में क्या बहादुरी दिखलायी है, इतनी बड़ी मोर्चेबन्दी में भी मज़मूनको इस ख़ूबसूरतीसे न घेर पाये, विहारीने छोटेसे 'नावकके' तीरसे जो काम कर दिखाया, सेनापतिकी इतनी भारी तोपसे भी वह इस ख़ूबीसे न हुआ—

कवित्त—"झूठ काज को बनाय मिसही सो घर आय
"सेनापति" स्याम बतियानि उच (च) रत हैं,
आयकै समीप कर हँसी सुसियानही‡ सो
हँसि हँसि बातनहि बाँहको धरत हैं।

‡सुसियाना = सुसी करना। 'खिलन्दरी करना।' (आजकल यह मुहावरा कुत्ते, बिल्ली आदि पशुओंकी परस्पर-क्रीड़ाके लिये व्यवहृत है)

मैं तो सब रावरेकी बात जियमेंकी जानि
जाके परपंच येते हमसो करत हैं,
कहां ऐसी चतुराई पढ़ी आप यदुराई
अँगुरी पकरि पहुंचेको पकरत हैं ॥"

\+ \+ \+

दोहा—"*स्वारथ सुकृत न श्रम बृथा, देख विहंग विचार ।*
बाज ! पराये पानिपर तू पंछी हि न मार ॥" ६३६

आर्या—"आयासः परहिंसा वैतंसिकसारमेय ! तव सारः ।
त्वामपसार्य विभाज्यः कुरङ्ग एषोऽधुनैवान्यैः ॥"१००॥

आर्याका अभिप्राय है—ओ शिकारीके कुत्ते ! इस शिकारमें परिश्रम और परायी हिंसा, सिर्फ़ यही तेरे हिस्सेमें है। इस हरिणको—जिसे तू मार रहा है—अभी तुझे दूर हटाकर और लोग बांट लेंगे, फिर तू व्यर्थ क्यों दूसरेको मारकर पापका भागी बनता है।

दुष्ट स्वामीके इशारेपर अनर्थ करने वाले सेवकको अन्योक्तिद्वारा उपदेश है, और सचमुच बड़ा सुन्दर उपदेश है। श्ववृत्तिपरायण सेवकको कुत्ते—(चाकर कूकर एक सम) की अन्योक्तिसे उपदेश देना अत्यन्त औचित्यपूर्ण है। आर्यामें '*सारमेय*' शब्द भी विशेष अभिप्रायगर्भित है—(सप्तशतीके टीकाकार अनन्त पण्डितने आश्चर्य है इस पदकी व्याख्यामें "व्यज्यते" 'ध्वन्यते' कुछ भी न लिखा ! केवल "सारमेय कुक्कुर" कहकर ही छोड़ दिया है !)—कुत्तेको सारमेय शब्दसे सम्बोधन करनेमें यहां विशेष भाव है। "सारमेय" का अर्थ है सरमा—(देवशुनी)—की सन्तान, (सरमाया अपत्यं सार-

मेयः, वैनतेय इतिवत्) इस प्रकार यह कुरंगघातक कुक्कुरकी कुलीनताकी ओर इशारा है। अर्थात् सरमा देवशुनीकी सन्तान होकर तू ऐसे अनर्थ और अविवेकका काम करता है! धिक्कार है तुझे। किसीको किसी बुरे कामसे हटानेके लिये उसकी कुलीनताकी दुहाई देना, पुरुषाओंके नामपर अपील करना बहुत प्रभावोत्पादक प्रकार है। इस अन्योक्तिका प्रतीयमान अर्थ है कोई अनर्थकारी कुलीन सेवक। इस प्रकार यह आर्या एक अच्छी उत्कृष्ट कविता है।

अब इसके मुक़ाबलेमें अपने बिहारीका भी रंग देखिए, यहां भी यह साफ़ मज़मून ले उड़े हैं।

कुत्ता आख़िर परमुखापेक्षी कुत्ता ही है। टुकड़ेके लालचसे उससे चाहे जो कुछ करालो—शिकार पकड़वालो या भेड़ोंकी रखवाली करालो—वह स्वामीका द्वार छोड़कर कहां जाय! इसलिये उसका यह अनर्थ कार्य इतना आश्चर्यप्रद या खेदजनक नहीं, प्रत्युत क्षन्तव्य हो सकता है।

परन्तु व्योमैकान्तविहारी स्वच्छन्दचारी 'बाज' विहङ्गका पराये 'पाणि' (हाथ) पर बैठकर पंछी मारना, अत्यन्त अविवेकपूर्ण, आश्चर्यजनक और नितान्त निन्दनीय कर्म है। इसलिये बाज़को इससे ज़रूरही बाज़ रहना चाहिए।

"सारमेय" शब्दके समान यहाँ भी "विहंग" पद साभिप्राय है—(विहायसा गच्छतीति विहंगः)—जिसकी गति अनन्त आकाशमें है, जो सब जगह घूम फिरकर पेट भर सकता है, वह इस प्रकार दूसरेका वशवर्ती बनकर अनर्थ करे, इससे बुरी बात और क्या होगी।

आर्याकी अन्योक्तिका लक्ष्य कुलीन सेवक है, तो दोहे की अन्योक्तिका लक्ष्य कोई सर्वत्रगति, पर अनर्थकारी गुणवान्

मुसाहब है। फिर उपदेश भी कितने मधुर शब्दोंमें कितने अच्छे ढंगसे दिया है—

"स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा देख विहंग विचार"

सो अब सहृदय विद्वान् विचार देखें, दोहा आर्यासे बढ़गया है या नहीं ? कुत्ते और बाज़में भूमि और आकाशका अन्तर है कि नहीं !!

——::०::——

दोहा—नेक उतै उठ बैठिये कहा रहे गहि गेहु।
छुटी जात नहँदी छनक महँदी सूखन देहु ॥३७५॥

आर्या—"सुभग व्यजनविचालनशिथिलभुजाभूदियं वयस्यापि।
उद्वर्तनं न सख्याः समाप्यते किञ्चिदपगच्छ ॥६६०॥"

❀ ❀ ❀

आर्याकी सखी सुभग सजनसे कह रही है कि ज़ोर ज़ोरसे जल्दी जल्दी पंखा झलते झलते, इस सखीके हाथ भी रह गये, सात्त्विक प्रस्वेदसे नायिका पसीना पसीना हो रही है, इससे सखीका 'उद्वर्त्तन' (उबटन मलना) समाप्त होनेमें नहीं आता, कुछ हटकर बैठो। तुम्हारे सामीप्य से सात्त्विक स्वेदके रूपमें प्रेमका प्रवाह वह रहा है, ज़रा हटके बैठो तो पसीना सूखे, तब उबटन मला जा सके।

यही प्रसंग दोहेमें बँधा है, पर वहां 'उद्वर्त्तन' नहीं हो रहा, महँदी लग रही है, वह भी नाखूनोंपर, सो सात्त्विक पसीनेसे छुटी जाती है, सूखने नहीं पाती। इसलिये कहा जा रहा है कि "नेक उतै उठ बैठिये, कहा रहे गहि गेहु"लोकोक्ति क्या खूब है। क्यों मकानके पीछे पड़े हो ? तुमने तो मकानको ऐसा पकड़ा है, कि

छोड़ते ही नहीं,—"*किंचिदपगच्छ*" और "*नेक उतै उठ बैठिये*" का मतलब एक है, पर दोहेमें मुहावरेका ज़ोर ज़्यादह है। इसके अतिरिक्त आर्याका भाव कुछ उद्वेगजनक है। सखीसमूह में—एक तो यह कह रही है, एक पंखा झल रही है, दो एक उद्वर्तनमें लगी होंगी—फिर उद्वर्तनके समयमें भी नायकका वहीं 'ढई मारकर' डटे रहना अत्यन्त अनुचित और परम स्त्रैणताका द्योतक है। इसपर भी "किञ्चिदपगच्छ" ही कहा जा रहा है। इस गुस्ताख़ीपर मकान छोड़कर एकदम बाहर जानेका 'स्ट्रिक्ट आर्डर' नहीं दिया जाता !

इधर दोहेमें 'महँदी'ने 'उद्वर्तन'का अनौचित्य दूर कर दिया। दोनोंमें बहुत अन्तर होगया। इस प्रसंगमें सखीसमाजकी सत्ताका पता भी नहीं चलता। "नेक उतै उठ बैठिये कहा रहे गहि गेहु" इस उक्तिमें कितना माधुर्य है। बिव्वोकहावयुक्त प्रेमकी मधुर भर्त्सनाका कैसा सजीव चित्र है !

यदि काकु और विपरीत लक्षणाके बलसे इसे दूसरी ओर लेजायँ तो भी एक चमत्कार है, जो आर्यामें नहीं है। फिर अनुप्रासोंके आधिक्यने दोहेको कितना श्रुतिमधुर बना दिया है। आर्यामें भी अनुप्रास है सही, पर इतना और ऐसा कहाँ !

——::०::——

दोहा—मोरचन्द्रिका स्यामसिर, चढ़ि कत करत गुमान।
लखबी पायनि पर लुठति, सुनियत राधा मान॥६२८॥

× × ×

आर्या–मधुमथनमौलिमाले सखि तुलयसि तुलसि किं मुधा राधाम्।
यत्तव पदमदसीयं सुरभयितुं सौरभोद्भेदः ॥ ४३१ ॥

"शंकरशिरसि निवेशितपदेति मा गर्वमुद्वहेन्दुकले !
फलमेतस्य भविष्यति चण्डीचरणरेणुमृजा ॥५७८॥"

× × ×

दोनों आर्याएँ एक ही भावकी हैं, उक्तिवैचित्र्यका भेद है। पहलीमें, श्रीकृष्णकी मौलिमाला बनी हुई तुलसीसे कोई कह रही है कि तुलसी ! तू कृष्णके सिरपर चढ़नेके कारण, राधाके सौभाग्यकी तुलना न कर, तेरी यह सारी सुगन्धमहिमा राधाके चरणोंको सुगन्धित करनेके लिये है। मानिनी राधाजीके चरणोंपर सिर रखकर श्रीकृष्ण जब उसे मनावेंगे, तब तेरी यह सिर चढ़नेकी सारी शेख़ी किरकिरी हो जायगी।

दूसरी में, शिवशिरस्थ चन्द्र-कलाको यही बात कोई कह रही है कि यह समझकर कि मैं शिवजीके सिरपर सवार हूं—सिर चढ़ी हूं—मत फूल, इसका फल यह होगा कि तुझे चण्डीके (पार्वतीके) चरणोंकी रेणु साफ़ करनी पड़ेगी।

विहारीलालने इन्हीं दोनों आर्याओंकी छायापर अपने दोहेकी रचना की है। गोपवेष विष्णु (श्रीकृष्ण)के सम्बन्धमें "मोरचन्द्रिका" ही कुछ सुहावनी प्रतीत होती है। राधाकृष्णके समय तुलसीकी पुरानी कथामें इतना स्वारस्य और औचित्य नहीं है, जितना इस 'मोरचन्द्रिका'में चमत्कार है। इसके प्रतापसे विहारीलाल 'अपहरण'के अपराधसे साफ़ बच गये। बात ही कुछ और हो गयी, नक़्शा ही बदल गया।

आर्याएं बेचारी सप्तशती की गुफासे वाहर न निकलीं, और विहारीका यह दोहा सब जगह लोगोंकी ज़बानपर चढ़ा चक्कर लगा रहा है ! "यशःपुण्यैरवाप्यते"।

दोहा—*फिर फिर चित उतही रहत टुटी लाजकी लाव ।*
अंग अंग छवि झौरमें भयो भौंरकी नाव ॥२८१॥

*　　*　　*

आर्या—भ्रामं भ्रामं स्थितया स्नेहे तव पयसि तत्र तत्रैव ।
आवर्तपतित-नौकायितमनया विनयमपनीय ॥४२२॥

×　　×　　×

आर्याकारने स्नेह-जलमें धँसी हुई नायिकाको भँवरमें फँसी हुई नौका ठहराया है, जो विनय को—प्रतीयमान सखी आदिके प्रयत्नको—दूर करके, किसीके समझाने बुझानेकी परवा न करके, हिर फिरके वहीं—स्नेह जलमें—स्थित है ।

उक्ति अपूर्व है, पर रूपक पूरी तरह बँधा नहीं ।यद्यपि "*स्नेहे पयसि*" है, '*भ्रामं भ्रामं*' है, '*विनयमपनीय*' भी है। पर वह बात नहीं, जो दोहेमें है । '*विनयमपनीय*'की जगह विहारी-लालने '*टुटी लाजकी लाव*' बनाकर रूपकका रूप अधिक स्पष्टकर दिया है । आर्यामें आवर्त्त 'अर्थोपात्त' है प्रकृतमें भँवर स्थानीय कोई चीज़ नहीं कही गयी । दोहेके रूपकमें "*अंग अंग-छवि झौर*" बहुत चमत्कृत और चक्करदार भँवर आ पड़ा है । लाजकी मज़बूत लाव भी टूट गयी । अब उसमेंसे चित्त-रूप नौकाका निकलना नितान्त कठिन है, असम्भव है । और फिर इस नावके (चित्तके) नाविकका स्पष्ट उल्लेख न करके कविने और भी कमाल किया है । चाहे 'अनया' समझिए, या 'अनेन', अथवा—"अस्याः" या "अस्य" ।

आर्यामें नायिकाको नौका बनाया है, और दोहेमें चित्तको नाव ठहराया है, चित्तको नाव कहना एक प्रकारसे औचित्यपूर्ण है । उर्दूके कवियोंने भी 'किश्तिए-दिल' के मज़मून बांधे हैं—

"किश्तिए-दिलकी इलाही बहरे-हस्तीमें हो ख़ैर।
नाख़ुदा मिलते हैं लेकिन बाख़ुदा मिलता नहीं॥" *
(अकबर)

× × ×

दोहा—सबही तन समुहाति छिन चलत सबन दै पीठ।
वाही तन ठहराति यह किबलनुमा लौं दीठ ॥५६॥

❀ ❀ ❀

आर्या—"एकैकशो युवजनं विलङ्घमानाच्चनिकरमिव बाला।
विश्रामयति सुभग त्वामङ्गुलिरासाद्य मेरुमिव ॥१४४॥

❀ ❀ ❀

निहितान्निहितानुज्झति नियतं मम पार्थिवानपि प्रेम।
भ्रामं भ्रामं तिष्ठति तत्रैव कुलालचक्रमिव ॥ ३१८ ॥

❀ ❀ ❀

एक ही बातके लिये गोवर्धनाचार्यजीको दो जगह हैरान होना पड़ा है, तोभी पूर्णरूपसे अर्थसिद्धि नहीं हुई, और विहारीलालने अपने एक ही तीरमें निशाना मार लिया है।

पक्का प्रेम जो एक जगह जम जाता है, उसे कितना ही हिलाया डुलाया जाय, वह हिरफिरके वहीं आकर ठहरता है। इस बातको गोवर्धनाचार्यने दो प्रकारसे निरूपण किया है, एक 'अंगुलि' और 'मेरु'की उपमासे, दूसरे कुलालचक्रके दृष्टान्तसे। पहली आर्याका भाव है—सुभग! वह बाला एक एक युवकको लांघती (छोड़ती) हुई तुझपर ही आकर ठहरती है, जैसे जप करते समय उंगली, मालाके सब दानों से उतरती हुई सुमेरु—(मालाके

* बहरे-हस्ती=संसार-समुद्र। नाख़ुदा=मल्लाह और ईश्वर-विमुख, नास्तिक। बाख़ुदा=आस्तिक—ईश्वरभक्त।

बड़े दाने) पर जाकर रुक जाती है। "*मेरोरुल्लंघनं न कार्यमिति जापकसम्प्रदायः*"—जप करते समय सुमेरुके दाने का उल्लंघन न करना चाहिए, अर्थात् उससे आगे उंगली न बढ़ानी चाहिए, वहीं रोक देनी चाहिए, ऐसा जापक भक्तोंका नियम है।

दूसरी आर्याका भाव है कि कुम्हारके चाककी तरह मेरा प्रेम ऊपर लादे हुए पार्थिवोंको—(मिट्टीके घड़े आदि बरतनोंको, पक्षमें राजाओंको)—भी पटक कर घूमघाम कर वहीं आकर ठहरता है।

इसी भावको प्रकट करनेके लिये विहारीलालने ऊपरके दोहेमें "क़िबलेनुमा"* की नयी और फड़कती हुई अत्यन्त अनुरूप उपमासे निराला चमत्कार उत्पन्न कर दिया है।

जापक-सम्प्रदायको न जानने या न माननेवाली कोई उंगली, मेरु-मणिका उल्लङ्घन चाहे कर जाय, पर क़िबलेनुमाकी चिड़िया, या सुई, अपनी कशिशकी जगह छोड़कर दूसरी जगह ठहर ही नहीं सकती। और कुम्हारका चाक तो इसके सामने निरी मिट्टी है ही, वह जहां रख दिया है "तत्रैव तिष्ठति"। गतिशून्य, लक्ष्य-रहित, भारी जड़ पदार्थ "*तत्रैव न तिष्ठेत् क्व नु गच्छेत्, इति पृच्छयन्तामाचार्यगोवर्द्धनाः!*"

"निहितान् निहितानुज्झति"की अपेक्षा "चलत सबन दै पीठ" में बहुत ही औचित्य है।

विहारीकी इस क़िबलेनुमाकी उपमाको 'रसनिधि'ने भी अपने "रतन-हजारा" में रखा है—

---

* 'क़िबलेनुमा'की विशेष व्याख्या दूसरे भागमें इसी दोहेके भाष्यमें देखिये।

"अपनौ सो इन पै जितौ लाज चलावत जोर ।
किबलनुमा लौं दृग रहैं निरख मीत की ओर ॥"

परन्तु इसमें और उसमें इतना ही फ़र्क़ है, जितना असलमें और नक़ल में होता है ।

× × ×

दोहा—"*कंज-नयनि मंजन किये बैठी ब्यौराति बार ।*
कच अंगुरिन बिच दीठि दै चितवति नन्दकुमार ॥६०॥

× × ×

आर्या—"चिकुरविसारणतिर्यङ्नतकण्ठी विमुखवृत्तिरपि बाला ।
त्वामियमङ्गुलिकल्पितकचावकाशा विलोकयति ॥२३१॥

× × ×

ये दोनों एक ही दृश्यके चित्र हैं । आर्या-चित्रमें कोई किसीसे कहती है कि—केश सँवारनेमें गर्दन तिरछी झुकाए, पीठ फेरे हुए भी यह उँगलियोंसे केशोंके बीचमें देखनेका मार्ग बनाकर, देखो, तुम्हें देख रही है ।

"*चिकुरविसारण*"=(केशपरिष्करण) और "*ब्यौरति बार*" "*अंगुलिकाल्पितकचावकाशा*" और="*कच अंगुरिन बिच दीठि दै*" —"*विलोकयति*" और="*चितवति*" दोनों जगह एक हैं । पर "*नन्दकुमारकी*" कृपासे विहारीका चित्र अमूल्य हो गया है । सहृदय भावकोंकी दृष्टि बलात् अपनी ओर खींचता है । दोहेका माधुर्य आर्यासे कहीं बढ़ा चढ़ा है । पढ़नेवालेकी ज़बान और सुननेवालेके कान इसमें साक्षी हैं । कस्तूरीकी गन्ध सौगन्दकी हाजत नहीं रखती ।

(३)——अमरुकशतक और विहारीसतसई

दोहा—पलनि प्रगटि बरुनीनि बढ़ि नहिं कपोल ठहरायँ ।
अँसुवां परि छातियां छनक छनछनाय छपि जायँ ॥४२६॥

× × ×

पद्य—"तप्ते महाविरहवह्निशिखावलीभि-
रापाण्डुरस्तनतटे हृदये प्रियायाः ।
मन्मार्गवीक्षणनिवेशितदीनदृष्टे-
र्नूनं छमच्छमिति वाष्पकणाः पतन्ति ॥८६॥"

× × ×

इस दोहेकी रचनाके समय विहारीकी दृष्टिमें अमरुकका यह "छमच्छमिति बाष्पकणाः पतन्ति" "नूनं" घूम रहा था। तथापि दोहा उससे कहीं उत्कृष्ट हो गया है। दोहेमें शब्दचमत्कारके अतिरिक्त अर्थचमत्कारका आधिक्य भी बहुत बढ़ा चढ़ा है। अमरुकके यहां वाष्पकणोंके छनछन करके गिरनेका कारण "महाविरहवह्निशिखावलिभिस्तप्ते" पदमें स्पष्ट है, पर विहारीके यहाँ यह बात छिपी है, इतनी कसर ज़रूर है। अमरुकके पद्यमें विरहके साथ 'महत्' पद अच्छा नहीं—यह बड़े अनर्थकी सूचना दे रहा है, 'महाविरह' पद 'महानिद्रा' 'महायात्रा' की तरह 'मृत्युविरह' की अमङ्गलताका सूचक है—परन्तु अमरुककी विरहिणीका नायक महाप्राणताकी कृपासे अभी विद्यमान है, वही तो यह कह रहा है कि 'मन्मार्गवीक्षणनिवेशितदीनदृष्टेः' इतनी ख़ैर है। इसने अमङ्गलताके पांव जमने नहीं दिये, बात आयी गयी हुई। अमरुकके "वाष्पकणाः पतन्ति" से प्रकट है कि वाष्पकण नीचे गिर रहे हैं, छन छनाकर छिप नहीं जाते। विहारीके यहां

सन्तापाधिक्य बहुतही प्रबल है, वहां आँसू गिर नहीं सकते, छन-छनाकर वहीं छिप जाते हैं। विहारीने आंसुओंकी उत्पत्ति और पतनका प्रकार बहुत विलक्षणतासे कथन किया है। इसमें एक खास चमत्कार है। *'बरुनीनि बढ़'* से बरोनियोंकी सघनता और वियोगचिन्तामें अर्धनिमीलन-दशाकी प्रतीति होती है—यदि आंखें बिलकुल खुली हों तो पलकें ऊपरको उठी रहनेसे, और बिलकुल बन्द हों तो पलकोंके सिरे नीचेको होनेसे—आंसू इकट्ठे होकर—बढ़कर—नहीं गिर सकते। "नहिं कपोल ठहरायँ"—से कपोलोंकी श्लक्ष्णता-स्निग्धताकी ध्वनि निकलती है। जहां निगाहके पांव ❀ रपटते हैं वहां पानीकी बूंदें कैसे ठहर सकती हैं! "परि छतियां छनक छन छनाय छपि जायँ"—में 'छनक' पदसे आंसुओंकी अधिकता और निरन्तर पतन—(आंसू थोड़े हों तो क्षणभर भी नहीं ठहर सकते)—'छनछनाय छपि जायँ' से वियोग-सन्तापका आधिक्य व्यङ्ग्य है। इस प्रकार वाच्यातिशायी व्यङ्ग्य होनेसे यह दोहा ध्वनिकाव्यका उत्तम उदाहरण है। और अमरुकका पद्य, बस समझ लीजिए इसके सामने जो कुछ है, सो है।

इस दोहेको पढ़कर महाकवि कालिदास के 'कुमारसम्भव'का यह पद्य रत्न—

❀ निगाह के पांव रपटते हैं—

"क्या कहूँ इस सफ़ाए-आरिज़को, ह्वां निगहका क़दम रपटता है"
(सौदा)

"रपटत लोचन चिलक देख बलभद्र" (बलभद्र)

"ऐसी खिलसिली ओप सुन्दर कपोलनकी,
खिसल खिसल परै दीठि जिन परतें" (सुन्दर)

"थी सलसलाहट ऐसी ही कुछ नर्म गात में,
जब ह्वां निगहका ध्यान पड़ा झट रपट गई।" (इन्शा)

"स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः
पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे
चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ।"

और इसपर मल्लिनाथ की व्याख्या, उसका यह वाक्य—"*अत्र प्रतिपदमर्थवत्त्वात्परिकरालंकारः*", और इसी पद्यपर चित्र-मीमांसाकार अप्पयदीक्षितकी वह अति मनोहर मीमांसा और उसका यह निष्कर्षवाक्य—"*एवं च वाच्यातिशयि व्यंग्यमत्रेति ध्वनेरुदाहरणमिदम् ।*" याद आ जाते हैं। भेद इतनासाही है कि एक जगह—कुमारसम्भवके उस पद्यमें 'योगिनी' (तपस्विनी) पार्वतीकी तपश्चर्यादशाका वर्णन है, और दोहेमें किसी वियोगिनीकी विरहदशाका चित्र है।

× × ×

दोहा—"*मैं मिसहा सोयौ समुझि मुंह चूम्यौ ढिग जाय ।*
हँस्यौ खिसानी गर गह्यौ रही गरै लपटाय ॥२१४

❀ ❀ ❀

पद्य—शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ॥
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥८२॥

❀ ❀ ❀

अमरुकका यह पद्य साहित्यपाठियोंमें बहुत प्रसिद्ध है इसकी व्याख्या* यहां नहीं की जायगी। केवल इतना निवेदन ही पर्याप्त होगा कि विहारीका यह दोहा अमरुकके इसी प्रसिद्ध पद्यका "तुल्यदेहितुल्य" प्रतिद्वन्द्वी है। अमरुकने जिस गोपनीय घटनाकी अपने पद्यमें विशद व्याख्या करके रसिकोंको चौंका दिया है, ठीक उसी घटनाका उक्तिवैचित्र्यसे विहारीने भी वर्णन किया है, और हम समझते हैं ख़ूब किया है। ख़ासकर दोहेका उत्तरार्ध बहुत ही उत्तम हो गया है। उसमें पर्याय-व्यापारोंका बड़ा ही मनोहर शब्द-चित्र खिंच गया है। फिर दोहे की शब्द-स्थापनापर ध्यान दीजिये, कितना गढ़कर—दृढ़तासे सन्धि मिलाकर—शब्दोंको बिठलाया है कि ज़रा भी कहीं शिथिलताका नाम नहीं,एक मात्राभी इधर उधर नहीं हो सकती—"हँस्यौ, खिसानी, गर गह्यौ, रही गरै लपटाय।" अंगूठीपर नगीनेसे जड़ दिये हैं!

और अमरुकका उक्त पद्य 'रसगङ्गाधरकार' के मतमें "सुतरामश्रव्य"—(कर्णकटु) है तथा कविके "निर्माण-सामग्री-दारिद्र्य"-

---

* व्याख्या करते संकोच होता है, डर लगता है कि "अर्वाचीन-साहित्यविवेचनाकार" माननीय मित्र श्रीमान् साहित्याचार्य पण्डित शालग्रामजी शास्त्री, कहीं दुबारा न बरस पड़ें। उनकी आज्ञा है कि इस श्लोककी व्याख्या-स्तुति न कीजाय—

"आदर्शो मणिरेव वाध हृदयं येषां परार्थग्रहे
ये वा भाविनि भारतीयविभवे सर्गप्रतिष्ठापकाः।
येषां चारुचरित्ररक्षणविधौ प्रेक्ष्यं सदा शिक्षकैः
'शून्यं वासगृहं' स्तुवन्ति गुरवो हा हन्त तेषां पुरः॥"

(अर्वाचीनसाहित्यविवेचना)

इस पद्यका पूर्व प्रकृत गद्यस्थ 'किशोरकाणां' तथा पद्यस्थ 'गुरवः' पद उपलक्षण हैं अन्य श्रोता और वक्ताके भी।

को प्रकट करने वाला है। एकही पद्यमें पांच वार 'क्त्वा' का और दो वार 'लोकति' का प्रयोग, कविके शब्द-दारिद्र्यका सूचक है।

× × ×

दोहा—पति रतिकी बतियां कहीं सखी लखी मुसकाय।
कैकै सबै टला टली अली चलीं सुख पाय ॥२६॥

पद्य—"त्वं मुग्धाक्षि विनैव कञ्चुलिकया धत्से मनोहारिणीं
लक्ष्मीमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि।
शय्योपान्तनिविष्टसस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दितो
निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः ॥ २७" †

❀ ❀ ❀

यहांभी विहारीने अमरुकके "प्रबन्धशतायमान" पद्यसे अपने दोहेकी टक्कर लड़ायी है, "शार्दूलविक्रीडित" का दोहेकी

---

† "सख्योऽथ पद्मलदृशां तदवेक्ष्य तन्त्रं
स्मेराननार्पितकरं शनकैर्निरीयुः।
तत्कर्पटाञ्चल-समीर-विधूयमानो
दीपोऽपि निर्जिगमिषुत्वमिवाललम्बे ॥"

(मङ्खक, श्रीकण्ठचरित १५। १५)

इस 'टलाटली'के मामलेमें महाकवि मङ्खकका यह बयान—(वर्णन) वेशक वहुत ही वढ़िया है। मङ्खकने इस मौक़ेपर अत्यन्त औचित्यपूर्ण संक्षेपसे काम लिया है, कमाल किया है, "तत्र तन्त्रं"से सब कुछ कह दिया है। उस 'नागुफ्तावह' दास्तानका इससे ज़्यादा इख़्तसार और क्या होगा। फिर 'क्रियाविशेषण' भी क्या ग़ज़बका सूझा है—"स्मेराननार्पित-करम्"। और दीपककी वातने तो बस निराला ही चमत्कार पैदा कर दिया है। बड़ी सुन्दर सूक्ति है। सुनिये—

दुनाली बन्दूक़से मुक़ाबला किया है, और ख़ूब किया है, निशाना मार लिया है। अमरुकके फूलोंकी टोकरीका विहारीने अपने दोहेकी शीशीमें किस ख़ूबीसे अतर खींचकर रख दिया है!

पद्यके पूर्वार्धका भाव—"पति रतिकी बतियां कहीं"—इतनेमें ही आगया है। पद्यमें, सखीसमाजके सामने हाथापाईकी कार-रवाई, सभ्यताकी सीमाका उल्लङ्घन कर गयी है। विहारीने उसे "रतिकी बतियां" में परिणत करके औचित्यके अन्दर ला दिया है। पद्यके "अलीकवचनोपन्यासं" का सार 'टलाटली' इस वाक्य-विन्दुमें है। "आलीजनो निर्यातः" को "अली चलीं" समझिए। "सस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दितः" इस समस्त वाक्यकी बख़िया उधेड़कर "सखी लखी मुसकाय" और "सुखपाय" ये पृथक् पृथक् टुकड़े कर दिये हैं।

अब चाहे इसे छायापहरण समझिए, या "अर्थापहरण" कहिए, या अनुवाद नाम रखिए, जो कुछ भी हो, है अद्भुत लीला। इससे अच्छा और हो नहीं हो सकता। इसपर पदावलि कितनी अतिमधुर है, अनुप्रासका रूप कितना मनोहर है कि सुनते और देखते ही बनता है।

× × ×

दोहा—*सखी सिखावति मानविधि सैननि बरजति बाल।*
हरुये कहु मो हिय बसत सदा विहारीलाल॥ ७१३

* * *

—सखियोंने जब वह 'तन्त्र' (माजरा) देखा तो मुस्कराते हुए मुंहपर हाथ रखकर, आहिस्ता आहिस्ता वहांसे खिसक चलीं। साथ ही उनके दुपट्टोंके आंचलकी हवासे हिलता हुआ "दीपक" भी आंख बन्द करके वहांसे बिदा होनेकी तयारी करने लगा!

पद्य—"मुग्धे मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि।
सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना
नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति॥"

* * *

अमरुकके इस पद्यरत्नने भी साहित्यके जौहरियोंसे बड़ी क़द्र और क़ीमत पायी है, इसकी भी बड़ी धूम है, और सचमुच है भी इसी योग्य, इसकी प्रशंसामें जो कुछ कहा जाय अनुचित नहीं है। इसका भाव है—

नारदमुनिकी चेली कोई सहेली, किसी भोली भाली पतिप्राणा मुग्धाको "मानविधि"का पाठ पढ़ाने बैठी है,—"क्या इसी सिधलेपनसे सारा समय बितानेकी ठानी है? ऐसे कैसे गुज़ारा होगा? देख धैर्यपूर्वक मानको धारण कर, प्रियके साथ इस सरलताको काममें मत ला, ज़रा टेढ़ी बांकी बनकर रह—"

'मानविधि'के इस विद्रोहपाठको सुनकर वेचारी मुग्धाके होश उड़ गये, हृदयेश्वरके साथ ऐसा विद्रोह! विद्रोहशिक्षापर व्याख्यान देनेवाला तो प्रेम-राज्यमें बच जाता है, पर श्रोतापर विपत्ति आ जाती है, इस डरसे घबराई हुई मुग्धा कहती है-- "ऊँचे मत बोल, मेरे हृदयमें स्थित प्राणेश्वर कहीं न सुन पावें, चुप रह।"

विहारीका दोहा इसीकी छाया है। पर ध्यान दीजिए तो एक बातमें इससे बढ़ गया है। "सखी सिखावत मानविधि" इस वाक्यमें अमरुकके पद्यके पूर्वार्धका "सख्यैवं प्रतिबोधिता" तक सब भाव आगया है। मानविधिके प्रकारका इस प्रकार विस्तारसे वर्णन न किया जाय तो कुछ हानि नहीं, प्रेमके पचड़ोंसे परिचित रसिक जनोंके लिए यह कोई नयी बात नहीं, उन्हें समझानेको "मानविधि"

इतना इशाराही काफ़ी है। पद्यके "मुग्धा" पदके मुक़ाबलेमें दोहेमें 'बाला' पद है ही। "नीचैः शंस" और "हरुये कहु" में भी भाषाभेदके सिवा कोई फ़रक़ नहीं। अब इसके आगे 'विहारीलाल'का चमत्कार बहुत विलक्षण है।

विहारीलालके दोहेकी 'बाला' अमरुककी 'मुग्धा' की तरह शब्दोंमें यह नहीं कहती कि 'ऊँचे मत बोल, नहीं तो प्राणपति सुनलेंगे'। वह 'सैननि बरजति" आंखोंके इशारेसे निषेध करती है। वह इस प्रपंच-प्रसंगमें सम्मिलित होते इतना भय खाती है कि शब्दोंमें मना करते भी डरती है, धीरे बोल, यह भी इशारेसे समझाती है, सखीद्वारा इस प्रस्तुत प्रसंगमें किसी प्रकार सहमत होना तो दूर रहा कण्ठद्वारा निषेध करते भी उसे संकोच है। धीरेसे बोलनेका इशारा भी इसलिए नहीं कर रही कि वह चुपकेसे सुनना चाहती है, किन्तु कदाचित् इस कारण कि कोई और सुनकर इस बेतुकी बातपर सखीका उपहास न करे! अन्यथा जिसके हृदयमें "सदा विहारीलाल" बस रहे हैं वह चुपकेसे भी इस विद्रोह-षड्यन्त्रमें शरीक होनेका कैसे साहस करेगी? यह ज़रा सोचनेकी बात है!

"हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति"

इसकी अपेक्षा "मो हिय बसत सदा विहारीलाल" में कहीं अधिक चमत्कार है। "विहारीलाल" पद यहां बड़ा ध्वनिपूर्ण है— सब जगह विहार करनेका जिनका स्वभाव है, जो पूरे "हरजाई" हैं, वह "विहारी" जब प्रेमाधीन हो, अपने स्वभावको छोड़ मेरे हृदयमें सदा बसते हैं—यहीं डेरा डाले हुए हैं—फिर मानको अवकाश कहां? धन्य विहारीलाल तुम्हारी लीला!

*"ग़रज़ वाइज़की महनत रहगयी सब रायगां होकर"

* * *

शृङ्गारसतसई (रामसतसई)के रचयिताने भी इस भावको अपने दोहेमें भरा है, विहारीका अनुकरण किया है, पर वह बांकपन कहां !

"हिय लोचनमें भरि रहे सुन्दर नन्दकिसोर।
चलत सयान न बावरी मान धरौं किहि ठौर ॥"

(४) विहारी और संस्कृतके अन्य कवि

संस्कृतके अन्य महाकवियोंके पद्योंकी छाया भी कहीं कहीं सतसईमें पायी जाती है। इसकी भी कुछ बानगी देखिये—

दोहा—"*मरिवेको साहस कियौ बढ़ी बिरहकी पीर।*
दौरति है समुहै ससी सरसिज सुरभि समीर" ॥४३४॥

* * *

पद्य—"धत्ते चक्षुर्मुकुलिनि रणत्कोकिले बालचूते
मार्गे गात्रं क्षिपति बकुलामोदगर्भस्य वायोः।
दावप्रेम्णा सरसविसिनीपत्रमात्रान्तराय-
स्ताम्यन्मूर्त्तिः श्रयति बहुशो मृत्यवे चन्द्रपादान् ॥"
(भवभूति, मालतीमाधव)

भवभूतिने माधवकी विरह-विह्वलताके इस वर्णनमें एक एक करके प्रायः सब 'उद्दीपन विभावों'को गिना दिया है। अर्थात्—

* ग़रज़ = निदान। वाइज़ = उपदेश-शिक्षक। रायगां = व्यर्थ।

विरहसे अधीर होकर माधव, मृत्युके लिये बौरे हुए आमपर दृष्टि डालता है, कोकिलकी कूकपर कान लगाता है। मौलसिरीकी गन्धसे सुगन्धित वायुके मार्गमें लोटता है। दावाग्निकी बुद्धिसे, भीगे हुए कमलपत्रोंको ऊपर ओढ़ता है, जब इनसे भी काम निकलता नहीं देखता तो विरहीजनोंके घातकोंमें शिरोमणि चन्द्र-किरणोंकी शरणमें जाता है।

विचित्रालंकारका क्या ही उत्तम उदाहरण है, विरहीजनका उपचार भी कितना विचित्र है। चन्द्र आदि पदार्थ, जो सन्ताप-शान्तिके लिये औषध हैं, उनसे ही यहां सन्तापोद्दीपनद्वारा मृत्यु मांगी जाती है!

विहारीके दोहेमें इतनी उद्दीपनसामग्रीका संग्रह नहीं है, इस कारण इसे 'हीनता' न समझिए. इसमें एक बात है। भवभूतिके यहां "महाप्राण" माधव (पुरुष)की दशाका वर्णनहै, उसकी अभीष्टसिद्धिके लिये इतने ही घातक उद्दीपनोंकी आवश्यकता है, और इधर दोहेमें एक बेचारी विरहिणी अबलाका वर्णन है, उसका काम तमाम करनेको इनमेंसे एक आध घातक भी पर्याप्त है, घातकोंकी सेना दरकार नहीं है। हम समझते हैं यही समझ-कर कविने उद्दीपन सामग्रीका अधिक विस्तार नहीं किया।

इस प्रसंगमें यह प्रसिद्ध संस्कृत पद्य स्मरण कीजिये तो विरही और विरहिणीकी सहनशीलताका भेद मालूम हो जाय—

"स्निग्ध-श्यामल-कान्ति-लिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घनाः,
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
"कामं सन्तु, दृढं कठोरहृदयो रामोस्मि सर्वं सहे,
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव।"

पद्य—"जानुभ्यामुपविश्य पार्ष्णिनिहितश्रोणीभरा प्रोन्नमद्-
दोर्वल्ली नमदुन्नमत्कुचतटी दीव्यन्नखाङ्कावलिः ।
पाणिभ्यामवधूय कङ्कणझणत्कारावतारोत्तरं
बाला नह्यति किं निजालकभरं किं वा मदीयं मनः ॥"

*　　*　　*

किसी संस्कृत कविका यह उद्भट पद्य जूड़ा बाँधनेकी क्रियापर बड़ी ही सुन्दर स्वभावोक्ति है, हूबहू नक़्शा उतार दिया है, तस्वीर खींच दी है। एक नुक्ते का फ़रक़ नहीं छोड़ा, पर इसका जवाब विहारीका यह दोहा हो सकता है—

दोहा—*कच समेटि कर भुजि उलटि खए सीस पट टारि ।*
काकौ मन बांधै न यह जूरौ बांधनिहारि ॥४४३॥

\+　　\+　　\+

दोहेके आकार में जितनी गुंजायश थी, कामकी कोई बात नहीं छोड़ी, सब परमावश्यक क्रियाविशेषण मौजूद हैं। "बाला नह्यति किं निजालकभरं किं वा मदीयं मनः।" की "किं वा मदीयं" इस परिच्छेदोक्तिमें इतना चमत्कार नहीं, जितना दोहेके इस परिच्छेदशून्य कथनमें है—

"काकौ मन बाँधै न यह जूरौ बाँधनिहार।"

सहृदयोंका भावक हृदय इसमें साक्षी है। अस्तु, यह तो हो गया, पर विहारीके इस दोहेका जवाब नहीं है—

दोहा—*छुटे छुटावैं जगततें सटकारे सुकुमार ।*
मन बांधत बेनी बँधे नील छबीले बार ॥४४१॥

\+　　\+　　\+　　\+

इसका जवाब किसीको याद हो तो बतलावें ? क्या कहना है, क्या कही है। ये बाल क्या हैं, काली बला हैं। एक आफ़त हैं, क़यामत हैं। छुटे हुए चैन लेने दें न बँधे हुए !!

केशकलापकी इस लोकोत्तर महिमासे अनभिज्ञ कोई संस्कृत-कवि क्या बेतुकी बात कहने बैठे हैं—

"कमलाक्षि ! विलम्ब्यतां क्षणं कमनीये कचभारबन्धने।
दृढलग्नमिदं दृशोर्युगं शनकैरद्य समुद्धराम्यहम् ॥"

\+ + +

आप कहते हैं कि जरा ठहरियो, अभी जूड़ा न बाँधो, मेरी आंखें केशपाशके सघन जालमें फँसी हैं, मैं जरा उन्हें आहिस्ता आहिस्ता उभार लूं, वहांसे उन्हें निकाल लूं। कहीं वह बालोंमें बँधी न रह जायँ।

क्या अच्छी सूझी है, इन हजरतने यदि विहारीसे केशोंकी करामात सुनी होती तो ऐसी फ़िज़ूल आरज़ू कभी न करते। अरे ! बाबा ! आंखें ज्यों त्यों करके निकाल भी लीं तो क्या हुआ ! इस नागनके मुहमेंसे 'मन' तो नहीं निकाल सकोगे ?

\+ + +

उर्दू के बूढ़े कवि मीरहसन भी इस बारेमें सिर्फ़ इतना ही जानते थे—

"लटोंमें कभी दिलको लटका लिया,
कभी साथ बालोंके झटका दिया।"†

* * *

† "कितने दिल उलझे हुए हैं कहीं खुलकर न गिरें,
ज़ुल्फ़को अपनी समझकर अभी सुलझाइएगा" (ज़फ़र)

दोहा—तिय कित कमनैती पढ़ी बिन जिह भौंह कमान ।
चल चित बेझै चुकति नहिं बंक बिलोकनि बान ॥४६७॥

\+ + ÷

पद्य—"मुग्धे ! धानुष्कता केयमपूर्वा त्वयि दृश्यते ।
यया विध्यसि चेतांसि गुणैरेव न सायकैः ।"

ऊपरके पद्यमें कहा गया है कि मुग्धे ! तुझे यह कैसी अपूर्व धनुर्विद्या आती है. जिससे तू गुणोंसे ही चित्तोंको बींधती है, बाणोंसे नहीं ।

पद्यके केवल "गुणैः" पदमें एक ज़रासी करामात है, जिससे यह साहित्यसंसारमें अच्छी प्रसिद्धि पा गया है, 'गुण' शब्द श्लिष्ट है, गुणका अर्थ है सौन्दर्य आदि और कमानकी डोरी। अब ज़रा तुलनात्मक दृष्टिसे देखिए, इसे देखे विहारीका दोहा करामातोंकी खान है कि नहीं ।

पद्यके पूर्वार्ध का भाव "तिय कित कमनैती पढ़ी" दोहेके इस एक पादमें आ गया है । अब इसके आगे इस प्रश्नकी व्याख्या—कमनैतीकी अपूर्वता—प्रारम्भ होती है । इस कमनैती में भौंहकी कमान तो है, पर उसपर, जिह (ज्या) डोरी नहीं है । "बंकविलोकनि बान" बाण हैं, सो तिरछे टेढ़े—(तिरछी नज़र)—यह तो कमनैतीकी सामग्री है—बिना डोरीकी कमान, और टेढ़े बान—और लक्ष्य (निशाना) है अलक्ष्य 'चल चित्त' । निमेषमात्रको जिसकी गति नहीं रुकती, संसारभरके चञ्चल पदार्थ जिसके सामने पंगु हैं, खुर्दबीन और दूरबीनसे भी जो दीख नहीं पड़ता, ऐसा चञ्चल चित्त है निशाना । इसपर भी वार ख़ाली नहीं जाता 'बेझै चुकत नहिं" दिले-बेक़रार बिंध ही तो जाते हैं; मजाल है निशाना ज़रा चूक जाय ! इसका नाम है विचित्र कमनैती !!

दुष्यन्तके सेनापति इतनेको ही धनुर्धारियोंका उत्कर्ष माने बैठे थे कि भागते दौड़ते जंगली जानवरोंपर निशाना ठीक बैठ गया, और बस !

"उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिद्ध्यन्ति लक्ष्ये चले"
(अभिज्ञानशाकुन्तल)

वह विहारीकी इस कमनैतीका करतब देखते तो जानते कि उत्कर्ष इसमें है उसमें तो ख़ाक नहीं—

* "बड़े मूज़ीको मारा नफ़्सेअम्मारहको गर मारा,
निहंगो अज़्दहाओ शेरे-नर मारा तो क्या मारा। (ज़ौक़)

इस मैदानमें उर्दू के महारथी तीरन्दाज़ोंके हाथ भी ज़रा देख लीजिए, कैसी समस्यापूर्ति सी कर रहे हैं। एक उस्ताद कहते हैं—

"तिरछी नज़रोंसे न देखो आशिक़े-दिलगीर को,
कैसे तीरन्दाज़ हो सीधा तो करलो तीरको।"

❀ ❀ ❀

"आतिश" भी इनकी ताईद करते हुए कहते हैं—

† "तिरछी नज़रसे तायरे-दिल हो चुका शिकार,
जब तीर कज पड़ेगा तो देगा निशाना क्या॥"

❀ ❀ ❀

तीसरे, 'तीरे-नज़रके मजरूह' फ़र्माते हैं—

"ख़ता करते हैं टेढ़े तीर यह कहनेकी बातें हैं,
वो देखें तिरछी नज़रोंसे ये सीधे दिल पै आते हैं॥"

---

* मूज़ी = अकारण वैरी, दुःखदायी। नफ़्से-अम्मारह = मन। निहंग = नक्र, मगर। अज़्दहा = अजगर।

† तायरे-दिल = चित्तरूपी चिड़िया। कज = तिरछा।

बस देख लिया, ये भी टेढ़ी सीधी बहससे आगे न बढ़ सके‡

× × ×

दोहा—कनक कनक तें सौगुनी मादकता अधिकाय।
उहि खाये बौराय जग इहि पाये बौराय ॥६४८॥

❀ ❀ ❀

पद्य—'सुवर्णं बहु यस्यास्ति तस्य न स्यात्कथं मदः।
नामसाम्यादहो यस्य धुस्तूरोपि मदप्रदः॥"

❀ ❀ ❀

ऊपरका 'उद्भट' श्लोक नहीं कह सकते इस दोहेको देखकर बना है, या दोहा इसे देखकर। यदि यह दोहेको देखकर बना है तो अपनी असलियतसे बहुत दूर जा पड़ा, और यदि दोहेकी रचना इसे देखकर हुई है तो विहारीने मज़मून छीन लिया है।

श्लोकका भाव है कि जिसके पास बहुतसा सुवर्ण है, उसे मद क्यों न हो। जिस सुवर्णके नामसादृश्यसे धतूरेमें भी मादकता आगयी है, वह स्वयं मादक क्यों न होगा।

श्लोकमें एक तो 'बहु' पद व्यर्थ है, भरतीका है। जो पदार्थ मादक है वह बहुत हो या थोड़ा, मादकता उसके साथ है। यदि बहुत परिमाणमें ही कोई पदार्थ मादकता प्रकट करता है, तो उसमें कुछ चमत्कारयुक्त वैशिष्ट्य नहीं।

दूसरे "सुवर्ण" और "धुस्तूर" पदोंमें साक्षात् इतना नामसाम्य भी नहीं है, जितना 'कनक'—'कनक' में सादृश्य है।

‡ अकबर साहबने भी इसी मज़मूनको इस तरह बाँधा है:—
"ज़माना होगया बिस्मिल तेरी सीधी निगाहोंसे
ख़ुदानाख़्वास्ता तिरछी नज़र होती तो क्या होता।"

"धत्तूरः कनकाह्वयः" इस कोशवाक्यके बलसे यदि सुवर्णके सब पर्याय, धतूरे के पर्याय यथाकथञ्चित् मान भी लिये जायँ, तथापि लोकमें साम्यप्रसिद्धि केवल 'कनक' शब्दमें है। वैद्यकग्रन्थोंमें भी धतूरेके लिये 'कनक' शब्द ही प्रायः व्यवहृत है, सुवर्ण या उसके अन्य पर्याय—हिरण्य, तपनीय, अष्टापद, शातकुम्भ इत्यादि नहीं। प्रयोग और प्रसिद्धिके सामने कोशकी एक नहीं चलती, कोश धरा ही रहता है, जो शब्द जिस अर्थमें प्रसिद्ध होगया, सो होगया, जो रह गया, सो रह गया।

इसके अतिरिक्त किसी मादक पदार्थके नाम-साम्यसे ही कोई पदार्थ मादक हो जाय, इसमें प्रमाण नहीं। 'आबे-गौहर'–(मुक्ता-पानिप) में भी 'आब' है, पर उसके छिड़काव से न धूल दब सकती है न पीनेसे प्यास बुझ सकती है। दोहेमें कनकके पानेमें मादकता बतलायी गयी है, जो अनुभवसिद्ध है। अनेक विष ऐसे हैं जिनके स्पर्शसे और पास रखनेसे मनुष्य बौरा जाता है। दृष्टि-विष सर्पके देखनेमें भी घातकता होती है। इसलिये दोहेमें जो "उहि खाये बौराय जग इहि पाये बौराय" कहा है, इस 'व्यतिरेक' में यथार्थता है। श्लोकमें केवल कविकल्पनाका सूक्ष्म चमत्कार है, यथार्थताका का अभाव है। दोहेमें दोनों बातें हैं। इस कारण दोहेके "कनक कनकते सौ गुनी" वाक्यमें श्लोककी अपेक्षा अधिक नहीं तो स गुनी उत्कृष्टता अवश्य है। †

\+ \+ \+

---

† एक फ़ारसी शेरमें यही बात दूसरे ढंग से कही गयी है:—

"बादा ख़ुरदन ओ हुशियार नशिस्तन् सहलस्त,
गर बदौलत बिरसी, मस्त न गर्दी मर्दी"

अर्थात् शराब पीकर भी होशहवास दुरुस्त रहें यह सहल (आसान) बात है, पर दौलत (धन) पाकर यदि तू मस्त न हो—होशमें रहे—तो 'मर्द' आदमी है।

दोहा—या भव-पारावार को, उलँघि पार को जाय ।
तियछवि छाया-ग्राहिनी, गहै बीचही आय ॥६८=१॥

* * *

पद्य—संसार ! तव निस्तारपदवी न दवीयसी ।
अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि रे मदिरेक्षणाः ॥

* * *

श्रीभर्तृहरि महाराजकी उल्लिखित श्रुतिमधुर सूक्ति बड़े मार्केकी चीज़ है । इसे सुनकर विरक्त जनोंके शुष्क हृदयोंमें भी सरसताके रक्तका संचार होने लगता है, बिजलीसी दौड़ जाती है, भावशबलताकी प्रबल तरङ्गोंका तूफ़ान उठने लगता है । वे बड़ी आनन्दमुद्रासे आंखें बन्द करके, झूमझूमकर, हर्षातिरेकसे रुकरुककर, एक एक पदपर विराम करते हुए—

"संसार !—तव—निस्तार-पदवी—न—दवीयसी—अन्तरा—दुस्तरा—न—स्यु—र्यदि—रे मदिरेक्षणाः !!!

इस प्रकार पाठ करते करते जब अन्तिम पद "मदिरेक्षणाः"के पास पहुंचते हैं तो एक साथ बेदम होकर निराशाके अथाह समुद्रमें डब जाते हैं । उन्हें इस बरफ़की पहाड़ीसे टकराकर अपने वैराग्यरूप निर्भय 'टैटनिक' * के भी टुकड़े होते दीखने लगते हैं । इस 'तारपीडो' की तनिक टक्करसे शमदमादि सुदृढ़ साधनोंके बड़े बड़े बेड़े चकनाचूर होते दीख पड़ते हैं ।

---

* 'टैटनिक' (जहाज़) की दुर्घटनापर स्वर्गीय महाकवि 'अकबर ने क्या ख़ूब कहा है—

"टैटनिक टुकड़े हुआ टकराके आइसबर्ग से
दब गया साइन्स भी आख़िर पयामे-मर्गसे ।"

आइसबर्ग (Iceburg)=बर्फ़ की चटान । पयामे-मर्ग = मौतका पैग़ाम ।

पर हम समझते हैं इसमें कोई ऐसी घबरानेकी बात नहीं है। भर्तृहरिजीने तो सिर्फ़ "दुस्तराः—दुःखेन तीर्यन्त इति दुस्तराः— कहा है, "केनाप्युपायेन कथमपि तरीतुमशक्याः" तो नहीं कहा! फिर घबरानेकी कौन बात है ? यदि जहाज़ कमज़ोर है, समुद्रमें तूफ़ान आनेका या किसी छिपी चटानसे टकरानेका डर है, या तारपीडोकी टक्करका भय है, तो जाने दो इस जहाज़ को, हवाई जहाज़पर बैठकर समुद्रको पार कर जाओ।

स्वामीजी महाराज ! छक्के तो विहारीके इस दोहेको सुनकर छूटते हैं, देखिए, ज़रा सँभलकर, धैर्य धरकर सुनिए। वाक्य-समाप्तिके पूर्वही कहीं समाधि न लगा जाइये। हाय रे निष्ठुर विहारी! तेरी विभीषिकाने तो किसी तरह भी कहींके न छोड़े, एकदम सारे साधन ही बेकार कर दिये!

"*तिय-छबि छाया-ग्राहिनी गहै बीच ही आय*"

हरे हरे! इससे भला कोई कैसे बचने पावेगा! यह तों ऊपर उड़ते हुए हवाई जहाज़ोंको भी छाया पकड़ कर—अनायास नीचे खींचकर—निगल जायगी! इस छाया-ग्राहिनीके पंजेसे छूटना तो सिर्फ़ 'पवनसुत' महायोगी महावीरजी का ही काम था। पर महावीर तो एक ही थे, सब कोई तो महावीर नहीं हैं ? नहीं हैं तो फिर पड़ों छायाग्रहिनीके जालमें। देखा ? डराने वाले भयका ऐसा भयानक रूपक बांधा करते हैं—" तिय-छबि छायाग्राहिनी— दुस्तरा मदिरेक्षणाः—तियछबि छायाग्राहिनी—"

(५) *विहारी और उर्दू कवि*

विहारी और उर्दू कवियोंकी कवितामेंभी कहीं कहीं भावसाम्य है। पर वह छायात्मक नहीं। उसे इत्तफ़ाक़िया 'तवारुद'* कह सकते हैं। "सौ स्याने एक मत"के अनुसार तबीअतें एक नतीजेपर

---

* तवारुद—एकही मज़मूनका अलग अलग दो कवियोंको सूझना।

जा पहुंची हैं। जान बूझकर या एक दूसरेको देखकर ऐसा नहीं हुआ। जिन उर्दू कवियोंके पद्योंसे विहारीके दोहोंका मुक़ाबला किया गया है, वे सब विहारीके पश्चाद्वर्ती हैं। पर जहाँतक मालूम है उन्होंने भी विहारीकी कविताको देखकर अपने यह पद्य नहीं लिखे, वे हिन्दी नहीं जानते थे। अचानक मज़मून लड़ गये हैं। अस्तु, इसके भी कुछ नमूने सुन लीजिए—

शेर—"उनके देखेसे जो आजाती है रौनक़ मुंहपर।
वो समझते हैं कि बीमारका हाल अच्छा है।" (ग़ालिब)

* * *

अर्थात् अपनी विरहजन्य कृशता या दयनीय दशा, प्रेमी अपने प्रेमपात्रपर किसी प्रकार ज़ाहिर नहीं कर सकता, क्योंकि विरहकी दशामें प्रेमपात्र उसके पास नहीं होता, और जब वह आता है तब हर्षातिरेकसे उसकी दशा बदल जाती है।

इस शेरकी मौलाना हालीने बहुत प्रशंसा की है। "दीवाने-हालीके मुक़द्दमे" और "यादगारे-ग़ालिब" में इसे उद्धृत करके दिखलाया है कि यह शेर कविकी प्रतिभाशक्तिका सर्वोत्कृष्ट नमूना है। इसके शब्द और अर्थ दोनोंमें समानरूपसे प्रतिभाका प्रकाश झलकता है। इसके साथ एक शेर शेख़सादी का यह लिखा है—

"गुफ़्ता बूदम् चु बियाई ग़मे-दिल बा तो बगोयम्,
चे बगोयम् के ग़म अज़ दिल बरवद चूं तो बिआई।"

* * *

अर्थात् प्रेमी अपने प्रेमपात्रसे कहता है कि मैं कहता था कि जो तू आवे तो दिलका ग़म तुझसे कहूं, पर अब क्या कहूं, क्योंकि जब तू आता है तब दिलसे ग़म ही जाता रहता है। हाली कहते हैं कि इन दोनों शेरोंका अभिप्राय तो यही है कि

किसी प्रकार अपना दुःख या सन्ताप प्रेमपात्रपर ज़ाहिर नहीं किया जासकता। पर सादीके बयानमें यह सन्देह बाक़ी रह जाता है कि सम्भव है, प्रेमपात्र अपने प्रेमीकी ज़ाहिरी बदहाली देखकर समझ जाय कि इसका मन सन्तप्त है। क्योंकि सादीके बयानसे सिर्फ़ यही मालूम होता है कि प्रेमपात्रके आनेसे ग़म जाता रहता है, न यह कि ज़ाहिरी हालत भी बदल जाती है। पर मिर्ज़ा ग़ालिबके बयानमें यह सन्देह भी नहीं रहता। तथापि सादीके शेरको मिर्ज़ा के शेरपर तर्जीह देनी चाहिए, क्योंकि वह इससे पहला है।*

---

* इसी बातको पण्डित चमूपति एम० ए० "सादिक़" ने एक बांकपनसे कहा है। मिलनेपर प्रेमपात्र अपने प्रेमीसे पूछता है कि कहो जुदाई में कैसे गुज़री? आख़िर क्या कहना चाहते थे, कहो न? चुप क्यों हो? प्रेमीने वियोग-दशाकी 'आपबीती' सुनाने की जो कहानी सोच रक्खी थी, वह सामना होते ही सब भूल गयी, ज़बाने-हाल (दशा) और ज़बाने-क़ाल (वाणी) दोनोंही उस दशाको व्यक्त करनेमें असमर्थ हो गयीं। इसपर प्रेमी कहता है कि ज़रा ठहरो, कहता हूँ, इन आंखोंमें जो अब तुम्हें देख रही हैं, उस वियोग-दशाका चित्र खींचलूं—ध्यानद्वारा आंखोंके सामने वही दृश्य उपस्थित करलूं, और एक बार सामनेसे तुम्हें हटालूं—वियोगी बन जाऊँ—तो कहूं, अब जब कि तुम सामने हो, क्या कहूँ और कैसे कहूँ!

"हिज्रका नक़्शा इन आंखों में जमालूँ तो कहूँ।
सामने से तुझे इकबार हटालूँ तो कहूँ॥"

चमूपतिजीने अपनी इस सूक्तिकी ख़ूबसूरत इमारत इस पुरानी पर दिलचस्प ज़मीन पर खड़ी की है—

"क़िस्सए-इश्क़े-सनम (हिज्रे-बुतां) होशमें आ लूँ तो कहूँ।
दम ज़रा लेलूँ अभी दिलको सँभालूँ तो कहूँ॥"

यह तो हुई शेख़सादी और मिर्ज़ा ग़ालिबकी बात। अब देखिए व्रजभाषाके गोवर्द्धनाचार्य कविराज विहारीलाल इसी विषयको ग़ालिबसे पहले कैसे अच्छे और निराले ढंगसे कह गये हैं—

दोहा—"जो वाके तनकी दसा देख्यौ चाहत आप।
तौ बलि नैकु बिलोकिए चालि औचक चुपचाप॥" २०८॥

अर्थात् जो आप उस विरहिणीके शरीरकी दशा देखना चाहते हैं तो मैं बलिहारी, ज़रा अचानक और चुपचाप चलकर देखिए। यदि आपके पहुंचनेकी उसे ख़बर होगयी तो उसकी कृशता और दुर्बलता दूर होकर उसे स्वस्थता प्राप्त होजायगी, फिर उसकी विरहजन्य अवस्थाका ठीक ठीक प्रत्यक्ष अनुभव आपको न होसकेगा; इसलिये मेरी प्रार्थना है कि अचानक और चुपचाप चलकर उसे देखिए, जिससे मेरी बातपर आपको विश्वास हो और उसपर दया आवे।

हमारी रायमें यह दोहा उक्त दोनों शेरोंसे बहुत उत्कृष्ट है। इन शेरोंसे तो यही पाया जाता है कि प्रेमपात्रके पहुंचने या उसे देखनेपर ही प्रेमीकी हालत बदल जाती है। पर दोहेमें 'औचक' 'चुपचाप' शब्दोंसे यह ध्वनि निकलती है कि यदि अचानक और चुपचाप न चले और किसी प्रकार तुम्हारे चल पड़नेकी ख़बर भी उस तक पहुंच गयी तो तुम्हारे पहुंचनेसे पहले—इस शुभ संवादके पहुंचतेही—उसकी दशा औरसे और होजायगी, जिससे आप उसे उस दयनीय अवस्थामें न देख सकेंगे जिसमें दिखाना अभीष्ट है।

× × ×

दोहा—"दृग उरझत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गांठ दुरजन हिए दई नई यह रीति ॥" २७३॥

× × ×

शेर—"सोहबत तुझे रक़ीबसे मैं अपने घरमें दाग़,
कीधर पतंग, शमअ़ कहाँ, अंजुमन कुजा ॥"
(सौदा)

* * *

विहारीका यह दोहा "असङ्गति" अलङ्कारका अत्युत्कृष्ट उदाहरण है। वैसे तो यह असंगतिका उदाहरण है पर इसकी बातें बहुत ही सुसङ्गत हैं। स्वर्गीय पण्डित बालकृष्णजी भट्ट इस असङ्गतिकी भावभंगीपर बेतरह लट्टू थे। जब विहारीकी चर्चा चलती थी वह इस दोहेको जरूर पढ़ते थे और कई वार पढ़ते थे। उनके "हिन्दीप्रदीप" में न जाने यह कितनी वार उद्धृत हुआ है।

सौदाका यह शेर भी असंगतिके लिहाज़से इस दोहेसे मिलता जुलता है, भावमें भी कुछ साम्य है, पर सौदा इस मैदानमें तीन ही चक्कर लगाकर रहगये हैं। विहारीका एक चक्कर अधिक है, इनके चारों चक्कर एकही दायरेके अन्दर बड़े चमत्कारजनक हैं। सौदाकी असंगतिमें सहृदयताको पराङ्मुख करनेवाला 'रक़ीब'का 'रसाभास' है, जो उर्दू कविताका स्वाभाविक दोष है, इसमें कविका दोष नहीं, कविताका स्वाभाविक दोष है, किसीका सही, दोष अवश्य है, इसमें सन्देह नहीं। "सौदा"का यह शेर अपने रंगमें निराला है, इसमें भी वर्णनवैचित्र्यका एक बांकपन है, पर विहारीको नहीं पहुँचता। विहारीके यहां शब्दोंके जोड़तोड़में मुहावरोंका तमाशा देखने लायक़ है, फिर इस तोड़ मरोड़में घटनाकी यथार्थता कितनी अक्षुण्ण है।

जो चीज़ उलझती है, वही टूटती है, जब उसे जोड़ते हैं तो गांठभी उसीमें पड़ती है। ऐसा नहीं होता कि उलझे तो देवदत्तका दुपट्टा और टूट जाय यज्ञदत्तकी घड़ीका फ़ीता। फिर जोड़ लगावें हरिदत्तकी अचकनके पर्देमें, और उससे गाँठ पड़जाय विष्णुमित्रके पायजामेमें। पर इस 'असंगति' की बलिहारी है, उलझती आँख हैं तो टूटता कुटुम्ब है। और फिर इससे प्रीति कहां जाकर जुड़ती है, चतुरके चित्तमें। और उससे गांठ पड़ती है दुर्जनके हृदयमें। कैसी नयी रीति है!

विहारीने असंगतिके और भी मज़मून बाँधे हैं जो अपनी अपनी जगह बहुत अच्छे हैं, पर इससे अच्छा वह भी नहीं बांध सके, फिर और किसीसे क्या आशा रखी जाय।

\+ + +

दोहा—"*वाहि लखे लोयन लगै कौन जुवति की जोति।*
जाके तनकी छांह ढिग जौन्ह छांह सी होति ॥५१८॥"

❀ ❀ ❀

शेर—"शमारू कहना उसे "सौदा" है तारीकीए-अक़्ल।
शमाका अक्स उसके आरिज़पर कलफ़ है माहका॥"
(सौदा)

❀ ❀ ❀

सौदा कहते हैं कि उसे (यारको) "शमारू" (दीपकके समान चमकते हुए चेहरेवाला) कहना अक़्लका अन्धेर है। उसके कपोलोंपर दीपकका प्रतिबिम्ब ऐसा मालूम होता है जैसे चन्द्रमामें स्याहीका धब्बा। अच्छा यही सही, 'शमारू' न कहिए, आप उसे इस दशामें "माहरू" कह लीजिए। यह

कोई ऐसी बात नहीं है जिसके लिये झगड़ा किया जाय, ऐसा तो कहते ही हैं, चन्द्रमुख और चन्द्रमुखी एक प्रसिद्ध बात है। हां, विहारी जो कुछ कहते हैं वह ज़रूर चौंकाने-वाली बात है। इन्हें चन्द्रसाम्यपर भी सन्तोष नहीं है, यह कहते हैं—उसके मुखके प्रकाशकी कौन कहे शरीरकी "छाया"के सामने खुद चांदनी भी परछाईंका अन्धेरा बनकर रह जाती है! फिर उसकी ज्योतिके सामने और किसी व्यक्तिका प्रकाश कैसे ठहर सकता है, आंखोंमें क्योंकर समा सकता है। कैसे पसन्द आसकता है। इसका नाम है लोकोत्तर चमत्कार।

× × ×

"घर से बाहर मेरे, रश्के-माहको आने न दो।
चांदनी पै शुभा होगा सायए-दीवार का।"

(नासिख़)

उस चन्द्रवदनीको घरसे बाहर न आने दो, नहीं तो उसके प्रकाशके सामने, चाँदनीपर भित्तिकी छायाका भ्रम होगा—उसके आगे चांदनी, भींतकी परछाईं मालूम होगी।

विहारीके दोहेकी नायिकाकी छांह इस 'रश्के-माह'—(चन्द्र-प्रतिद्वन्द्वी व्यक्ति)के प्रकाशसे कहीं बढ़कर है, जिसके आगे चांदनी छांह बनजाती है।

× × ×

"त्वद्विरहापदि पाण्डुस्तन्वङ्गी छाययैव केवलया।
हंसीव ज्योत्स्नायां सा सुभग! प्रत्यभिज्ञेया॥"

(आ० स० २५१)

यह आर्याभी कुछ इसी भावकी है। नायिकाकी विरह-विवर्णताका वर्णन करती हुई सखी कहती है—सुभग! तुम्हारी विरह-व्याधि में कृश होकर वह इतनी पाण्डु—(सफ़ेद) पड़ गयी है कि

चांदनी में वह सिर्फ अपनी 'छाया' (कान्ति)से ही पहचानी जा सकती है। तनुता-(कृशता)-ने शरीरको छिपा दिया है—दृष्टिसे ओझलसा कर दिया है। और पाण्डुताने चांदनीके रंगमें रंग मिला दिया है, ऐसी दशामें विलक्षण छाया (कान्ति)ही उसे दिखाती है। पाण्डुतामें वह विलक्षण कान्ति झलकती है जो चांदनीमें नहीं है। जैसे चांदनीमें छिपी हुई 'हंसी' (हंसनी) अपनी 'छाया' परछाईंसे सूझ पड़ती है। "छाया" पद श्लिष्ट है। नायिकाकी ओर 'कान्ति'। 'हंसी'के पक्षमें परछाईं।

दोहे और आर्याके भावमें इतनाही भेद है कि आर्याकी नायिकाकी 'छाया' उसे 'मीलित'से 'उन्मीलित' करके पहचनवा देती है, और दोहेकी नायिकाकी कान्तिके आगे चांदनी परछाईं बनकर अपनी पराजय-जन्य विवर्णता को प्रकट करती है।

\+ + +

दोहा—"डर न टरै नींद न परै, हरै न कालविपाक।
छिन छाकै उछकै न फिरि, खरौ विषम छविछाक" ॥२७०॥

* * *

शेर—मै में वह बात कहां जो तेरे दीदारमें है,
जो गिरा फिर न कभी उसको सँभलते देखा ॥†

* * *

इस दोहेकी मस्तीका आलम सबसे निराला है। सौन्दर्य-जन्य प्रेमका नशा बड़ा ही विचित्र है। और नशे डरसे उतर जाते हैं, पर यह किसी डरसे भी नहीं उतरता। और नशोंमें नींद आ जाती है, पर इसमें नींद हमेशाके लिये भाग जाती है। और नशोंका असर कुछ समयके पश्चात् स्वयं उतर जाता है, पर यह जहां एक बार चढ़ा फिर क्षणभरके लिये भी नहीं

† मै=मद्य (शराब)। दीदार=दर्शन।

उतरता। प्रेमके नशेमें और दूसरे नशोंसे यह बड़ा विलक्षण "व्यतिरेक" है।

उर्दू के कविने भी यही बात कही है, पर इस ख़ूबसूरतीसे कहां। वह गिर कर ही रह गये हैं, बयानकी मस्तीमें फिर न सँभल सके, और कुछ कहनेका होश ही ग़रीबको नहीं रहा !

× × ×

दोहा—"रह्यौ ऐंच अन्त न लह्यौ, अवधि-दुसासन वीर।
आली बाढ़त बिरह ज्यों, पांचाली कौ चीर ॥"१२५॥

* * *

शेर—"जुदाईके ज़मानेकी सजन क्या ज़्यादती कहिए,
कि इस ज़ालिमकी जो हमपर घड़ी गुज़री सो जुग बीता॥"
(शाह आबरू)

"हर आन हमको तुझ बिन एक एक बरस हुई है।
क्या आगया ज़माना ऐ यार रफ़्ता रफ़्ता"।
(मीर तक़ी)

* * *

जुदाईके ज़मानेमें एक घड़ी जुगके बराबर बीतना, या एक आन (क्षण)का बरस बराबर मालूम होना भी कुछ बात है ज़रूर, पर इन कथनोंमें उतना चमत्कारजनक विस्तार नहीं है, जितना पांचाली (द्रौपदी) के चीर बढ़नेमें है। वर्ष और युगका अन्त हो सकता है, पर पाञ्चाली के चीरकी समाप्ति असम्भव है। इस "पूर्णोपमा" में इतिहास पूर्णतया साक्षी है।

× × ×

दोहा—कहत सबै बैंदी दिये, आंक दस गुनो होत।
तियालिलार बैंदी दिये, अगनित बढ़त उदोत ॥४४५॥

शेर—"ख़ाले-सियाह नाफ़े-मुदव्वर के पास है।
जो हिन्दसा कि पांच था वह अब पचास है॥"

* * *

अङ्कगणितके मूल सिद्धान्तको किस मौलिकतासे प्रकट करके बात बढ़ायी है एक! 'बेंदी'से सौन्दर्य-अङ्कमें कितना अगणित—संख्यातीत—आधिक्य आगया है।

उर्दू कवि साधारण सिद्धान्तसे आगे नहीं बढ़ सका। वह गोल नाभिपर काले तिलका बिन्दु लगाकर, पांच के पचास ही करसका है। कोई नयी बात नहीं हुई, बच्चे भी जानते हैं कि "पांच के बिंदा पचास" होते हैं।

\+ \+ \+

दोहा—*"जो न जुगति पिय मिलनकी, धूर मुकति मुँह दीन।*
जौ लहियै संग सजन तौ, धरक नरक हू की न॥" ॥५४७॥

* * *

शेर—"मुझको दोज़ख़ रश्के-जन्नत है अगर मेरे लिये।
वाँ भी आतिश हो किसीके रूए-आतिशनाक से॥"

\+ \+ \+ (ज़ौक़)

मित्रका साथ हो तो नरक भी स्वर्ग है। प्रेमके उत्कर्षपर विहारीकी यहि उक्ति बड़े मार्केकी है। सख्यभावके भक्तिमार्गपर भी यह दूरसे बड़ा मनोहर प्रकाश डाल रही है। कितने ज़ोरदार शब्द हैं, प्रेमके आवेशमें मुक्तिके मुंहपर कैसी धूल डाली है! कहते हैं कि यदि वहां प्रियके मिलनेका कोई उपाय नहीं है, तो ऐसी मुक्तिके मुँहपर, परे धूल भी डालो। यदि सजनका संग प्राप्त है तो कोई परवा नहीं, नरक ही सही, जहाँ प्रियकी प्राप्ति है, तो वह नरक, नरक नहीं, परम स्वर्ग है।

ज़ौक़ भी इसी बातको अपने ढंगपर कह रहे हैं, वह किसीके "रूए-आतिशनाक" (अग्निके समान मुख) की लपटमें जल रहे हैं और कहरहे हैं कि दोज़ख़ (नरक) की आग भी यदि इसी आगसे प्रज्वलित हो, वहां भी यही आग दहक रही हो तो मेरे लिये दोज़ख़ भी जन्नत (स्वर्ग)से अच्छा है।

भावसाम्य होनेपर भी ज़ौक़ विहारीको नहीं पहुंचते। विहारीके कहनेका ढंग हृदयहारी और भाव बहुत गम्भीर है।

उर्दू के कवि प्रियमुखाग्निके पतंग बनकर जलनेमें मज़ा समझते हैं, और चन्द्रमुखके चकोर हिन्दीकवि मुखचन्द्रिका के पानमें आनन्द पाते हैं।

\+ + +

दोहा—"*देखौं जागति वैसियै, सांकरि लगी कपाट।*
कित ह्वै आवत जात भजि को जानै किहिं बाट ॥"३४४॥

* * *

शेर—"खुलना नहीं दिल बन्द ही रहता है हमेशा,
क्या जाने कि आ जाता है तू इसमें किधर से।"(ज़ौक़)

* * *

उर्दू के आशिक़ोंका दिल हमेशा ग़मसे बन्द रहता है। ज़ौक़ कहते हैं कि 'हमारा दिल तो हमेशा बन्द ही रहता है, फिर न जाने तू इसमें किधरसे आजाता है।' शेर बेशक बहुत अच्छा है, सीधा और साफ़ है। तोभी बांकपन और जिद्दतसे ख़ाली नहीं। पर, बन्द दिलमें उसका—उसके ध्यानका—आजाना, जिसकी चिन्तामें वह बन्द है, आश्चर्यजनक या असम्भव नहीं है, स्वाभाविक है।

दोहेका भाव इससे कहीं चमत्कृत है, कहनेवालेकी तन्मयता, बेख़ुदी और भोलेपनके भावको किस सुन्दरतासे दिखलाया है।

स्वप्नदशाके मिथ्यामिलनकी सत्यप्रतीति कैसे सच्चे रूपमें प्रकट की है कि बस सुनकर तबीअ़त फड़क जाती है, भावावेशकी सी दशा हो जाती है।

जागकर देखा तो किवाड़ बराबर बन्द हैं, साँकर वैसेही लगी हुई है, इस बन्द मकानमें वह (चित-चोर) किधर होकर घुस आता है और फिर किस रास्तेसे निकल भागता है, कौन जाने, किससे पूछें!

÷ ÷ ÷

सोरठा—"मैं समझ्यो निरधार, यह जग काचौ काच सौ।
एकै रूप अपार, प्रतिबिम्बित लखियत जहां॥"६६६॥

* * *

शेर—"जगमें आकर इधर उधर देखा,
तू ही आया नज़र जिधर देखा।" (मीर दर्द)

\+ + +

'मीर दर्द' उर्दूके एक पहुंचे हुए सूफ़ी शाइर थे। वह अपने अनुभवकी जो कुछ बात ऊपरके शेरमें कहते हैं, उसमें सचाई ज़रूर है, उन्होंने ऐसा ही देखा होगा। पर और लोग इस बातको कैसे समझें, संसारमें तो ये अनेक पदार्थ दिखलायी दे रहे हैं।

विहारीने इस तत्त्वको वेदान्तके "प्रतिबिम्बवाद" के आधार-पर काचकी उपमा देकर हृदयङ्गम प्रकारसे समझा दिया है, वह कहते हैं कि हमने अच्छी तरह अन्वयव्यतिरेक द्वारा निर्णय करके—समझ लिया है, (तुम भी समझ लो) यह संसार काचके शीशेकी तरह कच्चा—क्षणभंगुर—है, प्रतिबिम्बग्राही होनेसे इसमें वही एक ब्रह्म अपाररूपसे प्रतिबिम्बत हुआ दीख रहा है। यह

सब उसीका 'विराट्रूप' है जो देख रहे हो। "सांचो को सो ढाखो तातें सांचो सो निहारियतु" (कृष्णकवि)*

\+ + +

दोहा—"*भूषन-भार सँभारि है, क्यौं यह तन सुकुमार ।*
सूधे पांय न धर परत, सोभा ही के भार ॥"५३७॥

÷ ÷ ÷

† नाज़ कहता है कि ज़ेवरसे हो तज़ईने-जमाल ।
नाज़ुकी कहती है सुर्मा भी कहीं बार न हो ॥ (अकबर)

यों नज़ाकतसे गरां सुर्मा है चश्मे-यारको ।
जिस तरह हो रात भारी मर्दुमे-बीमारको ॥
(नासिख़)

गोयन्द कि शब बरसरे-बीमार गरानस्त ।
गर सुर्मा बचश्मे तो गरानस्त अज़ानस्त ॥
(नासरअली)

* * *

नासरअली और नासिख़के शेर बिलकुल मिलते जुलते हैं, आज़ादके शब्दोंमें नासिख़ने "फ़ारसीकी मख़लूक़को तनासुख़

---

* सुप्रसिद्ध सूफ़ी कवि सूर्यनारायण 'महर' ने इस भावको यों अभिव्यक्त किया है:—

"तू है निगारे-ज़ेबा आईनाख़ाना दुनिया,
वहदत में हो रहा है क्या अज़दहाम तेरा ।"

निगारे-ज़ेबा=सुन्दर मूर्ति । आईनाख़ाना=शीशमहल । वहदत=एकता । अज़दहाम=अनेकता, समूह ।

† नाज़=हाव, भाव, विलास । तज़ईने-जमाल=रूपका निखार ।

देकर उर्दूकी ज़िन्दगी दे दी है"—फ़ारसी शेरका अपने शब्दोंमें सिर्फ़ उल्था कर दिया है। फ़ारसीके कवि माशूक़की मस्त आँखको 'चश्मे-बीमार' बाँधा करते हैं, यह उनका एक कवि-समयसिद्ध सा भाव है। कवि कहता है कि तेरी आंखपर जो सुर्मा (अंजन) भारी मालूम होता है वह ठीक ही है, बीमारके सिरपर रात भारी गुज़रती ही है। सुर्मेमें और रातमें साम्य है, दोनों स्याह हैं, आंख बीमार है ही। सो कविको यह मज़मून मिल गया। पर इसमें कुछ ऐसा निरालापन या चमत्कार नहीं है, सब अंगोंमें स्वभावसे ही सुकोमल और इसपर बीमार आंख, सुर्मेके भारको न सह सके तो ताज्जुब क्या है। अकबर साहबने इस मज़मूनमें एक जिद्दत पैदा करके बेशक जान डाल दी है। उन्होंने अपने शेरमें केवल बीमार या तन्दुरुस्त आंखके लिये ही नहीं, सारे शरीरके लिये सुर्मेका भार असह्य ठहराया है। क्या खूब कहा है "नाज़ुकी कहती है सुर्मा भी कहीं बार न हो"—वाह रे नाज़ुकी! तेरी नज़ाकत!

अब ज़रा विहारीकी नाज़ुकख़्याली मुलाहज़ा फ़र्माइए, सुर्मेका आख़िर कुछ तो वजूद है, इसकी थोड़ी मिक़दारमें भी कुछ न कुछ भार—गुरुता—ज़रूर है, नाज़ुकी, (सौकुमार्य) उसे न सँभाल सके तो आश्चर्यकी बात नहीं,—पर विहारीकी सुकुमारी नायिकाके तनकी सुकुमारतामें हद दर्जेकी नज़ाकत है, जो शोभाके भारसे ही लची जाती है, ज़मीनपर सीधे पांव नहीं पड़ते! फिर भूषणोंके भार सँभाल सकनेकी तो बात ही क्या है!

मुन्शी देवीप्रसाद 'प्रीतम' ने विहारीके इसी दोहेका क्या अच्छा अनुवाद किया है—

"सँभाले बारे-ज़ेवर क्या तेरा नाज़ुक बदन प्यारी!
कजी रफ़्तारकी कहती है बारे-हुस्न है भारी॥"

यह शेर भी इसी भाव का है—

"सीधे सुभाव चल भी नहीं सकते अब तो वह।
† कैफ़े-शबाब भी उन्हें एक बार हो गया ॥"

(आरिफ़-हसवी)

\+ + +

दोहा—"पहिर न भूषन कनकके, कहि आवतु इहिं हेतु।
दर्पनके से मोरचे, देह दिखाई देत ॥" ५२६ ॥

* * *

"नहीं मोहताज ज़ेवरका जिसे खूबी खुदा देवे,
कि आख़िर बदनुमा लगता है देखो चांदको गहना ॥"

(आबरू)

ऊपरके शेरमें उर्दू कविने 'गहना' शब्दके श्लेषके आधारपर एक बात निकाली है, पर अच्छी तरह बयान नहीं हो सकी, 'मोहताज न होने' और 'बदनुमा लगने' में बहुत फ़रक़ है। विहारीके दोहेमें यह मज़मून बहुत खूबसूरतीके साथ बँधा है। सोनेके भूषण पहननेका निषेध किफ़ायतके ख़्यालसे या किसी और विचारसे नहीं किया जाता, बल्कि सौन्दर्यरक्षाकी दृष्टिसे। दर्पणके समान स्वच्छ शरीरपर भूषण कुछ ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे आईनेपर मोरचा, ज़ंग।

आजकलके 'भूषणविरोधी' समाजसुधारक, विहारीके इस दोहेके आधारपर आन्दोलन करें तो उन्हें अच्छी सफलता प्राप्त हो सकती है! अर्थशास्त्रकी दुहाईका असर भूषणाभिलाषिणी

† कैफ़े-शबाब = जवानी का मद। बार = भार।

ललनाओंपर नहीं हो सकता, पर कविताका यह जादू बेशक चल सकता है !

\+ \+ \+

दोहा—"लिखन बैठि जाकी सबिहि, गहि गहि गरब गरूर ।
भये न केते जगतके, चतुर चितेरे कूर ॥ ५३४ ॥"

* * *

शेर—"शक्ल तो देखो मुसव्विर खींचेगा तसवीरे-यार,
आपही तसवीर उसको देखकर हो जायगा ॥"
(ज़ौक़)

* * *

"न हो महसूस जो शै किस तरह नक़्शेमें ठीक उतरे ।
शबीहे-यार खिंचवाई कमर बिगड़ी दहन बिगड़ा ॥"
(मसहफ़ी)

* * *

विहारीके उक्त दोहेमें और इन शेरोंमें कुछ भावसाम्यकी छटा है। ज़ौक़को तो आशा ही नहीं है कि मुसव्विर यारकी तस्वीर खींच सकेगा, उनका ख़्याल है कि मुसव्विर यारको देखकर खुद तस्वीर बन जायगा। ज़ौक़के मज़मूनमें मुहावरेका ज़ोर है, किसी अदृष्टपूर्व आश्चर्यजनक पदार्थको देखकर हक्का बक्का हो जानेको—स्तब्ध भावकी स्थितिको—'तस्वीर बन जाना' या 'बुत बन जाना' बोलते हैं।

मसहफ़ीने 'शबीहे-यार' खिंचवायी थी, पर नक़्शा ठीक नहीं उतरा, तस्वीरमें मुंह और कमर बिगड़ गयी, पर इसमें वह मुसव्विर चित्रकार)का दोष नहीं बतलाते । उर्दू, फ़ारसीवालोंके

यार (माशूक़)के मुँह और कमर होती ही नहीं, जो चीज़ है ही नहीं, नज़र ही नहीं आती, उसकी तस्वीर क्या ख़ाक खिंचे !

ज़ौक़ने तो मुसव्विरको तस्वीर खींचनेका मौक़ा ही नहीं दिया, मसहफ़ीने एकबार तस्वीर खिंचवायी थी सो उसकी कमर और मुँहका नक़्शा बिगड़ गया।

विहारी कहते हैं कि एक बार नहीं, अनेक बार, और एक नहीं संसार भरके अनेक, साधारण नहीं चतुर, चितेरे—जिन्हें अपनी चित्रकलापर गर्व था—दावेके साथ'सबी'—शबीह—खींचने बैठे, पर चित्रकार बेवकूफ़ बनकर—हारकर—बैठ रहे। चित्र नहीं खिंच सका, पर नहीं खिंच सका।

विहारीके दोहेके सामने ये दोनों शेर दोपहरके दीपक हैं।

* * *

चित्र क्यों न बन सका ?

उर्दू कवियोंने 'तस्वीरे-यार' के न खिंच सकनेका सबब साफ़ साफ़ बतला दिया है, पर विहारीलाल इस बारेमें चुप हैं, उन्होंने चतुर चितेरोंके 'कूर' कहलाकर रह जानेका—चित्र न बन सकने का—कोई कारण नहीं कहा विहारीलालके कारण निर्देश न करनेमें कुछ रहस्य है। इस विषयमें उनका चुप रहना बहुत ही उचित हुआ है, उन्होंने यहां बड़ी मार्मिकता प्रकट की है। जिस काममें जगत्के कितने ही चतुर चित्रकार बेवकूफ़ साबित हो चुके हैं, उसका कारण, शब्दचित्र द्वारा प्रकट करना भी कुछ वैसी ही बात होती ! कारण कोई बहुत ही गूढ़ है। कितनेही चित्रकारोंके बेवकूफ़ बननेमें कारण भी कितने ही हो सकते हैं, उन सबके

उल्लेखकी गुंजायश छोटेसे दोहेमें कहां ? एकाधका निर्देश करना, कारणबाहुल्यके महत्त्वको घटाना है, हम समझते हैं यही समझकर कारणान्वेषणका कार्य कविने दूसरे लोगोंकी समझ बूझपर छोड़ दिया है।

कुछ प्राचीन टीकाकारोंने अपनी अपनी समझके अनुसार, चित्र न बन सकने के भिन्न भिन्न कारण समझाये हैं, इसके कुछ नमूने देखिये—

कृष्ण कविने इस दोहेपर अपने कवित्तके तिलकमें कहा है—

"यह नायिकाकी निकाई सखी नायकसों कहती है कि वाहि देखे "सात्त्विक भाव" होत है, यातें चितेरे पर क्योंऊ लिखत बनै नाहीं।"

"......... *काहू पै न बन्यो वाके चित्रको बनाइवो*"—

(१) सात्त्विक भावका आविर्भाव भी चित्र न बन सकनेका कई प्रकारसे एक कारण हो सकता है—

नायिकाका अलौकिक रूप लावण्य देखकर किसी चित्रकारको सात्त्विक "स्तम्भ" होगया तो हाथही काम नहीं करता। किसीको "प्रस्वेद" होगया तो उसने चित्रकारीका रंग ही न जमने दिया। किसीको "कम्प" हो गया तो चित्ररेखाएँ तिरछी टेढ़ी होकर रह गयीं। किसीको "आंसू" (वाष्प) उमड़ आये तो कुछ सूझता ही नहीं, नज़र ही नहीं जमती। चित्रलेखनमें इस प्रकार सात्त्विक भावके बाधक होने का प्रमाण भवभूतिने माधवकी दशामें दिखलाया है। माधव अपनी प्रिया मालतीका चित्र लिखने बैठा है, पर नहीं लिख सकता, बेचारा बड़े 'विषाद'से कहता है—

"वारं वारं तिरयति दृशावुद्गतो वाष्पपूर-
स्तत्संकल्पोपहितजडिम स्तम्भमभ्येति गात्रम्।
सद्यः स्विद्यन्नयमविरतोत्कम्पलोलाङ्गुलीकः
पाणिर्लेखाविधिषु नितरां वर्तते किं करोमि ॥"

* * *

अर्थात् वार वार उमड़े हुए आंसुओंका प्रवाह आंखोंपर पर्दा डाले हुए है, मालतीविषयक संकल्पसे शरीर में जड़ता आकर 'स्तम्भ' हो रहा है, चित्र लिखनेमें इस हाथकी यह हालत है कि पसीनेमें तर है, उँगलियां निरन्तर कांप रही हैं। क्या करूँ, कैसे चित्र लिखूँ!

\+ \+ \+

(२) हरि कवि चित्र न बन सकनेका कारण "रूपकी अधिकाई" बतलाते हैं—अर्थात् रूप इतना अधिक है कि वह चित्रके सांचेमें किसी प्रकार नहीं समा सकता! यह भी हो सकता है, बड़े आदमी कहते हैं इसलिये इसे भी ठीक समझना चाहिए!

\+ \+ \+

(३) शृङ्गारसतसईकारने विहारीके इसी चोटीके दोहेकी छायापर—(अपनी समझसे शायद विहारीका भाव स्पष्ट करनेके लिये!)—जो यह नीचेका दोहा लिखा है, इसमें भी इन चतुर चितेरोंकी चर्चा है, चित्र न खिंच सकनेका एक कारण स्पष्ट कर दिया गया है। इनके कहनेके ढंगसे मालूम होता है कि चित्र तो खिंचता है, पर उसमें उसकी "बांकी अदा"--(हाव भावकी छटा)--नहीं खिंचती।

दोहा —"सगरब गरब खींचै सदा, चतुर चितेरे आय । *
पर वाकी बांकी अदा, नेकु न खींची जाय ॥" ४७ ॥
(शृङ्गारसतसई)

\+ + +

(४) एक कारण यह भी बतलाया जाता है कि नायिका वयःसन्धिकी अवस्थामें है--रूप निरन्तर वर्धमानावस्थामें है वह प्रतिक्षण बढ़ रहा है, बराबर बदल रहा है. उसे एक हालत पर क़याम नहीं, चित्रकार. चित्र बनाकर अच्छी तरह दुरुस्त करके, उसे जब असलसे (नायिकासे) मिलाकर देखता है तो बिम्ब और प्रतिबिम्बमें बहुत भेद पाता है, चित्र बनाकर मिलान करने तकके थोड़े समयमें ही--कुछ मिनटोंमें ही—कुछसे कुछ हालत हो जाती है, नक़्शा ही बदल जाता है, चित्रकार बेचारा हक्का बक्का रह जाता है । पद्माकरने यही कहकर ऐसी किसी व्रजबालाके स्वरूप-वर्णनमें (अपनी) असमर्थता प्रकट की है—

"पल पलमें पलटन लगे, जाके अंग अनूप,
ऐसी इक व्रजबालको, कहि नहिं सकत सरूप ।"

* * *

* कुछ ऐसेही भाव उर्दूके नीचे लिखे शेर भी ज़ाहिर करते हैं:—

"तस्वीरमें उतरा न फ़रोगे-रुख़े-रोशन,
सांचेमें कभी धूपको ढलते नहीं देखा ।" (बदर, बदायूनी)

"नाज़ुक है न खिंचवाऊँगा तस्वीर मैं उसकी'
चहरा न कहीं अक्स के बदले उतर आए ।" (अर्शद-दहलवी

"क्या मुसव्विर यारकी तस्वीरे-क़ामत खींचते,
खिंच न सकती उनसे वह गर ता क़यामत खींचते ।" (ज़फ़र)

इस मतकी पुष्टि उर्दू के सर्वश्रेष्ठ स्वर्गीय महाकवि जनाब 'अकबर' भी अपने इन पद्योंमें करते हैं, फ़रमाते हैं—

"लहज़ा लहज़ा है तरक़्क़ी पै तेरा हुस्नोजमाल,
जिसको शक हो तुझे देखे तेरी तसवीरके साथ।"
"तस्वीर असल से नहीं रखती मुताबक़त, *
तस्वीर इधर खिंची और उधर तुम बदल गये।"
"तस्वीर बीं की फ़ानी वो माज़ी पै है निगाह,
ज़र्राते-जिस्म हालके सांचेमें ढल गये।" †

\+ + +

(५) नायिकाकी नज़ाकत और नातवानी—(सौकुमार्य और विरहदौर्बल्य)—भी चित्र न खिंच सकनेमें कारण हो सकता है। चित्रकार डरता है कि कहीं चित्रके साथ वह (नायिका) भी न खिंच जाय !

"नातवानी मेरी देखी तो मुसव्विरने कहा,
डर है तुम भी कहीं खिंच आओ न तसवीरके साथ॥" ‡

\+ + + (अकबर)

(६) एक कारण यह भी हो सकता है, यदि सहृदय भावुक इसे पसन्द करें, नायिकाके प्रत्येक अङ्गका रूपमाधुर्य इतना आकर्षक है, कि जिस चित्रकारकी दृष्टि जिस अङ्गपर पहले पड़ी, बस वह वहीं चिपककर रह गयी, फिर दूसरे अङ्गपर जा ही न

---

* मुताबक़त=सादृश्य। † "तस्वीरबीं"=चित्रद्रष्टा। फ़ानी=नश्वर। माज़ी=भूत। ज़र्राते-जिस्म=शरीरके परमाणु। हाल=वर्त्तमान।

‡ इस 'खींचातानी' पर "ग़ालिब" कुछ और ही फ़रमाते हैं:—

"नक़्श को उसके मुसव्विर पर भी क्या क्या नाज़ है,
खींचता है जिस क़दर उतना ही खिंचता जाय है।"

सकी, और कुछ देख ही न सकी। इस प्रकार सर्वाङ्गके देखनेका अवसर किसी भी चित्रकारको न मिला, सब एक ही एक अङ्ग देखकर रह गये! इस दशामें सर्वाङ्ग सुन्दर चित्र बनता तो कैसे बनता?

यह बात एक पुराने प्राकृत कविकी कल्पना है—

"जस्स जहँ विश्र पढमं तिस्सा अङ्गम्मि णिवडिश्रा दिट्ठी।
तस्स तहिं चेश्र ठिश्रा सव्वङ्गं केण वि ण दिट्ठम्॥"
(यस्य यत्रैव प्रथमं तस्या अङ्गे निपतिता दृष्टिः।
तस्य तत्रैव स्थिता सर्वाङ्गं केनापि न दृष्टम्। (गा० स० ३।३४)

\+ + +

(७) चित्र कैसे बने, अवयवोंकी पृथक् पृथक् प्रतीति तो होती ही नहीं। उसके अलौकिक कान्तिवाले अङ्ग आपसमें इस प्रकार प्रतिबिम्बित हो रहे हैं—एककी आकृति दूसरेमें पड़ी इस तरह झलक रही है—कि यह हाथ है, यह मुख है, इत्यादि अवयव-विभागका पता ही नहीं चलता! कोई चतुर आवे तो, इस समस्याका निर्णय तो करे! फिर कहे कि चित्र क्यों नहीं बना। इस संस्कृत पद्यमें यही बात कही गयी है—

"अवयवेषु परस्परबिम्बिते-
अतुलकान्तिषु राजति तत्तनोः।
अयमयं प्रविभाग इति स्फुटं
जगति निश्चिनुते चतुरोऽपि कः।"

× + ×

(८) चित्र तो तब बन सके जब श्रीमती 'अङ्गना'का कोई अंङ्ग दीख पड़े, वहाँ तो सौन्दर्यज्योतिके चाकचिक्यमें चित्रकार बेचारेको कुछ सूझता ही नहीं, आंखें ही चौंधिया गयीं। ज्योतिके पर्देमें ज्योतिष्मान् पदार्थ छिपा हुआ है—ज्योति दीखती है, पर

जिससे वह ज्योति निकल रही है, वह चीज़ नज़रसे ग़ायब है।*(मूसाकी तजल्लीका सा नज़ारा है!)—

"सुन्दरी [कीदृशी] सा भवत्येष विवेकः केन जायते।
*प्रभामात्रं हि तरलं दृश्यते न तदाश्रयः ॥" (दण्डी)

× × ×

(९) कोई चित्रकार अपनी निष्फलतापर स्वयं कह रहा है—

"जो नक़ाब उट्ठी मेरी आंखोंपै पर्दा पड़ गया।
कुछ न सूझा आलम उस पर्दानशींका देखकर ॥"
(मामिन)

† "नज़्ज़ारे ने भी काम किया वां नक़ाब का।
मस्ती से हर निगह तेरे रुख़पै बिखर गई ॥"
(ग़ालिब)

"जब नक़ाब उल्टी निगाहोंका हुआ ऐसा हुजूम।
पड़ गये परदे वो रुख़ आंखों से पिनहां होगया ॥"
(अमीर मीनाई)

---

* कविराज शङ्करजी महाराज का एक पुराना सवैया है, इसमें कहा गया है कि—आंखों से झरने वाली बिजली (सर्च-लाइट की तरह)की चकाचौंध और मुस्कराहटके पवि—(वज्र) प्रहारके मारे चित्र न बन सकेगा—

"ऐसी न देखी सुनी कबहू हम जैसी कि आज लखी छवि तेरी,
'शंकर' सर्द भयो मुख पेखि शशी द्युति देखि जरे रवि तेरी।
आंखनिसों बिजुरी सी झरे, मुसिक्यान प्रहार करे पवि तेरी,
'कैसे चितेरे बनावेंगे चित्र' करेंगे बड़ाई कहा कवि तेरी ॥"

† नज़्ज़ारा—दर्शन। रुख़=मुख। निगह, निगाह,=दृष्टि। नक़ाब=परदा घूंघट। हुजूम, कसरत=भीड़। पिनहां=छिपा हुआ, अदृश्य। नक़ाबे-आरिज़, हिजाबे—आरिज़=कपोल (मुख) का परदा।

"न देखने पाई आंख उनको अगर उठी भी नक़ावे-आरिज़ ।
हुई निगाहोंकी इतनी कसरत कि बनगई ख़ुद हिजावे-आरिज़ ॥"
(जलाल)

\+ \+ \+

(१०) कोई नज़ारेकी ताब न लाकर कह रहा है—
"दिला ! क्योंकर मैं उस रुख़सारे-रोशन के मुक़ाबिल हूं,
जिसे ख़ुरशीदे-महशर देखकर कहता है मैं तिल हूं ।" *
(अकबर)

❀ ❀ ❀

इत्यादि अनेक कारण चित्र न बन सकने के हो सकते हैं। वास्तविक कारण क्या था, सो तो विहारी ही जानते होंगे, या उनके चतुर चितेरे !

"की है य बन्दिश ज़हने-रसाने, जिसने देखा हो वह जाने ।"

---

* किसी चमकीले चेहरेको देखनेके लिये बेचैन अपने दिलसे कोई कहता है कि भाई ! क्यों मजबूर करता है, मैं उस रुख़सारे-रोशनके—प्रकाशमय मुखके—सामने कैसे जाऊं, उसपर किस तरह दृष्टि डालूं ? उसपर—जिसे देखकर प्रलयकालका सूर्य कहता है—कि तेरे सामने मैं 'तिल'—कपोल-परका काला तिल—हूं ! परले दर्जेकी अत्युक्ति है । परमार्थपक्षमें ले जानेपर यह अत्युक्ति यथार्थतामें परिणत होकर और भी हृदयंगम हो जाती है । गीताकी उक्तिसे भी कुछ बढ़ जाती है। उस परमज्योतिके सम्मुख प्रलयकालके सहस्रों सूर्य काले तिलसे भी काले हैं !

"दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥" (गीता)—

(६) विहारी और अन्य हिन्दी कवि

विहारीके पूर्ववर्त्ती, समसामयिक और परवर्त्ती हिन्दी कवियोंकी कवितामें और विहारीकी कवितामें भी कहीं कहीं बहुत सादृश्य पाया जाता है, पर ऐसे स्थलोंमें विहारी अपने पूर्ववर्त्ती कवियोंको प्रायः पीछे छोड़ गये हैं, समसामयिकोंसे आगे रहे हैं, और परवर्त्ती उन्हें नहीं पा सके हैं। इसके भी कुछ नमूने देखिए—

विहारी और केशव

दोहा—"*नैंकु हँसौंहीं बानि तजि, लख्यौ परत मुख नीठि।*
चौका चमकनि चौंधमें, परति चौंधसी दीठि॥" ४८३॥

❀ ❀ ❀

कवित्त—तैसीयै जगति जोति सीस सीस-फूलनकी
चिलकत तिलक तरुनि! तेरे भालको,
तैसीयै दसनदुति दमकत 'केसोराय'
तैसोई लसत लाल कण्ठ कण्ठमालको।

—नवीन ज्योतिर्विज्ञानसे सिद्ध है कि सूर्य्यका पिण्ड वस्तुतः घोर काला है, जो ज्योतिर्मय प्रचण्डतापसे उत्तप्त वायव्यों और वाष्पोंके घने मेघसे आच्छादित है। ज्योतिका पर्दा पड़ा हुआ है, कहीं कहीं इन्हीं भास्वर बादलोंके फटनेसे गवाक्षसे बन जाते हैं, जिन्हें ज्योतिषी सूर्य्यके धब्बे कहते हैं। इन्हीं झरोखोंसे सूर्य्यके वास्तविक पिण्डका कभी कभी दर्शन हो जाता है। कोई कोई नन्हाँ धब्बा वस्तुतः ५००० मीलसे भी अधिक व्यास का अनुमित हुआ है। इसलिये 'अकबर' की काले तिलकी उपमा बहुत ही युक्तिसङ्गत और विज्ञानसम्मत है।

तैसीयै चमक चारु चिबुक कपोलन की
झलकत तैसो नाक-मोती चलचालको,
हरे हरे हँसि नैक चतुर चपलनैनि
चित चकचौंधै मेरे मदन गुपालको ॥

* * *

केशवदासजीने अपने मदनगोपालके चित्तकी चकाचौंधके लिये इतनी चमकीली चीज़ें एक जगह जमा कर दी हैं कि उनकी मौजूदगीमें चकाचौंध न हो तो ताअज्जुब है। सिरपर जगमगाता सीसफूल, माथेपर चमकता तिलक, दांतोंकी चमक, कण्ठमें लाल-रत्नोंका कण्ठा, नाकमें हिलता हुआ आबदार मोती, फिर चिबुक और कपोलकी दमक, उसपर चपलनैनीका ज़ोर ज़ोरसे हँसना, इतनेपर भी चकाचौंध न हो, तो कब हो ? यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं हुई।

पर विहारीके यहां कमाल है, नायिकाके हँसने में जो ज़रा दांतोंका चौका खुलता है तो उसीके प्रकाशसे देखनेवालेकी आंखोंमें ऐसी चकाचौंध छा जाती है, कि मुँह मुश्किलसे नज़र आता है। आंखोंके सामने जब बिजली कौंद जाती है तो सामने की चीज़ नज़र नहीं आती ! इस अकेली दशनप्रभाके सामने केशवदासकी इधर उधरसे जुटायी हुईं सारी चमकीली चीज़ें मात हैं !

× × ×

दोहा—चिर जीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधरके बीर ॥२२६॥

❀ ❀ ❀

कवित्त—अनगने औठपाय रावरे गने न जाहिं
वेऊ आहि तमकि करैया अतिमान की,
तुम जोई सोई कहो वेऊ जोई सोई सुनैं
तुम जीभ पातरे वे पातरी हैं कान की।
कैसे केसोराय काहि बरजौं मनाऊँ काहि
आपने सयाँ धौं कौन सुनत सयान की
कोऊ बड़वानलकी ह्वै है सोई ऐहै बीच
तुम वासुदेव वे हैं बेटी वृषभान की॥

❀ ❀ ❀

केशवदासकी मानापनोदनिपुणा सखी नायक नायिकाके अनगिने औठपायों† और आये दिनके प्रणयकोपसे तंग आ गयी है। नायक जीभका पतला है—मौक़े बेमौक़े कहनी अनकहनी कुछ ही बात, हर किसीके आगे कह बैठता है—उधर नायिका कानकी पतली—कानोंकी कच्ची—है, किसी पिशुनसे जो लाग लगावकी वात सुनी उसेही सच मानकर खिंच बैठी। ऐसी दशामें सखी वेचारी क्या करे, किसे बरजे और किसे मनावे, दोनों अपनी बुद्धिमत्ताके सामने किसीको नहीं बदते, किसीकी नहीं सुनते, क्यों सुनें? कोई किसीसे कम है? दोनोंही बड़े बापकी औलाद हैं—बराबरका जोड़ है—यह हैं 'वासुदेव' तो वह हैं, 'बेटी वृषभान' की। दोनों ही 'तेजस्वी' हैं। कोई 'वडवानलकी बेटी' होगी तो वही तुम्हारे बीच में पड़ेगी। किसी साधारण व्यक्ति का काम नहीं है जो "वासुदेव" और 'वृषभानकी बेटी' के बीच में पड़कर सन्धि करासके।

---

† औठपाय= चञ्चलता, उत्पात, शरारत। (अबतक इसी अर्थमें बोला जाता है।)

"किसीसे क्यों दबें हम साहबे-तेग़ोसिनाँ ‡ होकर"

विहारीकी सखीका परिहास बड़ाही ला-जवाब है, रसिक मोहन सुनकर फड़क ही गये होंगे ! इससे अच्छा साफ़, सच्चा, सीधा और दिलमें गुदगुदी करनेवाला मीठा मज़ाक़ साहित्य-संसारमें शायद ही हो ।

'वृषभानुजा' और 'हलधरके वीर'में जो शब्दश्लेषमूलक ध्वनि है वह बहुत ही मधुर है, सभङ्ग और अभङ्गश्लेषका अत्युत्तम उदाहरण है । श्लेषमें कुछ न कुछ अर्थकी खींचतान रहती है, पर यहां वह बात नहीं, बहुत बेसाख़्तगी है ।

वृषभानुजा—वृषभानुकी पुत्री (राधा) और वृषभ-अनुजा, बैलकी छोटी बहिन । हलधरके वीर—बलभद्रके भाई—और हल-धर—बैलके भाई । पहला 'सभङ्ग' और दूसरा 'अभङ्ग' श्लेष है । शब्दश्लेषमूलक परिहासध्वनि कितनी मज़ेदार है !

इन शब्दोंसे इस प्रकारकी परिहासध्वनि निकालनेवालोंके विषयमें कोई भगवद्भक्त टीकाकार कहते है—"कोऊ अज्ञानी यामें गाय अरु बैलको अर्थ काढ़तु है"—ठीक है, पर साहित्यमार्गमें यह 'अज्ञान' अनिवार्य है, कवि लोग मज़ाक़में किसीका लिहाज़ नहीं करते, वह ज्ञानगुदड़ीको एक ओर फेंककर सब कुछ कह गुज़रते हैं । फिर यहां ज्ञानमार्गानुसार सीधा साधा अर्थ करनेमें तो कुछ भी चमत्कार नहीं रहता। 'सतसई' कुछ राधाकृष्णकी वंशावलिकी पोथी तो नहीं है, जो सहृदय उसमें इतनाही पढ़कर सन्तुष्ट हो जायँ कि राधाजीके पिताका नाम वृषभानु था और श्रीकृष्णके भाई बलदाऊजी थे !

* * *

‡ साहिबे-तेग़ोसिनाँ—तलवार और भाले वाले (शस्त्रधारी)

दोहा—वे ठाढ़े उमदा [डा] त उत, जल न बुझै बड़वागि ।
जाही सौं लाग्यौ हियौ, ताही के उर लागि ॥ ८३ ॥

\+ \+ \+

कवित्त—मेरो मुँह चूमे तेरी पूजि साध चूमिवेकी
चाटे ओस असु क्यों सिरात प्यास डाढ़े हैं,
छोटे कर मेरे कहा छुवावति छबीली छाती
छुवावो जाके छुइवे को अभिलाष बाढ़े हैं।
खेलन जो आई हो तौ खेलो जैसे खेलियत
'केसोराय' की सौं तैं ये कौन खेल काढ़े हैं,
फूल फूल भेटति है मोहि कहा मेरी भटू
भेटै किन जाय वे जु भेटिबे को ठाढ़े हैं ॥*

÷ ÷ ÷

केशवदासजीका यह विस्तृत वर्णन अपने ढंगमें बहुत अच्छा है, ख़ूब साफ़ है, एक एक बातको, ख़ूब तफ़सीलवार समझाकर कहा है, इतनेपर भी बन्धशैथिल्य नहीं होने पाया। केशवदासजी

---

* कोई मदमाती नायिका दूर खड़े नायकको दिखाती हुई खेलनेके बहाने सखीसे लिपटकर अनुराग-चेष्टा प्रकट कर रही है। इसपर सखी कहती है—कि मेरा मुँह चूमनेसे तेरी चूमनेकी साध (हवस) पूरी होचुकी, प्यासले डाढ़े—जलते हुए, असु = प्राण ओससे कैसे सिरात = शीतल हो सकते हैं (ओस चाटे प्यास कहीं बुझती है) मेरे छोटे छोटे हाथोंसे छातीको क्यों छुआती है। जिनसे छुवाना इष्ट है, उन्हींसे छुवाओ। ऐ मेरी भटू (सखी) यह तू फूल फूलकर मुझसे क्यों भेंट रही है—लिपट रही है—वह जो भेंटनेको खड़े हैं उनसे जाकर क्यों नहीं भेंटती? खेलने आयी हो तो खेलनेकी तरह खेलो, ये क्या नये खेल निकाले हैं!

की कवितामें ऐसा 'प्रसाद' गुण बहुत कम है, उसमें कोई न कोई कड़ी गांठ रहती ही है, पर इसमें ऐसा नहीं है। ख़ूब घुला हुआ बयान है!

विस्तृत व्याख्यानको इस प्रकार संक्षिप्त करके कहना कि मतलबकी कोई बात न छूटने पावे और सुननेवाला समझ जाय, उसपर असर हो, कथनशैलीकी यह कला कुछ कम कठिन नहीं है, विहारी इस बातके उस्ताद हैं। देखिये इस तफ़सीलको कितना मुख़्तसिर किया है, फिरभी ज़ोरे-कलाम क़ायम है, कम नहीं हुआ। केशवदास कहते हैं—'ओस चाटे प्यास नहीं जाती।' विहारी कहते हैं जलसे—समुद्रजलसे—वड़वानलकी आग नहीं बुझती, प्रत्युत और बढ़ती है—(यह आग घनश्यामसे ही बुझेगी)—कितना ज़बरदस्त दृष्टान्त है, ओसकी इसके सामने क्या बिसात है! 'वे ठाढ़े उमड़ात उत' में कितना उम्दा भाव उमड़ रहा है! "जाही सौं लाग्यौ हियौ, ताहीके उर लाग"—क्या पतेकी कही है, जिससे मन लगा है उसीकी छातीसे जाकर लग।

विहारी और सुन्दर

दोहा—कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल।
कहुं मुरली कहुं पीतपट, कहूं मुकुट बनमाल ॥२२७॥

\+ \+ \+

कवित्त—कहूं बनमाल कहूं गुञ्जनिकी माल कहूं
सङ्ग सखा ग्वाल ऐसे हास [ल] भूलि गये हैं,
कहूं मोरचन्द्रिका लकुट कहूं पीत पट
मुरली मुकुट कहूं न्यारे डारि दये हैं।

कुण्डल अडोल कहूं 'सुन्दर' न बोलें बोल
लोचन अलोल मानो काहू हर लये हैं,
घूंघटकी ओट ह्वैके चितयो कि चोट करी
लालन तो लोट पोट तबहीतें भये हैं ॥

❀ ❀ ❀

दोनों कवियोंने एकही प्रसंगका वर्णन किया है। कविताके दो भेद होते हैं 'समास' और 'व्यास'। थोड़ी बातको फैलाना—विस्तृत करके कहना—उतना कठिन नहीं है जितना, बहुतको (व्यासको) थोड़ेमें (समासमें) लाना। सुन्दरने अपने कवित्तमें जिस बातको खूब फैलाकर कहा है, विहारीने उसे बड़ी उत्तमतासे खूब कसकर समासमें दिखाया है। सुन्दरजीकी भाषा अनुप्रास-पूर्ण होनेपर भी रचना कुछ शिथिल है।

दोनों जगह उपालम्भके बहाने विरह-निवेदनमें तात्पर्य है। सुन्दरने "घूंघटकी ओट ह्वैके चितयो कि चोट करी" इस वाक्यमें जो बात खोलकर कही है, वही विहारीने 'लड़ैते' इस एक शब्द-द्वारा व्यक्त की है। विहारीके यहां 'व्याजस्तुति' द्वारा नेत्रोंका सौन्दर्य—तीखी 'चितवन' का चमत्कारातिशय—व्यङ्ग्य है। सुन्दरजीके यहां वैसा नहीं। 'लड़ैते' का अर्थ है—'लाड़ला' (दुर्ललित)। लाड़ले लड़के अक्सर नटखट, 'औठपाई' या दंगई हो जाया करते हैं। 'लड़ैते'का दूसरा अर्थ लड़ैत (डकैत, लठैत की तरह) लड़ाकू या लड़ाका भी है। 'लड़ैत' लड़के भोले भाले वालकोंको झट पीट पाट डालते हैं। जब किसीका बालक किसीके वालकको पीट आता है तो पिटनेवालेकी माता पीटनेवालेकी मांसे कहा करती है "तैने छोरा ऐसो लड़ैतो कर राखो है जो सबनको मारत डोले है री!"

कोई किसी अनियारे नेत्रोंवाली अलबेली छबीली रसीलीसे उसके 'लड़ैते' नयनोंकी शिकायत कर रही है, कि तेरे इन लड़ैते नेत्रोंने हमारे 'लाल'को तो बेतरह बेहाल कर दिया, इनकी चोट खाये वह बेसुध पड़े हैं। तन बदन, कपड़े लत्ते, लाठी दण्डे, सिर पांव, मुकुट मुरलीकी, उन्हें कुछ सुध नहीं, ज़रा अपने इन लड़ैतोंकी करतूत चल कर देख तो। सुन्दरजीने अपनी रिपोर्टमें बिखरी हुई चीज़ोंकी संख्या बढ़ा दी है, नुक़्सानके सामानकी तादाद ज़्यादह दिखलायी है, 'बनमाल' के साथ 'गुञ्जनकी माल'को, 'मुकुट'के साथ 'मोरचन्द्रिका'को भी गिना दिया है। विहारीने 'भये लाल बेहाल'में ही सब मामला ख़त्म कर दिया है। सुन्दरजीके यहां 'लोट पोट'की तफ़सीलमें 'ऐसे हाल भूलि गये हैं' 'कुण्डल अडोल' 'न बोलें बोल' "लोचन अलोल" सब कुछ कह डाला है। 'लोट-पोट' होनेसे, 'बेहाल' होना अधिक चिन्तनीय दशाका द्योतक है।

"सुन्दरशृङ्गार"में भी और उक्त दोहेपर कृष्णकविकी टीकामें भी "लोचन हैं लोल" ऐसा पाठ है, पर यह ठीक नहीं मालूम होता। ऐसी बेहालीकी हालतमें लोचन लोल (चञ्चल) नहीं रह सकते, फिर उस दशामें जब कहते हैं "मानो काहू हर लये हैं।" इसलिये औचित्य चाहता है कि यहाँ "लोचन अलोल" पाठ चाहिये।

❀ ❀ ❀

दोहा—कुटिल अलक छुटि परत मुख, बढ़िगो इतो उदोत।
बंक बिकारी देत ज्यौं, दाम रुपैया होत॥ ४४२॥

❀ ❀ ❀

सवैया

मानों भुजंगिन कंज चढ़ी मुख ऊपर आय रहीं अलकैं त्यौं,
कारी महासटकारी हैं सुन्दर भीजि रहीं मिल सौंधनही सौं ॥
लटकी लट वा लटकीली तें और गई बढ़िकै छवि आनन की यौं,
आंक बढ़ै दिये दूजी बिकारीके होत रुपैयन तें मुहरैं ज्यौं ॥

\+ + +

सुन्दरजीके वर्णनकी 'उत्प्रेक्षा'में मुखपर लटकी हुई दो लटोंका उल्लेख स्पष्ट है। पर रुपयेसे मुहर बन जानेके साथ 'दूजी बिकारी' की संगति किसी तरह ठीक नहीं बैठती, यदि मुखके दोनों ओर दो लटें लटकी हुई मानें तब तो यह रूप)१) होगा, और यदि एकही ओर दो लटें लटकती मानी जायँ तो १)) ऐसा होगा, पर इन दोनों सूरतोंमें रुपयेसे मुहर नहीं बन सकेगी, एक ओर दुहरी विकारी देनेसे १)) तोला समझा जाता है न कि मुहर, ब्रेकिटकी तरह इधर उधर दो बिकारी देनेसे (१) भी मुहर का बोध नहीं होता। सो सुन्दरजी 'दूजी बिकारी' की यह पहेली आजकल किसी तरह हल नहीं होती।

विहारीकी 'बंक बिकारी' की उपमा बहुत ही बांकी है। शुष्क गणितज्ञ, सहृदय काव्यमर्मज्ञ, और विदग्ध रसिक, सब समानरूपसे इनकी सत्यताके साक्षी हैं।

दाम लिखनेकी पुरानी प्रणाली अबतक प्रचलित है, पहाड़ा है—

"छदामके ६ दाम, धेला साढ़े बारह १२॥ दाम पैसेके पचीस २५ दाम"। इत्यादि, इसके अनुसार ६ दामपर बंक बिकारी ६) देते ही छदाम के छ रुपये होगये। बहुत अन्तर हो गया, इसीकी सूचनार्थ "इतौ" पद दिया है।

सुन्दरजीकी दूजी बिकारीकी 'रसायन' से रुपयेकी मुहर न बन सका, पर विहारीकी बंक बिकारीकी 'कीमिया' ने छदामका रुपया बनाकर सबको दिखादिया !

कृष्णकविकी टीकामें इसी दोहेपर सुन्दरका यह सवैया लिखा है, उसमें "मुख ऊपर आय रही अलकैं त्यों" – की जगह "मुख ऊपर एक छुटी अलकैं यों", ऐसा पाठ है माल्म होता है, दूजी बिकारीकी अयुक्तताके ख़्यालसे किसीने यह पाठान्तर-कल्पना की है, पर संगति नहीं मिल सकी। क्योंकि अन्तमें वहां भी "दूजी बिकारी" ही है।

हो सकता है, सुन्दरजीके समय यही रीति—दो बिकारी देकर मुहर लिखनेकी—रही हो, * तोभी विहारीकी 'उपमा' का मूल्य उससे कहीं अधिक है। रुपयेसे मुहर वनानेकी अपेक्षा दामसे रुपया बनाना बहुत नफ़े का सौदा है। रुपयेसे मुहर या अशरफ़ी मूल्यमें केवल १६ गुना ही अधिक है, और दामसे रुपया एकदम १६ सौ गुना अधिक है ! अन्तरं महदन्तरम् :—

(१ दाम : १ रु० : : १ : १६००)

---

* मालूम होता है रुपयेसे मुहर वनानेकी कुछ ऐसी ही रीति कभी पहले प्रचलित थी। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रने भी 'सतसई-सिंगार' की एक कुँडलियामें सुन्दरजीसे मिलती जुलती बात कही है—

"कहत सबै बेंदी दिये, आंक दस गुनो होत।
तिय लिलार बेंदी दिये, अगनित बढ़त उदोत॥
अगनित बढ़त उदोत तीस अस्सी नब्बे गुन,
तीन आठ नव सत सहस्र हरिचन्द बढ़त पुन।
बंदी वेना बेंदी भौं लहि बनत रुपा जब,
"मोतीलरतें होत मुहर" लखि थकित रहत सब॥"

तोषजीने भी मुखचन्द्र पर लटकी हुई लटपर 'उपमा देकर' उत्प्रेक्षाकी दृष्टि डाली है, कहते हैं कि मदन-देवने आकाशचन्द्रमाके मुक़ाबले में मुखचन्द्रपर 'साद' ص (सही) किया है, अर्थात् आकाशचन्द्र ग़लत है, मुखचन्द्रही सही चन्द्र है—

"बंक लगी लट एक कपोल यहै उपमा कवि 'तोष' दियो है,
बाद कियौ वही चन्दहि मैन मनो टँक † चन्दहि 'साद' कियो है।"

\+ \+ \+

दोहा—*दृग थिरकौंहैं अधखुले, देह थकौंहैं ढार।*
सुरत-सुखितसी देखियत, दुखित गरभ के भार ॥५४२॥

* * *

कवित्त—भावत न पानी पान आकुल विकल प्रान
गरभके जे निदान ते सबै लुकावने,
जेठानी सों कह्यो चहै सासु तन गई दीठि
तहीं कियो नैननि के पलक चुकावने।

—जिस प्रकार अंग्रेज़ीमें "पौंड" तोलका भी नाम है और सिक्केका भी। इसी प्रकार आजकल तोला १)) जो इस प्रकार लिखा जाता है, संभव है तोलेपर यह दो विकारी देनेकी रीति मुहरसे ली गयी हो, क्योंकि मुहर एक तोलेकी होती थी। जो कुछ हो, पर मुहर लिखनेमें आजकल दो विकारी देनेकी रीति राजपूताने को छोड़कर सर्वत्र प्रचलित नहीं है। इधर कई नये पुराने मुनीमोंसे पूछा गया, पर सुन्दरजीकी मुहरकी दूजी विकारीको किसीने ठीक नहीं समझा।

† टँक=टाँक (टाँकना) लिखना सही करके। साद करना-ص

इहि बीच पहिलोठों बालको विलोकि आली
पूछि उठि एहो तुम्हें होत हैं उकावने ?
उठी सतराइ छवि 'सुन्दर' कही न जाइ
झुकी झहराइ बोल बोली मुसुकावने ॥

*   *   *

सुन्दरजीने 'चेष्टारीति' के वर्णन में उल्लिखित कवित्त लिखा है। पर यह वर्णन कवितानुसारी न होकर "भावत न पानी पान आकुल बिकल प्रान"—'होत हैं उकावने'* इस रूपमें वैद्यकानुसारी होगया है। 'उठी सतराइ' 'झुकी झहराइ' के सिवाय इसमें ऐसी क्या 'छवि' है जो सुन्दरजीसे नहीं कही जाती !

पर विहारीलाल अपनी प्रतिभाकी आंखसे गर्भके भारसे दुखितको भी सुरतसुखित सी देख रहे हैं ! यह कविकी प्रतिभाका ही चमत्कार है कि वह हर जगह अपने मतलबकी बात ढूंढ निकालती है, रम्य पदार्थके विकारमें भी कविकी दृष्टि अलौकिक शोभाको ही देखती है—

"रम्याणां विकृतिरपि श्रियं तनोति"

×   ×   ×

दोहा—सबही तन समुहाति छन, चलति सबन दै पीठि।
वाही तन ठहराति यह, किबलनुमालौं दीठि ॥५६॥

\+   +   ÷

कवित्त—काहे को दुरावति है हमहूं भुरावति है
कौन कहलावति है झूठी सौंहैं खाति है,

---

* उकावने आना—उबकाई आना, जी मचलाना—गर्भदशाका एक उपद्रव है।

लियो है चुराइ चित्त 'साहजहां' दूलहको
सु तौ यह बात सब नीके जानी जाति है।
देख तुहीं बैठि दीठि लालनकी हेरि फेरि
तियन मैं तोहि पर आइ थिर थाति है,
मन्त्रकी कटोरी जैसे चली चली डोलति है
चोरहीकी ठौर भले आइ ठहराति है॥

* * *

सुन्दरजी अपने आश्रयदाता 'साहजहां' दूलह—(शाहजहां बादशाह) की चितचोरीकी कैफ़ियत सुना रहे हैं। चोरका पता चलानेके लिये ऐसे टोटके—मन्त्रकी कटोरी चलाना इत्यादि—पहले किये जाते थे, अब भी कहीं कहीं पुराने ख़यालके लोग ऐसा करते हैं, बहुतसे आदमियोंको जिनपर चोरीका सन्देह होता है एक पंक्तिमें बिठाते हैं, 'मन्त्रकी कटोरी' चलाते हैं, वह चलती चलती जिसके पास जाकर ठहर जाय, वही चोर समझा जाता है। 'साहजहां दूलह' की 'चितचोर' बहुतसी स्त्रियोंमें मिली बैठी है, 'दूलह'की दृष्टि मन्त्रकी कटोरीकी तरह उसीपर जाकर ठहरती है, सो चोरीके कमीशनमें पंच बनी हुई कोई सखी, चितचोरीका फ़ैसला सुना रही है कि तूही चोर है, तैने ही हमारे दूलहका चित्त चुराया है। यह फ़ैसला एक ख़ास अदालतका फ़ैसला है। विहारीका वर्णन व्यापक है। मन्त्रकी कटोरीकी बात आजकलके शिक्षित चाहे न भी मानें, पर विहारीके क़िब्ले-नुमाके सब क़ायल हैं।

× × ×

विहारी और सेनापति

दोहा---कर लै चूमि चढ़ाय सिर, उर लगाय भुज भेंटि।
लहि पाती पियकी लखति, बाँचति धरति समेटि॥४०५॥

* * *

कवित्त—नैन नीर बरसत देखिबे को तरसत
लागे कामसर सत पीर उर अति की,
पाये न संदेसे ताते अधिक अंदेसे बढ़े
सोचे सुकुमारि पै न कहै मन गति की।
ताही समै औचक ही काहू आनि चीठी दीनी
देखत ही 'सेनापति' पाई प्रीति रति की,
माथे लै चढ़ाई दोऊ दृगनि लगाई चूमि
छाती लपटाय राखी पाती प्रानपतिकी॥

* * *

सेनापतिजीने पाती पाने की भूमिका खूब बढ़ाकर बाँधी है। प्राणपतिका संदेसा न पानेसे सुकुमारीको अन्देशा (चिन्ता) बढ़ रही थी, उसकी आँखोंसे नीर बरसता था और देखनेको जी तरसता था, इत्यादि, प्राणपतिके पत्र पानेपर इस प्रकारकी हर्षोत्पत्तिका कारण खूब खोलकर कह दिया है, जिससे देखनेवाला समझ जाय कि इस चिट्ठीको यह इतना महत्त्व क्यों दिया जा रहा है। माथेपर चढ़ाना, दोनों आंखोंसे लगाना, चूमकर छातीसे लिपटाना, यह सब क्यों होरहा है। बहुत दिनोंमें कालेकोसोंसे कुशलपत्र आया है इसलिये ऐसा हो रहा है।

पर विहारीलालने लम्बे उपाख्यानकी कुछ आवश्यकता नहीं समझी। यह सारी कथा "पियकी पाती" यह शब्द अपनी

ध्वनि द्वारा स्वयं कह रहा है। प्रिय पास न होगा, दूर होगा, तभी पाती भेजेगा, इसकी भी ज़रूरत नहीं है कि वह इतनी दूर बैठा हो जिससे यथासमय सन्देसे न पहुंच सकते हों, और तभी चिट्ठीका इस प्रकार आदर किया जाय। प्रियकी प्रेमपत्रिका कहींसे किसी दशामें आवे हरहालतमें वह इसी बरतावकी मुस्तहिक़ है कि हाथमें लेकर होठोंसे चूमी जाय, सिर चढ़ायी जाय, छातीसे लगायी जाय, भुजाओंसे भेंटी जाय, आदरसे देखी जाय, उत्सुकतासे बांची जाय और एहतियातसे ग़ैरोंकी नज़रसे बचानेको, लपेटकर, रखी जाय। आख़िर अन्तरंग सखी द्वारा प्राप्त प्रियकी "प्रेमपत्रिका" है, कुछ डाकद्वारा पहुंची 'समाचार-पत्रिका' नहीं है। सेनापतिके 'कुशलपत्र' और विहारीके 'प्रेम-पत्रमें' बहुत भेद है। विहारीकी बन्दिश कितनी चुस्त है! पेचमें कसी हुई रुईकी गाँठ है। इसके मुक़ाबलेमें सेनापतिका कवित्त ढीलमढाला फूला हुआ घासका गट्ठर है!

'तोष' कविने भी पियकी पातीका वर्णन अपने ख़ास ढंगमें ख़ासा किया है—

कवित्त—"पढ़ि न सिराति पाती भूलि भूलि जाती
नेकु [देख] सखियां न पावैं निज अँखियां दिये रहै,
रूसती रिसाती हँसि हँसि बतराती चूमि
चाहि मुसकाती प्रेम आसव पिये रहै।
कहै कवि 'तोष' जिय जानि दुखकाती ताते
छाती की तबीज पिय-पाती को किये रहै,
नेकु न पत्याती दिन राती इहि भांति प्यारी
बिरह अपाती ताकी कातीसी लिये रहै।"

\+ \+ \+

दोहा—*बाल छबीली तियनमें, बैठी आपु छिपाय।*
अरगट ही फानूससी, परगट होति लखाय ॥५२४॥

\+ + +

कवित्त—चन्दकी कलासी चपलासी तिय 'सेनापति'
बालमके वर[उर] बीज आनँदके बोति है,
जाके आगे कंचनमें रञ्चक न पैये द्युति
मानो मन मोतीलाल माल आगे पोति है।
देखी प्रीति गाढ़ी ओढ़े तनसुख ठाढ़ी, जोति
जोबनकी बाढ़ी छिन छिन और होति है,
झलकत गोरी देह बसन झीनेमें मानो
फानुसके अन्दर दिपति दीप जोति है ॥

\+ + +

सेनापतिजीने किसी चन्द्रकलासी चपलासी यौवनमदमाती युवतिको– जिसके आगे सुवर्णमें ज़रा भी द्युति नहीं है— ('चपलासी' कहनेके बाद सुवर्णको घटानेकी कुछ आवश्यकता तो न रही थी!) तनसुखकी चादर या साड़ी उढ़ाकर खड़ी किया है। और इस स्थितिमें उसकी गोरी देहको झीने—महीन वस्त्रमेंसे इस प्रकार चमकती दिखलाया है मानो फ़ानूसमें दीपककी ज्योति झलक रही है।

विहारीलालने इन सब चमकदार विशेषणोंका काम केवल 'छबीली' पदसे लिया है (छबीलीका प्रकाश 'चन्द्रकला' या 'चपला'से कुछ कम है कि वह अपने प्रकाशका महत्त्व प्रकट करनेको इनका सहारा ढूंढे!) लज्जाशीला बालाको स्त्रियोंके समूहमें अच्छी तरह छिपाकर बिठलाया है, पर वह इतनेपर भी नहीं छिप सकी। वह देखो सबसे अलग फ़ानूसकी तरह साफ़ दिखायी

दे रही है। ऊपर लटका हुआ अकेला 'हंडा' चमकता दिखायी देता हो तो इसमें इतना चमत्कार नहीं है, जितना इसमें है कि बहुतसे लैम्पोंके बीचमें रखा हुआ, ऊपरसे किसी परदे या ढक्कनसे ढका हुआ होनेपर भी कोई फ़ानूस सबसे अलग दिखायी दे रहा हो, वस्तुत छिपानेपर भी न छिपता हो!

विहारी और तोषानिधि

दोहा—नभ-लाली चाली निसा, चटकाली धुनि कीन।
रतिपाली आली अनत, आये बनमाली न ॥१५२॥

*　*　*

सवैया

जोन्हसें खाली छपाकर भो छनमें छनदा अब चाहति चाली,
कूजि उठे चटकाली चहूँ दिसि फैल गयी नभ ऊपर लाली।
साली मनोज बिथा उरमें निपटै निठुराई धरे बनमाली,
आली कहा कहिये कहि 'तोष' कहूं पिय प्रीति नई प्रतिपाली॥

*　*　*

तोषजीने विहारीके इसी दोहेके शब्द और अर्थको आगे पीछे करके अपने यहां रख दिया है। दोहेकी बन्दिशमें जो चुस्ती थी वह सवैयेमें आकर ढीली पड़ गयी है। दोहेके शब्दोंसे व्याकुलता टपकी पड़ती है—'नभ-लाली' इस घबराहटभरी अधूरी बातमें जो भाव है, वह 'फैल गयी नभ ऊपर लाली' इस पूरे वाक्यमें नहीं है। 'चाली निसा' इस कथनमें "सागरको मेरे हाथसे लीजो कि चला मैं" की तरह जो व्याकुलता प्रतीत होती है वह "छनमें छनदा अब चाहति चाली" में कहां है? "कूजि उठे चटकाली

चहूँदिसि" में मुहावरा बिगड़ गया। चिड़ियोंके लिए 'चहकना' और भौरोंके लिए 'गुंजारना' बोलते हैं, 'कूजना' नहीं कहते। "चटकाली धुनि कीन" के 'धुनि' पदसे दोनों बातें समझी जा सकती हैं। दोहा नूरके सांचेमें ढला हुआ है, एक मात्रा भरतीकी नहीं। फिर अर्थालङ्कार और शब्दालङ्कारका चमत्कार देखने योग्य है, बार बार पढ़नेको जी चाहता है।

× × ×

दोहा—*हेरि हिंडोरे गगन तें, परी परी सी टूटि।*
धरी धाय पिय बीच ही, करी खरी रस लूटि ॥५४६॥

* * *

कवित्त—रावटी तिमहलेकी बैठी छबिवारी बाल
देखति तमासो गुड़ि आलिनि लड़ायो है,
परि गयो नजर हरिननैनीजूके हरि
हरिहू के [ने] तिरछि कटाछहि चलायो है।
मैन सरवरी तरफरी गिरि परी ऐसी
बीच हरि धरी खरी लूटि रस पायो है,
सासु नन्द धाइ आई पाइ गहै कहै 'तोष'
आज ब्रजराज घर ऊजरो बसायो है॥

* * *

यहां तोषजीको हिंडोरेसे सन्तोष नहीं हुआ, तिमहलेकी रावटीमें जा पहुंचे हैं, पर कवित्तको दोहेसे ऊँचा नहीं पहुंचा सके। कवित्तमें जो कुछ चमत्कार है वह दोहेके शब्दोंका ही है, पर वह यहां कुछ बिखरसे गये हैं—सजावटमें अन्तर पड़गया है। इसके अतिरिक्त तोषजीके वर्णनमें कुछ अस्वाभाविकता सी आगयी है। रसकी लूट करायी है पर तिमहलेसे गिरनेमें, सास ननद और

धायके घबरानेमें, श्रृङ्गारमें 'भयानक' रसकी मात्रा इतनी बढ़ गयी है कि वह (भयानक) 'संचारी 'से* 'स्थायी' बन बैठा—'महमान'से 'मालिक' मकान बनगया! विहारीके यहां यद्यपि हिंडोलेके आकाशसे परीकी तरह टूट कर पड़ी है, परन्तु प्रियने दौड़कर इस सफ़ाईसे बीचमें ही धरकर—सँभालकर—रसकी लूट की है कि किसीको घबरानेका तनक भी अवसर नहीं दिया, देखनेवालोंने समझा कि आसमानसे कोई परी टूटकर पड़ी है।

हिंडोरे-गगनका उज्ज्वल 'रूपक' 'परी परी सी टूट' की ऊँची 'उपमा' और मनोहर 'यमक', 'हेरि हिंडोरे' 'धरी धाय' 'करी खरी' का श्रुतिमधुर 'अनुप्रास' जिसे देखिए वही निराला है। दोहेमें दशाविशेषका एक दर्शनीय स्वाभाविक चित्र खींच दिया है।

कोई "परीपकर" नवेली हमजोली सहेलियों में मिली, वेधड़क मौजमें हिंडोलेपै पेंग बढ़ा रही थी कि ऐसेमें अचानक "आ निकले उधर वह भी" उन्हें देखतेही लज्जा और संकोचसे कुछ इस जल्दीमें उसने हिंडोलेसे उतरना चाहा कि सँभल न सकी, परीसी टूट पड़ी, पर उन हज़रतने कमाल फुरतीसे काम लिया—ज़मीनतक न पहुँचने दिया—बीचहीमें दबोच लिया।

यह गिरना जान बूझकर प्रेमपरीक्षाके लिये भी हो सकता

---

*"भावो वापि रसो वापि, प्रवृत्तिर्वृत्तिरेव वा।
सर्वेषां समवेतानां, यस्य रूपं भवेद् बहु।
स मन्तव्यो रसः स्थायी, शेषाः सञ्चारिणो मताः॥"

[भरतमुनि—नाट्यशास्त्र]

है, और सात्त्विक भाव—स्तम्भ, वेपथु आदि के—आधिक्यसे भी। कारण निगूढ़ है। इसपर "विभावकी व्यक्ति क्लिष्टता सों होतु है" कहकर किसी टीकाकारने कटाक्ष किया है, रसदोष बतलाया है। तथा किसीने "स्वकीया परकीया दोउ भासत हैं" समझकर "रसाभास" कहा है। पर ऐसा नहीं है, इस छिपे भेदमें कुछ वड़ा चमत्कार है।

× × ×

दोहा—पिय बिछुरनको दुसह दुख, हरषि जात प्यौसाल।
दुरजोधन लौं देखियत, तजत प्रान यह बाल ॥३५॥

* * *

दोहा—आये पिय परदेस ते, गये सौति के धाम।
हरष विषाद भयो भई, दुरजोधन सी वाम ॥ (तोष)

* * *

तोष यहाँ भी विहारीका अनुकरण करने चले हैं, पर निभ नहीं सके, सादृश्य यह कहकर रो दिया है—

"किसी की जब कोई तक़लीद करता है मैं रोता हूं,
हँसा गुलकी तरह ग़ुंचा जहाँ उसका दहन बिगड़ा!"

(आतिश)

विहारीने जो उपमाका सामञ्जस्य दिखाया है—चूलसे चूल मिलाया है—वह तोषके यहां कहां! विहारीके दोहेमें हर्ष और विषाद एककालावच्छेदेन विद्यमान हैं—"पिय विछुरन का दुसह दुख" और 'प्यौसाल गमनका हरष'—एक साथ मौजूद हैं। इससे मरणकालीन दुर्योधनकी समता पूरी तरह 'फ़िट' होकर रह गयी है। इस सादृश्यमें तोषके होश ख़ता हो गये हैं, इनकी वामको पियके परदेशसे, आनेका जब सुख था, तब "सौतिके धाम" जानेका दुःख नहीं था, और जब सौतके

धाम चले गये तो अब आनेका सुख खरहेका सींग होगया, काफूर हो गया! दोनों एक साथ नहीं रह सके, या उतनी अच्छी तरह नहीं रह सके जैसे कि विहारीके यहां। "भई दुरजोधनसी वाम" में वह बात नहीं जो 'दुरजोधन लौं देखियत, तजत प्रान यह वाल' में है। दुर्योधनके नाना प्रकारके चरित्रसे महाभारत भरा पड़ा है, हर्ष विषाद भी कई बार हो सकता है। इसलिये केवल इतनेहीसे उस दशाविशेषकी झटिति प्रतीति नहीं होती।

दुर्योधनको शाप था कि जब हर्ष शोक एक साथ होगा, तब प्राण निकलेंगे, भीमके गदाप्रहारसे व्याकुल दुर्योधन मुमूर्षु दशामें पड़े थे, प्राण नहीं निकलते थे, जब सौप्तिक वधमें अश्वत्थामा पाण्डवपुत्रोंके सिर काटकर लाये तो दूरसे देखकर दुर्योधनको हर्ष हुआ कि पाण्डवोंके सिर हैं, पर पाससे देखनेपर यह जानकर कि पाण्डवोंके नहीं, पाण्डवपुत्रोंके सिर हैं, शोक हुआ, इसी हर्षविषादकी सन्धि-दशामें दुर्योधनने प्राण त्यागे।

\+ \+ \+

दोहा—नई लगानि कुलकी सकुच, बिकल भई अकुलाय।
दुहूँ ओर ऐंची फिरै, फिरकी लौं दिन जाय ॥२८४॥

* * *

दोहा—प्रीतमको हित-पौन गहि, लिये जात तेहि संग।
गहि डोरी कुललाजकी, भई चंगके रंग॥
(तोष)

* * *

विहारीकी 'फिरकी'को तोषने 'चंग' बनाकर उड़ाया है, (यद्यपि यह चंगभी विहारीसे ही लिया है—"चंग रंग भूपाल")

पर फिरकीकी उपमामें जितनी अनुरूपता है उतनी 'चंग'—(पतंग) में नहीं है। 'नई लगन'ने व्याकुलताको खूब व्यक्त कर दिया है। "दुहूं ओर ऐंची फिरे, फिरकी लौं दिन जाय"—वाक्य "नई लगन" "कुलकी सकुच" इन दोनों भावोंके द्वन्द्वयुद्धकी तुल्यबलताका कैसा अच्छा द्योतक है, कितनी ज़बरदस्त कशमकश है, वह भी थोड़ी बहुत देरकी नहीं, दिनभरकी! पतङ्ग एक बार डोरीसे खिंचकर वहीं रह जाता है। ऊपर नहीं जा सकता, फड़फड़ाता भले ही रहे। 'फिरकी' बराबर दोनों ओर यकसां फिरती रहती है। इति विभावयन्तु सहृदयाः।

\+ + +

विहारी और पद्माकर

दोहा—भौंहनि त्रासति मुख नटति आंखिनि सों लपटाति।
ऐंचि छुड़ावति कर इँची आगे आवति जाति ॥४३॥

❀ ❀ ❀

दोहा—कर ऐंचत आवत इँची तिय आप हि पिय ओर।
झूटि हुँ रूसि रहै छिनक छुअत छराको छोर॥
(जगद्विनोद)

❀ ❀ ❀

पद्माकरकी कवितामें विहारीकी कविताका स्पष्ट अपहरण है। नीचेका दोहा ऊपरके दोहेका कुछ बदला हुआ रूप है। विहारीने बड़ी विदग्धतासे दशाविशेषका स्वाभाविक भावभरा पूरा चित्र अपने दोहेमें खींचकर रख दिया है। पद्माकरने 'कुट्टमित'की खींचतानमें डालकर उसका रूप कुछ भद्दा कर दिया। पिछले पदमें—'छुवत छराको छोर'में—बात खोलकर मामला

बिगाड़ दिया। विहारीने यहांतक पहलू बचाया है कि, 'त्रासति' 'नटति' क्रियाओंके कर्त्ताकी प्रतीति 'इँची' इस लिङ्गविशिष्ट पदसे करायी है, 'तिय' 'पिय'की बात खोलकर नहीं कही। पद्माकरने 'तिय आपही पिय ओर' कहकर मामला बिलकुल साफ़ कर दिया। विहारीके क्रियापद बहुत अधिक मनोहर और चमत्कृत हैं, पद्माकरके यहां यह बात कहां !

\+ + +

दोहा—कहा लेहुगे खेलमें तजौ अटपटी बात।
नैक हँसौहीं हैं भई भौंहैं सौंहैं खात ॥३७३॥

* * *

दोहा—आनि आनि तिय नाम लै, तुमहिं बुलावत स्याम।
लेन कह्यो नहिं नाह को, निज तियको जो नाम ॥

(पद्माकर)

\+ + +

पद्माकरके दोहेका मतलब है कि नायकके हरजाइपनसे नायिका खिजी और खिंची बैठी थी, सखीने बहुत समझा बुझाकर उसे मनाया है, नायककी ओरसे वकालत करके उसकी निर्दोषता सिद्ध की है, सन्धि कराकर दोनोंको मुश्किलसे मिलाया है कि बातों बातोंमें उसी प्रतिनायिकाका नाम नायकके मुँहसे निकल गया, * उसके नामसे इसे पुकार बैठा जो इस झगड़ेकी जड़ थी, जिसके कारण मनमुटाव हुआ था। चतुर सखीने देखा कि मामला फिर बिगड़ चला, उसने अपनी प्रत्युत्पन्नमतितासे बात सँभाली, नायिकाको बिगड़ती देख कहा कि और और स्त्रियोंका नाम लेकर

---

* संस्कृत-साहित्यमें प्रेम पचड़ेकी इस भयानक भूलका परिभाषित नाम 'गोत्रस्खलन' है।

जो यह तुम्हें पुकारते हैं इसका कारण यह है कि सदाचारके नियमानुसार पतिको अपनी पत्नीका नाम नहीं लेना चाहिए। इसकी पुष्टिमें शायद उसने सदाचारके क़ानूनका यह विधिवाक्य भी पढ़ा हो !—

"आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च ।
श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज्ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः ॥"

अर्थात् जो अपनी भलाई चाहे उसे चाहिए कि भूलकर भी अपना नाम, अपने गुरुका नाम, कंजूस—मक्खीचूंसका नाम अपनी बड़ी सन्तान—जेठे लड़के—और स्त्रीका नाम न ले। विहारीलाल इस सदाचारके अस्वाभाविक बखेड़ेमें नहीं पड़े। उनकी सखीने बड़ी सफ़ाईसे इसे हँसीमें डालकर टाल दिया। नायक बहका ही था, प्रतिनायिकाका नाम उसके मुँहसे निकला ही था, नायिकाका ध्यान उस ओर अभी अच्छी तरह जाने भी न पाया था कि उसने नायकको सावधान कर दिया, कि बस रहने दो, इस अटपटी बानको छोड़ो भी, इस खेलमें क्या लोगे ? सपत्नीका नाम लेकर मेरी सखीको क्यों चिढ़ाते हो ? तुम्हें तो हँसी मज़ाक़की सूझी है, पर कहीं हँसीको सतभाव मानकर यह फिर विगड़ बैठी तो मिन्नत खुशामद करके मुझे फिर मनाना पड़ेगा, मुश्किलसे तो किसी तरह मनी हैं, सौगन्धें खाकर तुम्हारी निर्दोषता प्रमाणित की है तब कहीं इनकी ये रुखौहीं भौंहें, हँसौहीं—टेढ़ी भौंहें सीधी—हो पायी हैं। विहारीकी सखीके इस कथनमें कितनी मार्मिकता, कितनी विदग्धता भरी है। किस अच्छे ढंगसे बातको निभाया है। नायिकाको जरूर यक़ीन आ गया होगा कि यह मुझे छेड़नेको हँसी कररहे हैं।

\+ \+ \+

बिहारी और घासीराम

दोहा—कोहरसी एड़ीनकी लाली देखि सुभाइ ।
पाय महावर देनको आप भई बेपाय ॥ ५०६ ॥

* * *

कवित्त—मन्द ही चँपेते इन्द्र बधु के बरन होत
[मन्द होइ जाति इन्द्रबधु की बरन दुति]
प्यारीके चरन नवनिन [नवनीत] हु ते नरमैं,
सहज ललाई बरनी न जात घासीराम
चुईसी परत कवि हू की मति भरमैं ।
एड़ी ठकुराइनकी नाइन गहत [छुअत] जबै
ईंगुर को [सो] रंग दौरि आवै करबर मैं,
दीयो है कि देवो है बिचारे सोचे बार बार
[देनो है कि दीनो है निहारै सुचै बार बार]
बावरीसी ह्वै रही महावरि लै कर मैं ॥ (घासीराम)

* * *

घासीराम कविका यह कवित्त इसी उक्त दोहेकी व्याख्या है । दोहेके 'आप भई बेपाय' मुहावरेमें जो किंकर्तव्यविमूढताका भाव व्यङ्ग्य है, वह कवित्तमें "दीयो है कि देवो है विचारे सोचे वार बार" इसमें 'वाच्य' हो गया है । 'कोहरसी-लाली' और "ईंगुरसो रंग" एक ही बात है ।

'मन्द ही चँपेते इन्द्रवधुके बरन होत'ने "उत्तम सौकुमार्य" को व्यर्थही "मध्यम सौकुमार्य" बना दिया। "रसार्णवसुधाकर" में मध्यम सौकुमार्यका यह लक्षण किया है—

"न सहेत करस्पर्शं, येनाङ्गं मध्यमं हि तत् ।"—

—अर्थात् जो सौकुमार्य (नज़ाकत) हाथके स्पर्शको भी सहन न कर सके, सिर्फ़ छूनेसे ही जिसमें लाली चमक आवे वह "मध्यम" है। इसके उदाहरणमें यह पद्य दिया है—

"लाक्षां विधातुमवलम्बितमात्रमेव
सख्याः करेण तरुणाम्बुजकोमलेन।
कस्याश्चिदग्रपदमाशु बभूव रक्तं
लाक्षारसः पुनरभून्न तु भूषणाय॥" *

\+ \+ \+

लाखका रंग (महावर) देनेके लिये सखीने अपने करकमलसे ज्योंही उसके पांवको ज़रा छुआ कि वह लाल सुर्ख़ हो गया, फिर लाख के रंगकी ज़रूरत ही न रही।

---

* उत्तम सौकुमार्यका यह और भी उत्कृष्ट वर्णन है, यहां छूने छुआनेकी भी ज़रूरत नहीं पड़ी, खयालहीने कमाल कर दिखाया है—

"आदातुं सकृदीक्षितेऽपि कुसुमे हस्ताग्रमालोहितं
लाक्षारञ्जनवार्तयापि सहसा रक्तं तलं पादयोः।
अङ्गानामनुलेपन-स्मरणमप्यत्यन्त खेदावहं,
हन्ताधीरदृशः किमन्यदलकामोदोपि भारायते॥"

—उठानेकी नीयतसे फूलको एक वार ज़रा यौंही देखा भर था कि पोरवे लाल पड़गये। महावर देनेकी बात चली थी कि एकदम पांवके तलवे सुर्ख़ हो उठे! यहांतक कि शरीरपर चन्दन केसरके लेपका ख़्याल भी नागवार गुज़रता है—थकावट पैदा कर देता है। उफ़, इससे ज़्यादा और क्या होगा कि चञ्चल-नयनीको केशोंकी सुगन्ध भी भार जान पड़ती है!

दोहेका सौकुमार्य इनसे कहीं उत्तम है। यहां एड़ीकी स्वाभाविक लालीको देखकर ही महावर देनेवाली चक्करमें है। महावर देनेको पांव तक हाथ बढ़ानेकी उसे हिम्मतही नहीं होती!

बिहारी और कालिदास

दोहा—त्रिवली नाभि दिखायकै सिर ढकि सकुच समाहि।
गली अली की ओट ह्वै चली भली विधि चाहि॥४१॥

* * *

कवित्त—"भोरी बैस इन्दुमुखो सांकरी गलीमें मिलि
सुन्दर गोबिन्दको अचानक ही आयकै,
"कालिदास" जगै जेब अङ्गनि जवाहिरकी
बाहिर ह्वै फैली चांदनीसी छबि छायकै।
*नेरो गह्यो स्याम सौहैं बिहँसि बिलोकी बाम
हेर्यो तिरछौहैं नारि [नार] नैंसुक नवायकै॥
गोरे तन चोरे चित जोरे दृग मोरे मुख
थोरे बीच कौरे लागि चली मुसुकायकै॥"

* * *

दोहेमें स्वभावोक्तिका चित्रसा खिंच गया है। पूर्वार्धमें प्रेम-सूचक 'हाव' बड़े मनोहर ढंगसे व्यक्त हुए हैं। अन्तमें 'भली विधि चाहि' ने उनका भाव मार्मिकतासे—बेमालूम तौरपर—खोल दिया है। "गली अलीकी ओट ह्वै चली" इस छोटेसे वाक्यमें जो बात है, उससे कवित्तका बहुतसा भाग भरा हुआ है। कवित्तमें "मुसुकाय कै" पद मज़ेदार है, पर वह 'बिहँसि बिलोकी' का जवाब है। इन्दुमुखी और गोविन्द सांकरी गलीमें अकेले हैं, वहां (कवित्तमें) हँसने मुसकरानेका मौक़ा है। यहां (दोहेमें)

* नेरो = नेदीयः, निकट। नैंसुक = ज़रा एक। कौरे = कौला, भीतका पाखा। नार (रि) = गर्दन।

गलीमें साथमें अली भी है। इसलिये यही—न मुसकराना ही—मुनासिब हुआ। *

× × ×

दोहा—जालरन्ध्र मग अंगिनिको कछु उजास सो पाइ।
पीठि दिये जग सौं रहै दीठि झरोखा लाइ ॥३२६॥

* * *

कवित्त—प्यारी खण्ड तीसरे रसीली रंग रावटीमें
तकि ताकी ओर छकि रह्यौ नँद नन्द है,
'कालिदास' बीचिन दरीचिन ह्वै छ [झ] लकत
छबिकी मरीचिनकी झलक अमन्द है।
लोग देखि भरमैं कहा धौं है या घरमैं
सुरँग मग्यो जगमगी जोतिनको कन्द है,
लालनको जाल है कि ज्वालनिकी माल है कि
चामीकर चपला कि रवि है कि चन्द है ॥

* * *

* इस 'गली-मिलन' प्रसंगपर कवि 'जीवन' ने अच्छा कहा है। कवित्तके अन्तिम पदने तो बस वर्णनमें जीवन ही डाल दिया है—

"छैल ब्रजचंद एतौ छल करि रहे गैल
राधिका नवेली बनी चंपे की कली नई,
ताहि ओर आती हरि निरखि हरषि फूले
आज भैंट ह्वै है कवि 'जीवन' भली भई।
ताहि मग आवत अचानक ही दीठि परी
मुरि मुसक्याइ उन दाहिनी गली लई,
कहि रहे कान्ह नैक ठाढ़ी होहु सुने जाहु,
'सुनी है जू सुनी है जू' कहति चली गई ॥"

कालिदासने बहुत ऊँचेपर तीसरे खण्डकी रंगरावटीमें पहुंचकर 'घटना-मन्दिर'की नींव उठायी है। 'जगमगी जोति'को बहुत चमकाकर दिखाया है, लोगोंको भरमाया है और "नँदनन्द"को छकाया है। पर 'सन्देह'की झड़ी लगाकर अन्तमें खुद फिसल पड़े हैं! "रवि है कि चन्द है" में अच्छा खासा "पतत्प्रकर्ष" अथवा अर्थदोष=अक्रम हो गया है।

दोहेकी उठान इतनी ऊँची न होनेपर भी इससे उत्कृष्ट है। उत्तरार्धमें लोकोक्तिसे परिपुष्ट "परिसंख्या" बहुत ही सुन्दर है। "तकि ताकी ओर छकि रह्यौ नँदनन्द है" की अपेक्षा "पीठ दिये जग सों रहै दीठि झरोखा लाइ" कहीं चमत्कृत भाव है।

"विक्रम"की दृष्टि भी इसपर पड़ी है; विहारीके 'जालरन्ध्र'को उन्होंने उलट दिया है, और कालिदासके 'सन्देह'में 'उत्प्रेक्षा'की एक मशाल अपनी ओरसे और बाल दी है; मशालची अंधेरे में रहता ही है! सो यह भी 'पतत्प्रकर्ष' के गढ़ेमें जा पड़े हैं—

दोहा—रन्ध्रजाल ह्वै देखियतु, पियतन-प्रभा बिसाल।
चामीकर चपला लखौ, कै मसाल मनिमाल॥८५॥
(विक्रम)

विहारी और रसखान

दोहा—किती न गोकुल कुलबधू काहि न केहि सिख दीन।
कौनै तजी न कुलगली ह्वै मुरली-सुर लीन॥७॥

× × ×

सवैया

कौन ठगोरीभरी हरि आज बजाई है बांसुरिया रसभीनी,
तान सुनीं जिनहीं जितही तिनहीं तिन [त] लाज बिदा करि दीनी।
घूमैं खरी खरी[घरीघरी]नन्दके बार नवीनी कहा अरु बाल प्रवीनी,
या व्रजमण्डलमें 'रसखान' सु कौन भटू जु लटू नहीं कीनी॥

÷ ÷ ÷

"गुरुजनपरिचर्या-धैर्य-गाम्भीर्य-लज्जा
निजनिजगृहकर्म स्वामिनि प्रेम सेवा।
इति कुलरमणीनां वर्त्म जानन्ति सर्वा
मुरमथन! समस्तं हंसि वंशीरवेण।"

\+ \+ \+

संस्कृत पद्य, रसखानके सवैये और विहारीके दोहेमें 'वंशीरव' 'बांसुरियाकी तान' और 'मुरलीके स्वर' की ही शिकायत है। रसखानकी पदावली बहुत मृदु और रचना मधुर है। पर दोहेकी मुरलीका स्वर बहुत ही मर्मस्पर्शी है। "कौन भटू जु लटू नहीं कीनी" की अपेक्षा "कौनै तजी न कुलगली" में मुरलीके स्वरका प्रभावाधिक्य कहीं बढ़ गया है। फिर "कुलवधू" और "काहि न केहि सिख दीन" ये वाक्य इस भावको और भी जोरदार सिद्ध कर रहे हैं। इस मुरलीके स्वरमें लीन होकर कुलगलीको छोड़नेवाली कोई साधारण कामिनी न थीं, किन्तु "कुलवधू" थीं, और कुलवधू भी ऐसी जो एक दूसरीको मुरलीके स्वरमें लीन न होने, कुलगली न छोड़ने, कुलमर्यादाका उल्लंघन न करनेका उपदेश देती थीं, इतनेपर भी मुरलीके स्वरसे खिंचकर 'कुलगली' छोड़ 'कुञ्ज-गलीमें' पहुंच गयीं!

संस्कृत पद्यमें भी यह बात इस अनूठे ढंगसे नहीं कही गयी। "कुलगली" की व्याख्यासे पद्यका पूर्वार्ध भरा हुआ है। "वर्त्म

जानन्ति" में और "काहि न केहि सिख दीन" में बहुत भेद है। केवल किसी बातको साधारणतया जाननेमें और अच्छी तरह समझकर उपदेश देनेमें अन्तर है, किसी बातका साधारण ज्ञान रखनेवाला उस विषयमें भूल कर जाय तो आश्चर्य नहीं, पर उस विषयका 'उपदेशक' यदि उसके विरुद्ध आचरण करे तो अवश्य आश्चर्यकी बात है।

७—*विहारी-सतसई और दूसरी सतसइयाँ*

दूसरी सतसइयाँ विहारीसतसईका मुक़ाबला भाषा, भाव और रचना आदि किसी बातमें भी नहीं कर सकीं। विहारीकी भाषामें और अन्य सतसईकारोंकी भाषामें इतना ही भेद है जितना किसी पुख़्ताकलाम "अहले-ज़बान" की टकसाली भाषामें और नये "ज़बांदां" की बहुत कुछ बनावटी और मिलावटी भाषामें हो सकता है। विहारीके शब्दोंको दूसरे लोगोंने प्रायः दोहराया है, पर दूसरोंकी रचनामें जाकर वही शब्द जो विहारीके यहां बड़ी आन वान और शानसे जमे बैठे थे, बन्धशैथिल्यादिके कारण कर्णकटु, नीरस और ढीले पड़ गये हैं। विहारीने जिस शब्दको, जिस मुहावरेको, जिस जगह गढ़कर बिठला दिया है. फिर उसे कोई और उस तरह नहीं बिठा सका। विहारीने जिनका अनुसरण किया है, उनसे आगे निकल गये हैं, और विहारीकी जिन्होंने नक़ल की है वह विहारीकी परछाईं भी नहीं दबा सके।

शृंगारसतसईकार, विक्रमसतसईकार, और रतन-हजाराकारने विहारीकी चालपर चलनेकी बहुत जगह चेष्टा की है। उसी प्रसंगपर उन्हीं शब्दों और भावोंसे काम लिया है, पर वैसा चमत्कार नहीं

ला सके। वे मानो अपनी इस असफलतापर खिसियानी हँसी हँसते हुए विहारीकी ओर इशारा करके कह रहे हैं—

"यानेव शब्दान् वयमालपामो यानेव चार्थान् वयमुल्लिखामः।
तैरेव विन्यासविशेषभव्यैः सम्मोहयन्ते कवयो जगन्ति ॥"*

* * *

विहारीके अनुकरणमें किसीको कहीं भी सफलता नहीं हुई। सफलता तो एक ओर, कहीं कहीं तो किसी किसीने बेतरह ठोकर खायी है, अर्थका अनर्थ हो गया है। अकबरकी यह उक्ति विहारीके इन अनुकारियोंपर पूरी तरह चरितार्थ हो रही है—

"मेरी तर्ज़-फुग़ांकी बुल-हवस् तक़लीद करते हैं,
ख़िजल् होंगे असरकी भी अगर उम्मीद करते हैं।"†

* * *

इस प्रकारके कुछ उदाहरण उक्त तीनों कविताओंसे नीचे उद्धृत किये जाते हैं, जिनमें विहारीकी नक़ल उतारी गयी है। थोड़ासा ध्यान देकर पढ़नेसे ही विहारीकी कवितामें और इनमें जो अन्तर है, स्पष्ट प्रतीत हो जाता है, इसलिये विशेष कहनेकी

---

* जिन शब्दोंका प्रयोग और जिन अर्थोंका उल्लेख, हम करते हैं (और सुनने वालोंपर ख़ाक असर नहीं होता !) उन्हीं शब्दों, उन्हीं अर्थों को मुनासिब मौक़ेपर क़रीनेसे (बन्ध-चारुत्वके सिंहासनपर) विठाकर—ख़ूबसूरतीसे सजाकर—कवि लोग संसारको मोह लेते हैं !

† अर्थात—मेरी कोमलकान्तपदावलिका, मेरी करुणोत्पादक कथन-शैली का मनमौजी ईर्ष्यालु लोग अनुकरण (रीस) तो करते हैं, इच्छा उनकी, करें; पर यदि वैसे प्रभाव (असर) को आशा रखते हैं तो पछतायँगे—लज्जित होंगे !

आवश्यकता न होगी । इस प्रसंगमें पहले हम उसी 'महारथी'-को लेते हैं जिसकी रचनाके सम्बन्धमें 'विवेचनाविनोद' में कहा गया है कि "यह विहारीकी सतसई के समान है"—और विहारी के दोहेमें इसके दोहे मिला दिये जायँ तो पहचाने न जायँ"— इत्यादि ।

विहारीसतसई और शृंगारसतसई

दोहा—सन सूक्यौ बीत्यौ बनौ ऊखौ लई उखारि ।
हरी हरी अरहर अजौं धर धरहर हिय नारि ॥६७॥
(वि० स०)

*　　　*　　　*

दोहा—कित चित गो री जो भयो, ऊख रहरि कौ नास ।
अजहूं अरी हरी हरी, जहँ तहँ खरी कपास ॥ ६० ॥
(शृं० स०)

*　　　*　　　*

ऊपरके दोहेमें विहारीने शब्दरचना-चातुर्य—अनुपम छेकानुप्रास—माधुर्यके अतिरिक्त, अपनी प्रकृतिपर्यवेक्षण-प्रवीणताका परिचय भी कितने अच्छे प्रकारसे दिया है ।

किसी "संकेतविघट्टना"—"अनुशयाना" नायिकाको अन्तरङ्ग सखी धीरज बँधा रही है कि यद्यपि सन सूख गया, बन (कपास) की बहार बीत गयी और ऊख (ईख) भी उखाड़ ली गयी, पर अभी हरी हरी अरहर खड़ी है, इसलिये हृदयमें धीरज धर, घबरा मत, एक बहुत सघन संकेतस्थल (सहेट)—अरहर का खेत—अभी बना है ।

दोहेमें इन चीज़ोंके सूखने और उखड़ने आदिका क्रम बिलकुल ठीक है, हर जगह का किसान इसकी ताईद करेगा।

अब ज़रा शृंगारसतसईकारका "नेचरनिरीक्षण" देखिये। इन हज़रतने अनभिज्ञतासे या "नास" के साथ 'कपास' की तुक मिलानेकी धुनमें, कितनी उलटी बात कह डाली है जो वास्तविकताके--प्रायः सार्वदेशिक अनुभवके—विरुद्ध है। ऊख (ईख) के बाद रहरि—अरहरका नाश नहीं हो जाता, प्रत्युत वह ईखके बहुत दिनों पीछेतक--गेहूं कटने तक—हरी भरी खड़ी रहती है, और बन—कपासकी--बहार इन दोनोंसे बहुत पहले बीत जाती है। पर शृंगारसतसईकार उस समय "जहँ तहँ, हरी हरी कपास खरी" देख रहे हैं जब उसका अक्सर निशान भी नहीं रहता। इधर भारतवर्षमें तो क़रीब क़रीब सब जगह ऐसा ही होता है, यह किसी ख़ास जगहकी बात कही हो, कहीं एक आध जगह ऐसा देखकर,. विहारीके दोहेको इसलाह दी गयी हो, तो नहीं कह सकते।

मौलाना हालीने अपने 'दीवानके मुक़द्दमे'में कविके लिये "सृष्टि-कार्यनिरीक्षणकी आवश्यकता क्यों है" इस बातको "मसनवी" (आख्यायिका) पर बहस करते हुए एक उदाहरण द्वारा समझाया है। हाली लिखते हैं—

"......इसी प्रकार क़िस्सेमें ऐसी छोटी छोटी प्रासंगिक बातोंका बयान करना, जिन्हें तजरबा और मुशाहदा झुटलाते हों कदापि उचित नहीं, इससे आख्यायिकाकार (कवि) का इतना बेसलीक़ापन साबित नहीं होता, जितनी उसकी अज्ञता और लोकवृत्तान्त से अनभिज्ञता, या ज़रूरी अनुभव प्राप्त करनेसे बेपरवाई साबित होती है। जैसा कि "बदरेमुनीर" में एक ख़ास मौक़े और वक़्त का समां (दृश्य) इस तरह बयान किया है—

"वो गानेका आलम वो हुस्ने-बुतां,
वो गुलशनकी ख़ूबी वो दिनका समां।"
"दरख़्तोंकी कुछ छांव और कुछ वो धूप,
वो धानोंकी सब्ज़ी वो सरसोंका रूप ॥"

× × ×

अख़ीर मिसरेसे साफ़ यह प्रतीत होता है कि एक तरफ़ धान खड़े थे और एक तरफ़ सरसों फूल रही थी। मगर यह बात वाक़ेके ख़िलाफ़ है, क्योंकि धान ख़रीफ़में (सावनीमें) होते हैं, और सरसों रबीमें (असाढ़ीमें) गेंहुओंके साथ बोयी जाती है।—"

शृंगारसतसईका यह दोहा 'बदरेमुनीर' के इस धान सरसों-वाले मिसरेको भी मात कर गया!

+ + +

कौन सुनै का सौं कहौं सुरति बिसारी नाह।
बदाबदी जिय लेत हैं ये बदरा बदराह ॥३१०॥*
(वि० स०)

* * *

इक तो मदन-बिसिख लगे मुरछि परी सुधि नाहिं।
दूजे बद बदरा अरी घिरि घिरि बिष बरषाहिं ॥३५६॥
(शृं० स०)

यह दोहा 'शृंगारसतसई' के अच्छे चुने हुए दोहोंमें गिना जा सकता है। इसमें भी बिहारीकी पूरी तरह नक़ल करनेकी कोशिश की गयी है।

---

* "बोली बदरान सों बुझै न बीजुरी की आग
बीजुरी न मारे बजमारे बदरान को।" (शंकर)

विहारीने विरहिणीके मुखसे बेबसीकी हालत में "...... सुरति बिसारी नाह" कहलाकर जो हृदयहारी भाव मार्मिकतासे व्यक्त किया है, वह "इक तो मदन बिसिख लगे" इस सूरतमें आकर, खुलकर चमत्कारहीन होगया है। विहारीने उस दशामें-निःसहायावस्थामें—"उद्दीपन विभाव" (वर्षामेघ) के आक्रमणकी असह्यता, दोहेके उत्तरार्धमें कितने चमत्कृत ज़ोरदार, प्रभावशाली शब्दोंमें, किस सुन्दरतासे प्रकट की है कि बस सुनकर तबीअत फड़क जाती है, सुननेवालेके दिलपर चोट सी लगती है—

"बदाबदी जिय लेत हैं, ये बदरा बदराह"

इधर शृंगारसतईकारने "उद्दीपनविभावके" प्रादुर्भावका उल्लेख करनेसे पहले ही ग़रीबको 'मदनविसिख" लगाकर मूर्छित और वेसुध बना डाला है! यह इस प्रकार उद्दीपन विभावका पश्चान्निर्देश अत्यन्त अनौचित्यपूर्ण है। इसमें "उद्दीपन विभाव" की बुरी तरह—सरासर—हतक हुई है, उसके अधिकार-पर अनुचित आक्रमण हुआ है, उसका महत्त्व घट गया है। 'तकबीर' का कलमा * पढ़नेवाले 'मुल्ला' (बदरा) के पहुँचनेसे पहले ही हिरनी (विरहिणी) हलाल कर दी गयी है!

"बदरा बदराह" का चलता हुआ "यमक" "वद बदरा"में उतरकर कुछ लँगड़ा सा हो गया है! "बदाबदी जिय लेत हैं" इस ज़ोरदार मुहावरेमें जो ज़ोर है, वह 'घिरि घिरि विष वर्षाहिं" की घिसपिसमें घट गया है। यद्यपि इसके "विष" में कुछ चिपक—श्लेष—है, और यह "विष" उँगली उठाकर इस प्रसिद्ध पद्यकी ओर इशारा कर रहा है—

"विषं विषधरैः पीतं, मूर्च्छिताः पथिकाङ्गनाः"।

---

* तकबीरका कलमा = वह वाक्य जो मुसलमान लोग वध्य पशुको मारते वक्त पढ़ते हैं।

दोनों दोहोंमें यद्यपि वर्णन एक ही प्रसंगका है, अभिप्राय एकही है, पर विदग्ध, विहारीकी सूक्तिको ही पसन्द करेंगे—

"अर्थावबोधेऽपि समे रसज्ञैरान्विष्यते सत्कविसूक्तिरेव ।
अपत्यलाभेऽपि समे विदग्धा रूपोत्तरामेव हि रोचयन्ते ॥"*

+ + +

दोहा—नित संसौ हंसौ बचतु, मानौं इहिं अनुमान ।
बिरह-अगनि लपटनि सकै, झपट न मीच-सिचान ॥४२५॥
(वि० स०)

+ + +

दोहा—चन्दन कीच चढ़ाय हूं, बीच परे नहिं रांच ।
मीच नगीच न आसकै, लहि विरहानल आंच ॥३६५॥
(शृं० स०)

+ + +

यहां भी विहारीकी नक़ल उतारी गयी है, पर यह भी निरी विडम्बना है। विहारीने जीवको हंसका फड़कता हुआ और मृत्यु-(मीच) को श्येन (सिचान) का उड़ता हुआ रूपक देकर और हेतूत्प्रेक्षाके परोंपर चढ़ाकर, दोहेके मज़मूनको आसमानपर पहुंचा

---

*—साधारण कविके और सत्कविके वर्णनमें मतलबकी बात एक होने पर भी रसज्ञ—सहृदय—सत्कविहीकी सूक्तिकी टोहमें रहते हैं। अपत्यलाभ—सन्तानोत्पत्ति—कुरूपा और सुरूपामें समान ही है, पर विदग्ध—रसिया—'सुरूपा' ही को पसन्द करते हैं।

दिया है। शृंगारसतसईका दोहा इसके "नगीच" नहीं पहुँच सका, मंज़िलों नीचे परकटे कबूतरकी तरह ख़ाकपर (चन्दनकी कीचमें) पड़ा लोट रहा है !

"चन्दनकी कीच (पङ्क) चढ़ानेसे भी कुछ बीच 'अन्तर' नहीं पड़ता, दाह कम नहीं होता, ठंड नहीं पहुँचती, विरहानलकी आंचसे मौत नज़दीक (नगीच) नहीं आ सकती" इसमें और मृत्युरूप बाज, जीव-हंसपर विरहाग्निकी लपटके डरसे नहीं झपट सकता, पास फटकते उसके पर जलते हैं, इससे इस दशामें भी वह मृत्युके आक्रमणसे बची हुई है"—इस कथनमें बहुत भेद है।

× + +

दोहा—पहुंचति डटि रन सुभट लौं, रोकि सके सब नाहिं।
लाखनहूं की भीर में, आंखि वहीं चालि जाहिं ॥६२॥

+ + +

धीर अभय भट भेदिकै, भूरि भरी हू भीर ।
झमकि जुरहिं द्रग दुहुँनिके, नेकु मुरहिं नहिं बीर ॥१४७॥

* * *

विहारीके दोहेमें "...डटि रन सुभट" पद कितने ज़ोरदार हैं। "रोकि सके सब नाहिं"में कितना अदम्य प्रबल पराक्रम भरा है। "लाखन हूँ की भीर"में "भूरि भीर"से बहुत आधिक्य है। नीचेके दोहे में "धीर, वीर," पदोंके रहते 'अभय' पद सर्वथा व्यर्थ है, निरा भरतीका, बिलकुल बराये-बैत है। फिर जुड़नेके बाद मुड़ना कैसा ! "झमक जुरहिं द्रग दुहुँनिके" वाक्यभी विहारीके "जुरे दुहुनिके द्रग झमकि" (६१ दो०)का अपहरण है। शृंगारसतसईके इस दोहेके जोड़बन्द इतने ढीले हैं कि पदपद पर डगमगाता है।

+ + +

दीप उजेरेहू पतिहि, हरत बसन रति-काज।
रही लपटि छबिकी छटनि, नैकौ छुटी न लाज ॥३१॥
(वि० स०)

* * *

बसन हरत बस नहिं चल्यौ, पिय बतरस बस आय।
अँगन चिलक तिय नगनकी, लीनी लाज बचाय ॥६६॥

* * *

"हरत बसन" इस ढाकेकी साड़ीके बारीक परदेमें जो बात ढकी थी, उसे "तियनगन" इस धींग वाक्यने बिलकुल नंगा कर दिया। इससे सहृदयताकी सहचरी विदग्धताने शरमाकर आंखें बन्द करलीं! "रही लपटि छबिकी छटनि नैकौ छुटी न लाज"में जो विचित्र चमत्कार है ‡ वह "अँगन चिलक तिय नगनकी लीनी लाज बचाय"में आकर बहुत मन्दप्रभ पड़ गया है। "नैकौ छुटी न लाज"में और "लीनी लाज बचाय"में इतना ही भेद है जितना "बाल बाँका न होने"में और "जान बची लाखों पाये"में है—इति सूक्ष्मेक्षिकया निभालयन्तु विचक्षणाः।

---

‡ इसी प्रसंगमें यही बात चमत्कृत रीतिसे महाकवि मङ्खकने कही है—

"प्राणेश्वरेण रभसापहृतोत्तरीय-
मेणीदृशो जघनबिम्बमपत्रपिष्णोः।
अग्रेऽसृजञ्जघनवद्युति-संस्तवेन
कस्याश्चन स्वयमिवावरणान्तराणि॥"

(मङ्खक, श्रीकण्ठचरित १५।१६)

—किसीके निरावरण जघन-बिम्बने अपने आगे स्वयं ही नवीन नवीन छवि की छटाओंके आवरण-परदे-पैदा कर दिये। (उत्तरीयापहर्त्ता हज़रत देखते ही रह गये। कुछ नज़र न आया, दृश्य—(किसीके जघन-बिम्ब) के साथ द्रष्टा की आंखोंपर भी छविकी छटाका परदा पड़ गया!)

"जदपि चवायनि चीकनी, चलति चहूं दिस सैन ।
तदपि न छांड़त दुहुनिके, हँसी रसलि नैन ॥६५॥
(वि० स०)

* * *

"घरहाइन चरचैं चलैं, चातुर चाइन सन ।
तदपि सनेह सने लगैं, ललकि दुहूं के नैन ॥ ३१४ ॥
(शृं० स०)

* * *

विहारीके यहाँ "चीकनी" पद 'चवायनि'की 'सैन'का विशेषण था, उसे यहाँ "सनेह सने" बनाकर "दुहूँके नैन" पर चुपड़ दिया है, या चिपका दिया है या चस्पां कर दिया है ! 'रसीले'की जगह "ललकि" रख दिया है । "चवायनि"की "चाइन" (डाइनकी बहिन !) हो गयी है और उसकी सहायताके लिये एक "घरहाइन" और आ गयी है । इस तरह "तदपि न छाँड़त दुहुनिके, हँसी रसीले नैन"का "तदपि सनेह सने लगैं ललकि दुहूँके नैन" बन गया है ।

(ऊपरके दोहेपर विशेष "सतसईसंहार"में देखिये)

\+ \+ \+

"हौं हीं बौरी बिरह-बस, कै बौरो सब गाम ।
कहा जानि ये कहत हैं, ससिहि सीतकर नाम ॥४१६॥
(वि० स०)

* * *

"जाहि जोहि भारद भई, मरी परी दुख फंद।
ताहि सुधाधर क्यों कहैं, दारद सारद चंद॥ ४११॥
(शृं० स०)

❀ ❀ ❀

"जाहि जोहि" 'भारद' 'दारद' 'सारद' आदि, अटपटे शब्दाडम्बरकी 'गारद'के घेरेमें विहारीके भावको छिपानेकी—नूतनता लानेकी—चेष्टा की गयी है, पर इसमें और उसमें इतनाही अन्तर है जितना एक कांचके टुकड़े और रत्नमें होता है। (ऊपरके दोहे की विशेष व्याख्या आगे "विहारीके विरहवर्णन" प्रकरणमें देखिये)

\+ \+ \+

बिरह जरी लखि जींगनानि, कह्यौ सु उहि कै बार।
अरी आव भजि भीतरी, बरसत आज अंगार॥३८५॥
(वि० स०)

❀ ❀ ❀

ए जींगन न उड़ाहिं री, बिरहजरी हि जराय।
इत आ री मदनागिकी, चिनगारी रहिं छाय॥ ६२॥
(शृं० स०)

❀ ❀ ❀

शृङ्गारसतसईकारको 'री री' का कुछ रोग है, 'री' को इन्होंने अक्सर दोहोंमें एकही जगह मुकर्रर सिकर्रर तकलीफ़ दी है। पूर्वार्धमें 'री' था ही, उत्तरार्धमें फिर 'आ री' बनकर आ गया है। 'बिरह जरी' और "जींगननि" जो विहारीके यहाँ हैं, उन्हें ही ज़रा आगे पीछे करके बिठला दिया है। "लखि"का "उड़ाहिं" हो गया है। "अरी आव भजि भीतरी"का इख़्तसार "इत आ री" हुआ है। "बरसत आज अँगार"—गर्दिशे-ऐमालसे "मदनागिकी

चिनगारी रहीं छाय"के रूपमें बदल गया है ! 'बिरहजरी'-वाक्य जिस भावको अपनी ध्वनिमें चुपचाप कह रहा था, उससे इन्हें सन्तोष नहीं हुआ, 'मदनागिकी चिनगारी' कहे विना चैन नहीं पड़ा !

\+ \+ \+

लिखन बैठि जाकी सबिहि, गहि गहि गरब गरूर ।
भये न केते जगतके, चतुर चितेरे कूर ॥५३४॥

(वि० स०)

❀ ❀ ❀

सगरब गरब खिंचै सदा, चतुर चितेरे आय ।
पर वाकी बांकी अदा, नेकु न खींची जाय ॥४७८॥

(शृं० स०)

❀ ❀ ❀

मालूम होता है विहारीके "गरब, गरूर"में पुनरुक्ति समझकर, नीचेके दोहेमें "सगरब गरब"की "इसलाह" दी गयी है ! इसे पुनरुक्ति समझकर कुछ और लोग भी अक्सर धोखेमें पड़े हैं, किसीने 'गरब'का 'गहब' (अधिक, भारी) बनाया है। किसीने हिन्दू और मुसलमान चितेरोंके साथ 'गरब'का और 'गरूर'का यथाक्रम सम्बन्ध जोड़ा है !! पर यहाँ पुनरुक्ति नहीं है। इस जगह "गरूर"का अर्थ "मग़रूर"—सरापा ग़रूर--है अर्थात् बहुत गर्वीला। जहाँ गुणवाचक या भाववाचक शब्दसे गुणीका बोध कराया जाता है, वहाँ गुणीमें गुणप्रकर्ष व्यङ्ग्य होता है। यथा-"साक्षादिव विनयः" यहाँ विनयीमें विनयाधिक्य व्यङ्ग्य है। वाणकी कादम्बरीमें तो इस प्रकारके प्रयोग बहुतायतसे हैं--"प्रत्यादेशो धनुष्मतां"--इत्यादि । उर्दू कवियोंके "ज़ौक़"

"शौक़" "दर्द" "दाग़" आदि 'तख़ल्लुस' भी एक प्रकारसे इसका उत्तम उदाहरण हो सकते हैं।

शृंगारसतसईके इस दोहेकी "क्रिया" ख़राब होगयी है, "कर्म्म" भी कुछ बिगड़ गया है। "खिंचै" रक्खें तो वेचारे चतुर चितेरे ख़ुद खिंचे आते हैं! और चितेरोंपर दया करके "खींचें" पढ़ें तो मात्राकी टाँग खिंचकर बढ़ जाती है! इस दोहेकी शब्द-स्थापना कुछ ऐसी वेढंगी और विषम है कि पढ़नेमें ज़बानको धचका लगता है, सहृदयताके सुकुमार—कोमल—कान इस खींचतानको सह नहीं सकते।

(विहारीके उक्त दोहेकी गम्भीरता—ब्रह्वर्थतापर पहले ९२ पृष्ठसे १०० पृष्ठ तक लिखा जा चुका है)

\+ + +

चिर जीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधरके वीर ॥२२६॥
(वि० स०)

❀ ❀ ❀

जुग जुग ये जोरी जियै, यों दिल काहु दिया न।
ऐसी और तिया न हैं, ऐसे और पिया न ॥३५२॥
(शृं० स०)

❀ ❀ ❀

ऊपरके दोहेको देखे यह नीचेका दोहा कितना नीचा है! 'दिया' 'तिया'—'पिया' की फ़िज़ूल तुकबन्दीके सिवा इसमें ज़रा भी तो कवित्वचमत्कार नहीं।

× × ×

औंधाई सीसी सुलखि, बिरह बरति बिललात।
बिच ही सूख गुलाब गौ, छींटौ छुई न गात ॥२८२॥

❀ ❀ ❀

बिरह आंच नहिं सहि सकी, सखी भई बेताब।
चनकि गई सीसी गयौ, छिरकत छनकि गुलाब ॥६००॥
(शृं० स०)

नीचेका दोहा ऊपरके दोहेका स्पष्ट "प्रतिबिम्ब" है। "सीसी चनकि (चटक) गई और सखी बिरहकी आंच नहीं सह सकी, बेताब भई" नयी बात है। बिहारी दूसरी जगह (बिरहवर्णनमें) इससे कहीं अधिक कह चुके हैं। यहां "बिच ही सूख गुलाब गौ, छींटौ छुई न गात" में ही बहुत कुछ कह दिया है।

× × ×

मोहि भरोसौ रीझि है, उझकि झांकि इक बार।
रूप रिझावनहार वह, ये नैना रिझवार ॥३३६॥
(बि० स०)

❀ ❀ ❀

क्यों न एक मन होत-तन, दोय प्रान इक बार।
ये नीकी रिझवारि हैं, वे नीके रिझवार ॥१०५॥
(शृं० स०)

नीचेके दोहेमें व्यर्थकी तुकबन्दीके सिवा कवित्वका पता नहीं। पूर्वार्धमें पड़े "प्रान" ने भारभूत होकर इसे और भी बेजान बना दिया है। "ये नीकी रिझवारि हैं वे नीके रिझवार"—बिलकुल वाहियात है। "रूप रिझावनहार वह, ये नैना रिझवार" में एक बाँकपन है, कुछ बात है, कवित्व है।

विहारीसतसई और विक्रमसतसई

ललित स्याम लीला ललन, चढ़ी चिबुक छवि दून ।
मधु छाक्यो मधुकर परयौ, मनौ गुलाबप्रसून ॥ ४८७ ॥
(विहारी)

* * *

अति दुति ठोढ़ी बिन्दुकी, ऐसी लखी कहूं न ।
मधुकरसूनु छक्यो पर्खौ, मनौ गुलाब प्रसून ॥
(विक्रम)

* * *

विहारीके इस दोहेकी मौजूदगीमें विक्रमजीको यह दोहा गढ़नेकी न जाने क्या ज़रूरत मालूम हुई! विहारीके शब्दार्थ-का अपहरण तो किया, पर उसे छिपा न सके, इसलिये यह राजशेखर के उस अर्थापहरण-विचारवाले प्रसिद्ध फ़ैसिलेसे भी कुछ लाभ नहीं उठा सकते—

"स नन्दति विना वाच्यं, यो जानाति निगूहितुम्"

पशु चुरानेवाले चालाक चाइयां, सींग कान काटकर पशुका हुलिया बदल दिया करते हैं। यहां भी विहारीके दोहेके सींग "ललित स्याम लीला" काटकर और 'मधु' उड़ाकर—'मधुकर' का "मधुकरसूनु" बनाकर—छिपानेकी चेष्टा की है, सही, पर "मनौ गुलाबप्रसून" पुकार कर कह रहा है कि मैं वही विहारी का धन हूं! 'छक्यो, पर्खौ,' इसकी गवाही दे रहे हैं! ललित स्याम लीला-(सुन्दर स्याह गोदना)-से चिबुकपर जो दूनी छबि चढ़ रही थी, वह इस हुलिया बदलनेमें बेशक जाती रही। 'मधु'के छीन लेनेसे 'मधुकरसूनु' बेचारा भूखा रह गया! उसे इस दशामें

"छक्यो पर्यौ" नहीं, 'भूखौ पर्यौ" कहना चाहिये। माल्म होता है मानो दुर्भिक्षपीड़ित बच्चे की तरह भूखके मारे मूर्छित अवस्थामें अचेत पड़ा है !

\+ \+ \+

छिनक छबीले लाल वह, जौं लगि नहिं बतराय।
ऊख महूख पियूख की, तौं लगि भूख न जाय ॥३३६॥
(विहारी)

कहि मिश्री कह ऊखरस, नहीं पियूष समान।
कलाकन्द कतरा अधिक, तू अधरारसपान ॥८४॥
(विक्रम)

* * *

विहारीने 'वृत्त्यनुप्रास' और 'व्यतिरेक' के मधुरपाकमें दोहेको पागकर किसी मधुरवाणीके 'बतराने' के सामने-(वाणीके माधुर्यकी तुलनामें)—'ऊख' 'महूख'-मधु (मधूक-महुवा ?) और 'पियूष' (अमृत) को घटाया है, और ख़ूब तरतीबसे सिलसिलेवार घटाया है। बातमें एक मज़ा आगया है। विक्रमने "अधरारस"से मुक़ाबला किया है, पर इनकी कविताके पलड़ेमें "कान" पड़ गयी, तुलना ठीक नहीं हो सकी। पहले तो 'मिश्री'के वाद "ऊखरस" का घड़ा चढ़ाना ही ठीक न था, ख़ैर उसे 'पियूष' ने ठीक कर दिया था कि फिर "पासंग"में "कलाक़न्द"का ढेला ला धरा ! इस असमानके साथ समानता करनेमें 'पियूष' का अपमान होगया, वह नीचे उतर गया, अब 'मिश्री' 'ऊखरस' और केवल 'कलाकन्द' ... की मुक़ाबला रह गया। कुछ कमी हो तो एक बड़ी सी "भेली"

और रख सकते हैं ! उससे भी पूरा न पड़े तो शीरेका एक बड़ा पीपा और सही !! कैसा बुरा आदर्श "पतत्प्रकर्ष" अथवा शब्दगत प्रक्रमभङ्ग हुआ है !

+ + +

टटकी धोई धोवती, चटकीली मुखजोति।
फिरति रसोई के बगर, जगर मगर दुति होति ॥२४३॥

(विहारी)

भोगवती भोजन रचत, मृगलोचनि सुखदानि ।
घूंघट पटकी ओट करि, पियको आगम जानि ॥९३॥

(विक्रम)

❀ ❀ ❀

भोगवती, सुखदान, मृगलोचनी जो नायिका है सो भोजन रचती है अर्थात् बनाती है, एक बात। किस प्रकार बनाती है,—प्रियका आगमन जानकर घूंघटके पटकी ओट करके, दूसरी बात। 'भोगवती' कहनेका अभिप्राय शायद यह है कि उसे खाने पीनेका बहुत शौक़ है, दूसरेका बनाया भोजन नहीं भाता। "मृगलोचनी" है इसीलिये घूंघट पटकी ओट करायी गयी है। मृगलोचनीके नैन-मृग खुला छोड़नेपर शायद प्रियके दिलका खेत चर लेते ! भोजन बनाकर खिलानेवालीको "सुखदान" कहना उचित ही है। भोजनका समय है, इसलिये प्रियका आना एक जरूरी बात है। इस प्रकार विक्रमजीने इस दोहेमें कितने भाव भर दिये हैं! पर इससे कविताप्रेमीकी तबीअ़त नहीं भरती। सहृदय रसिककी तृप्ति नहीं होती। विहारीकी 'टटकी धोई धोवती (धोती)' ने 'घूंघट पट' का पर्दा फ़ाश कर दिया, "चटकीली मुख-जोति" ने 'भोगवती' 'मृगलोचनि' 'सुखदानि' सबको कान पकड़-

कर कविताके रसोईघरसे बाहर निकाल दिया। और "फिरति रसोई के बगर" ने लज्जासे मुँह छिपाकर नीचे बैठनेको विवश कर दिया। "जगर मगर दुति" ने अपने प्रकाशमें बिलकुलही विलीन कर दिया। 'दुलहिन' के रसोई बनानेका चटकीला चित्र खींच दिया है।

"टटकी धोई धोवती, चटकीली मुख जोति।
फिरति[लसति] रसोईके बगर, जगर मगर दुति होति॥"

\+ \+ \+

लाज-लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं।
ये मुँहजोर तुरंग लौं, ऐंचतहू चलि जाहिं॥२६६॥

(विहारी)

चपल चलाकिन सौ चलत, गनत न लाज लगाम।
रोकै नहिं क्यौं हू रहत, दृग-तुरंग गतिवाम॥२६५॥

(विक्रम)

विक्रमके वामगति चपल दृग-तुरंग विहारीके मुँहज़ोर नैना-तुरंगको नहीं पहुँचते। इनकी मुँहज़ोरी—बदलगामी—से हार मानकर मानो सवार पुकार कर कह रहा है कि मेरे क़ाबूसे बाहर हैं—"सवार खाक हूँ बेअख्तियार बैठा हूँ"—

\+ \+ ÷

मोहि दियौ मेरौ भयौ, रहत जु मिल जिय साथ।
सो मन बांधि न दीजियै, पिय सौतिन के हाथ॥१८५॥

(विहारी)

दियौ हरखि हित सौ हियौ, लेत न फेर लजात।
आन हात प्रीतम सु अब, क्यौंकर सौंप्यौ जात। १०४॥
(विक्रम)

यहां भी विक्रमजीकी शिकायतका रंग विहारीके मुक़ावलेमें बहुत फीका है। विक्रम दी हुई चीज़को न लौटानेकी धार्मिक दुहाई देकर ही काम निकालना चाहते हैं। विहारी कहते हैं कि आपने मन मुझे दे दिया और वह पूरी तरह मेरा होगया, वह अब कहीं जाना नहीं चाहता, मेरे जीके साथ मिलकर रहता है, उसका जी यहां लग गया है, ख़ूब परच गया है। आप उसे ज़बरदस्ती, उसकी मर्ज़ीके ख़िलाफ़ बांधकर, सौतिनके हाथ देना चाहते हैं; ऐसा न कीजिये।

× × ×

मैं लै दयौ लयौ सुकर, छुवत छनकिगौ नीर।
लाल तिहारो अरगजा उर ह्वै लग्यौ अबीर ॥२०२॥
(विहारी)

उझक अलिन की ओट ह्वै, नवल नारि दृग जोइ।
घालत मूठ गुलाल भर, छुटत अरगजा होइ ॥२१४॥
(विक्रम)

* * *

विहारीने विरह-संतापमें 'अरगजे' का 'अबीर' बनाया था। विक्रमने उसे सात्विक प्रस्वेदमें सानकर फिर अरगजा बना डाला है। पर विहारीके कलामकी गरमीके आगे विक्रमका यह उद्‌गार गारा मालूम होता है!

\+ \+ \+

भूषन-भार सँभारि है, क्यों यह तन सुकुमार।
सूधे पाय न धर परत, सोभा ही के भार ॥ ५३७ ॥
(विहारी)

× × ×

हार निहार उतार धरि, विधि तन रचे सिंगार।
धरन चलत ललिकत तरुनि, बारभार सुकुमार ॥१६२॥
(विक्रम)

+ + +

चलत लंक लचकत चलति, सकति न अंग सम्हार।
भार डरनि सुकुमार वह, धरत न उर पर हार ॥ १७० ॥
(विक्रम)

+ + +

विहारीकी लासानी नाज़ुक ख़यालीका मुक़ाबला करनेके लिये विक्रमने पहले तो बालोंका भार अधिक बतलाकर हार उतरवाया, फिर लंक (कमर) की लचकके ख़यालसे उसी बातको दोहराया। पर विहारीकी शोभाके भारके सामने ये 'बार-भार' और "हार-भार" पहाड़से भी भारी हैं!

+ + +

जौ वाके तनकी दसा, देख्यौ चाहत आप।
तौ बलि नैक बिलोकियै, चलि औचक चुप चाप ॥३०८॥
(विहारी)

देखहु बलि चलि औचका, यह औसर फिर नाहिं।
खेलत कर कन्दुक लिये, रँग राउटी माहिं ॥१४८॥
(विक्रम)

❀ ❀ ❀

विहारीके इस दोहेकी व्याख्या ८० पृष्ठ पर पढ़कर, फिर विक्रमका यह दोहा देखिये। विहारीके वही ध्वनिपूर्ण पद, इस रंगरावटीमें आकर कैसे चमत्कारहीन होगये हैं।

विहारीसतसई और रतनहजारा

नीचीयै नीची निपट [फिराति] दीठि कुही लौं दौरि ।
उठि ऊँचै नीचै दियौ, मन-कुलंग झकझोरि ॥४६५॥
(सतसई)

* * *

छवि मिसरी जव लैं दई, तुव दृग-बाजन मैन।
मन-कुलंग कौं धरत हैं, ये बिच चंगुल सैन ॥ ४४१ ॥
(रतनहजारा)

* * *

विहारीका 'मन-कुलंग' 'रतनहजारे' में भी है। "कुही"का "वाज" बन गया है। क़ाफ़िया (तुक) बदल गया है, मज़मून वही है, पर बात वह नहीं है। "कुही" जिस चालाकीसे कुलंग-(कलविंक)-चिड़िया, या कबूतरका शिकार करती है, विहारीने उसकी ऐसी सच्ची तसवीर खींच दी है कि दोहेको पढ़कर हूबहू वही नक़शा आँखोंमें फिर जाता है। कुही-(बाज़की जातिकी एक शिकारी चिड़िया) किसी वृक्षकी डालीपर या घोंसलेमें बैठी हुई चिड़ियाको, या छतरीपर बैठे हुए कबूतरको पास पहुंचकर पहले वहांसे उसे उड़ा देती है, आप उसके नीचे नीचे उड़ती रहती है, जब उड़ते उड़ते चिड़िया अपने घोंसले या अड्डेसे इतने ऊँचेपर पहुंच जाती है कि जिससे जल्दी नीचे नहीं आ सकती तो नीचे उड़ती हुई "कुही" अचानक ऊपर उड़ती चिड़ियाके

ऊपर पहुंचकर उसे नीचे देकर पंजोंमें दबा लेती है। नीची नज़र-की मारके लिये यह उपमा कितनी अनुरूप है, नीची नज़रकी तरह यह ऊँची उपमा भी विदग्धोंके मनको पकड़ती है। विहारीकी "कुही"के सामने रसनिधिका पालतू बाज़ नज़रमें कुछ जँचता नहीं। फिर—छबि-मिसरी (?)-की बात और भी फीकी मालूम पड़ती है, मांसाहारी बाज़के लिये यह 'मिसरी'की चाट कैसी ?

\+ \+ \+

अलि इन लोयन कों कछू, उपजी बड़ी बलाय।
नीर भरे नित प्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाय ॥२५६॥

(सतसई)

* * *

पीवत पीवत रूप-रस, बढ़त रहै हित-प्यास।
दई दई नेही दृगनि, कछू अनोखी प्यास ॥ ३७० ॥

(रतनहजारा)

* * *

रसनिधिके इस 'रूप-रस' में उतना रस नहीं जितना विहारीके "नीर भरे नित प्रति रहैं" में है। "अनोखी प्यास" में "बड़ी बलाय" के आगे कुछ भी अनोखापन नहीं। 'दृगन' के "नेही" विशेषणने "अनोखी प्यास" का अनोखापन बहुत कम कर दिया। और 'हित प्यास' के 'हित' पदने तो और भी अनोखेपनका रहा सहा पर्दा उठा दिया। हितकी प्यास है, नेही (स्नेही) नेत्रोंको है, बस बात साफ़ हो गयी, अनोखापन काफ़ूर हो गया। इस जगह प्यासके मारे रसनिधिजीका क़ाफ़िया "तंग" हो गया है।

'हित प्यास'—'अनोखी प्यास'—पहले प्यास—पीछे प्यास—यह बेशक अनोखापन है।

\+ + +

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गांठ दुरजन हिये, दई नई यह रीति ॥२७३॥

(सतसई)

* * *

उरझत दृग बँधि जात मन, कहो कौन यह रीति।
प्रेम-नगरमें आइकै, देखी बड़ी अनीति ॥६२६॥

* * *

अद्भुत गति यह प्रेम की, लखो सनेही आय।
जुरै कहूं टूटै कहूं, कहूं गांठ परि जाय ॥६६४॥

(रतनहजारा)

* * *

विहारीके दोहेके भावको रसनिधिने इन दोहोंमें दो बार दोहराया है, पहली बार "असंगति" के दायरेमें दो चक्कर 'दृग' और 'मन'के नामपर लगाये हैं। 'दृग'के साथ 'मन' पर भी नज़र जमाए रहे हैं। दूसरी बार—सरपट दौड़े हैं और एक सांस "जुरै कहूं टूटै कहूं कहूं गांठि परि जाय" कहते गये हैं! पर विहारीसे बाज़ी नहीं ले सके।

पहला दोहा विहारीके इस नीचे लिखे दोहेकी नक़ल है, 'नेहपुर' का 'प्रेमनगर' बन गया है, 'लगालगी लोयन'का 'दृग उरझत' हो गया है—

क्यों बसियै क्यों निबहियै, नीति नेहपुर नाहिं।
लगालगी लोयन करैं, नाहक मन बँधि जाहिं ॥ २७४ ॥

\+ + +

खेलन सिखये अलि भले, चतुर अहेरी मार ।

कानन-चारी नैन-मृग, नागर-नरन सिकार ॥४५८॥

(सतसई)

* * *

प्रेम-अहेरी की अरे, यह अद्भुत गति हेर ।

कीने दृग-मृग मीत के, मन-चीते पर सेर ॥६२०॥*

(रतनहजारा)

* * *

यहां भी रसनिधिने विहारीके 'अहेरी मार' को "प्रेम अहेरी" बनाकर अपनाया है। निस्सन्देह विहारीकी छाया होनेपर भी रसनिधिका यह दोहा चमत्कारशून्य नहीं है, "मनचीते पर सेर" यह मुहावरा अच्छा है, इस श्लेषमें कुछ 'चिपक' है। पर 'शेर' का 'चीते' पर आक्रमण कुछ ऐसा आश्चर्यजनक नहीं। विहारीका मार (काम)–अहेरी, सचमुच बड़ा चतुर है, जिसने "काननचारी" (कानोंतक फैले हुए और वनमें चरनेवाले) नैनरूप मृग, इस ढंगसे सिखाये हैं कि वह 'नागर' (चतुर और नगरनिवासी)—नरोंका बेधड़क दिनदहाड़े शिकार करते हैं ! हिरनसा 'वहशी' जानवर जो आदमीकी सूरत देखकर कोसों भागता है, वह इस तरह आदमियों का शिकार करे, यह ज़रूर ताअज्जुबकी बात है। कितना अच्छा "श्लेष" और 'रूपक' है—

"काननचारी नैन-मृग, नागर-नरन सिकार"

\+ \+ \+

---

*इसी भावको बहादुरशाह 'ज़फ़र' ने इस प्रकार व्यक्त किया है :—

"दिले-पुरदाग़ से मेरे तुम्हारी आंख लड़ती है !
तमाशा है कि चीतेसे लड़ाते आप आहू हैं ।"

आहू = हिरन

इन दुखियाँ अँखियानिकौं, सुख सिरज्यौ ही नाहिं ।
देखै [देखत] बनै न देखतैं, अनदेखैं अकुलाहिं ॥२७० ॥
(सतसई)

❀ ❀ ❀

अरबरायँ देखै बिना, देखै पल न अघायँ ।
रसनिधि नेही नैन ये, क्यों समुझाये जायँ ॥४३१॥

* * *

भला "नेही" नैन किसीके समझाए कभी समझे भी हैं ? जो रसनिधिजीके समझाए समझेंगे ! इन्हें समझ लेना चाहिए कि यह ज़िद्दी बच्चे की तरह किसी तरह नहीं समझाये जा सकेंगे ।

विहारीकी "दुखियाँ अँखियान" की दशा बेशक दयनीय है, जिनके लिये किसी दशामें सुख बना ही नहीं । न देखते बनता है न बिना देखे ही रहा जाता है ।

विहारीके व्यङ्ग्य स्नेहमें एक चमत्कार है, उक्तिमें वैचित्र्य है । पदावलिमें माधुर्य है । "देखै बनै न देखते" यह एक ही पद ऐसा है, जिसका जवाब नहीं है ।

\+ \+ \+

रह्यौ ऐंचि अन्त न लह्यो [है], अवधि-दुसासन बीर ।
आली बाढ़त बिरह ज्यौं, पाञ्चाली कौ चीर ॥१२५॥
(सतसई)

* * *

दृग-दुस्सासन लालके, ज्यौं ज्यौं खैंचत जात ।
त्यौं त्यौं द्रौपदि-चीरलौं, मन-पट बाढ़त जात ॥२७१॥
(रतनहजारा)

* * *

निस्सन्देह विहारीकी कविताके अलङ्कारका अपहरण तो रसनिधिने करलिया 'रूपक' और 'पूर्णोपमा' दोनों उतर आये। पर खींचातानीके कारण इनके स्वरूपमें विरूपता आगयी, "दृग-दुस्सासन" का रूपक बहुत विरूप होगया है—"रसाभास" के काले कीचड़में पड़कर बहुत भद्दा होगया है। जब "द्रौपदि-चीर लौं" कह दिया, तब 'मन' के साथ 'पट' जोड़नेकी क्या ज़रूरत थी? द्रौपदीका चीर, यह उपमान ही 'मन' में पटत्वकी प्रतीति करा रहा है, अन्यथा यह "लौं" फिर किस मरज़की दवा है। विहारीके 'विरह' में देखिए, यही बात साफ़ झलक रही है। अब इसके 'रसाभास' पर दृष्टि दीजिए, रसनिधिके इस वर्णनसे प्रतीत होता है कि कोई 'महामनस्विनी' नायिका अपने मनकी अडिग बहादुरी-की डींग मार रही है कि "लाल" के (ऐसी दशामें नायकको "लाल" कहना काला अन्धेर है!) नेत्ररूपी दुस्सासन ज्यों ज्यों खींचते जाते हैं, त्यों त्यों द्रौपदीके चीरकी तरह मेरा मनरूप वस्त्र बराबर बढ़ता जाता है! अभिप्राय यह कि लाल (अहेरी) रूपके दाने डालकर अपने नेत्रोंका जाल कितना ही फैलावे पर मेरे मन पंछीको नहीं पकड़ सकता! यदि यही बात है तो 'विशुद्ध रसा-भास' है। यदि इसके कहने वाली दूती है, 'लाल' सुननेवाले हैं, जिसके विषयमें कहा जा रहा है वह कोई "पतिव्रता" है, तब भी यही बात है। और कोई छिपा भेद हो तो रसनिधिजी जानते होंगे।

विहारीकी "पूर्णोपमा" बड़ी मनोहर है। विरहिणी विरहकी अनन्त दीर्घतासे घबराकर कहती है कि अवधिरूप पराक्रमी दुश्शासन विरहको ख़ूब खींच रहा है, पर विरहका अन्त

नहीं हाथ आता, वह द्रौपदीके चीरकी तरह बढ़ताही जाता है। मतलब यह है कि अवधि भी विरहवेदनाको दूर करनेमें असमर्थ है, आनेकी अवधि आती है, परन्तु प्रिय नहीं आता, अवधि समाप्त हो जाती है, पर विरह की समाप्ति नहीं होती, दुश्शासनके समान अवधि अपना पूरा ज़ोर लगाकर थक जाती है, पर पाञ्चालीके चीरकी तरह विरहका अन्त नहीं मिलता, वह बढ़ता ही जाता है।

\+ \+ \+

पत्रा ही तिथि पाइयतु, वा घर के चहुं पास।
नित प्रति पून्यो ई रहै, आनन ओप उजास ॥४८६॥

(सतसई)

* * *

कुहूनिसा तिथिपत्रमें बाचन कौ रहि जाइ।
तुव मुख-ससिकी चांदनी, उदै करत है आइ ॥१६७॥

(रतनहजारा)

* * *

विहारीके दोहेमें और रसनिधिके दोहेमें इतनाही भेद है जितना "पून्यो" (पूर्णमासी) और "कुहूनिसा" (अमावस्या)में होना चाहिये! "कुहूनिसा" कहनेसे अन्य तिथियोंकी सत्ता समझी जा सकती है, सिर्फ़ कुहूनिसा बांचनेको रह जाती है और अन्य अष्टमी, दशमी आदि निशाएं देखनेको रहजाती हैं, ऐसा समझा जा सकता है। विहारीके यहां केवल 'कुहूनिसा' की ही नहीं सब तिथियोंकी यही दशा है। वहां पूर्णमासीका एकछत्र राज्य है, बाक़ी सबकी सब तिथियाँ तिथिपत्रके क़िलेमें एक साथ नज़रबन्द हैं, बाहर नज़र नहीं आतीं।

\+ \+ \+

एक संस्कृत कविने भी इस मज़मूनपर तबीअ़त लड़ायी है, यह बहुत आगे बढ़ गये हैं, कहते हैं—

"तानि प्राञ्चि दिनानि यत्र रजनी सेहे तमिस्रापदं,
सा सृष्टिर्विरराम यत्र भवति ज्योत्स्नामयो नातपः।
अद्यान्यः समयस्तथाहि तिथयोऽन्यस्या मुखस्योदये,
हस्ताहस्तिकया हरन्ति परितो राकावराकीयशः॥"

❀ ❀ ❀

—अर्थात् वह पुराने दिन गये जब रात काली कहलाती थी, वह सृष्टि हो चुकी, जब धूपमें चांदनी नहीं खिलती थी, आज कुछ और ही समय है, देखो न, इसके मुखके उदय होनेपर बदावदीसे सब तिथियां, पूर्णमासी बेचारीके यशको चारों ओरसे लूट रही हैं! प्रत्येक तिथि पूर्णमासी होनेका दम भरती है!

इसमें बात इतनी बढ़ादी गयी है कि सुनते ही बनावटीपनकी बू आने लगती है। जब सारी दुनियामें ही यह हालत है तो फिर यह सुनाया किसे जा रहा है! सुननेवाला भी तो इस दशा-विपर्यासको स्वयं देख रहा है, हां यदि वह बहुत दिनों बाद किसी दूसरी सृष्टिसे लौटकर पूछ रहा है तो हो सकता है! "सब तिथियां चारों ओरसे पूर्णिमाके यशको लूट रही हैं" इस कहनेसे यह भी पाया जाता है कि तिथियोंकी पृथक् सत्ता अभी बनी है पर वह पूर्णमासी सी होरही हैं। विहारीके "पत्राही तिथि पाइयतु" में इससे अधिक हृदयहारी चमत्कार है, विहारीके यहां सिर्फ़ "वा घरके चहुं पास"—की बात कही गयी है, जो बेतकल्लुफ़ कही और सुनी जा सकती है, इस उक्तिके चमत्कारमें कृत्रिमताकी प्रतीति नहीं होती, कहनेके ढंगमें इतनी सादगी और बेसाख़्तगी है कि आश्चर्यजनक होने पर भी बात सच्ची सी जान पड़ती है।

उर्दू के किसी तुकबन्दने भी किसीको अटारीपर चढ़ाकर रातका ख़ात्मा कराया है और चांदको मैदान छोड़कर भगाया है—

"तमाम रात हुई करगया किनारा चांद
बस उतरो बामसे तुम जीते और हारा चांद" †

पर इनके बामसे–अटारीसे–नीचे उतरते ही फिर रात हो जायगी और चांद जीत जायगा, वह फिर चमकने लगेगा! यह अच्छा 'सूर्य' है जो अटारीसे नीचे उतरते ही बन्द मकान का—तहख़ानेका—चिराग़ बन जाता है!

× × ×

ऊपर जिन हिन्दी कवियोंकी कवितासे विहारीकी तुलना की गयी है, वे सब अपने अपने ढंगके बहुत अच्छे कवि थे, उनकी कवितामें भी जहाँ तहाँ असाधारण चमत्कार पाया जाता है। पर जहाँ कहीं ये लोग विहारीकी चालपर चले हैं—विहारीने जिन मज़मूनोंपर क़लम तोड़ दिया है, उनपर जब इन्होंने क़लम उठाना चाहा है—वहाँ रह गये हैं। यही दिखाना इस तुलनाका अभिप्राय है।

कविवर भिखारीदासकी गणना हिन्दीके आचार्योंमें की जाती है। इन्होंने प्रायः कविताके प्रत्येक अङ्गपर लिखा है। पर यह भी जहाँ विहारीका अनुकरण करने लगे हैं, वहां वैसा चमत्कार नहीं ला सके हैं, जैसा नीचेके उदाहरणसे सिद्ध है। पर इससे इनके श्रेष्ठ कवि होनेमें सन्देह नहीं किया जा सकता।

---

† एक मशहूर शाइरने इसी भावको इस प्रकार प्रकट किया है:—

"आजकी रात जो तू मह के मुक़ाबिल हो जाय।
चांदनी मैली हो धुलवानेके क़ाबिल हो जाय॥"

चित-वित बचत न हरत हठि, लालन दृग बरजोर ।
सावधान के बटपरा, ये जागतके चोर ॥

(विहारी)

❀ ❀ ❀

लाल तिहारे दृगनकी, हाल कही नहिं जाय ।
सावधान रहिये तऊ, चित-बित लेत चुराय ।

(काव्यनिर्णय)

* * *

थोड़ा ध्यान देकर देखिए तो दोनोंके शब्दार्थमें बहुत अधिक भेद प्रतीत होगा ।

विहारीका विरह-वर्णन

अन्य कवियोंकी अपेक्षा विहारीने विरहका वर्णन बड़ी विचित्रतासे किया है, इनके इस वर्णनमें एक निराला बांकपन है—कुछ विशेष 'वक्रता' है, व्यङ्ग्यका प्राबल्य है, अतिशयोक्तिका (जो कविताकी जान और रसकी खान है) और अत्युक्तिका अत्युत्तम उदाहरण है । जिसपर रसिक सुजान सौजानसे फ़िदा हैं । इस मज़मूनपर और कवियोंने भी ख़ूब ज़ोर मारा है, बहुत ऊँचे उड़े हैं, बड़ा तूफ़ान बांधा है, 'क़यामत बरपा' करदी है, पर विहारीकी चाल—इनका मनोहारी पदविन्यास—सबसे अलग है । उसपर नीलकण्ठ दीक्षितकी यह उक्ति पूरे तौरपर घटती है—

"वक्रोक्तयो यत्र विभूषणानि
वाक्यार्थबाधः परमः प्रकर्षः ।
अर्थेषु बोध्येष्वभिधैव दोषः
सा काचिदन्या सरणिः कवीनाम् ॥" ‡

\+ + +

१-सीरे जतननि सिसिर रितु, सहि विरहिन-तन-ताप ।
बसिबेको ग्रीषम दिनानि, परयौ परौसिन पाप ॥

❀ ❀ ❀

सखी नायकसे (अथवा सखीसे) नायिकाका विरह-निवेदन कर रही है कि शीतलोपचारसे—ठंडे उपायोंसे-शिशिर ऋतु (अगहन-पूस) में तो विरहिणीके तनकी ताप पड़ौसियोंने किसी तरह सहन की। पर अब ग्रीष्म (ज्येष्ठ—आषाढ़) के दिनोंमें उन्हें उसके पासमें बसना पाप (दुःखप्रद) हो गया।

\+ + +

२--आड़े दै आले बसन, जाड़े हू की राति ।
साहस कै कै नेहबस, सखी सबै ढिग जाति ॥

❀ ❀ ❀

भावार्थ---जाड़ेकी रातमें भी, पानीसे भीगे कपड़ेकी आड़ करके (ओढ़कर या ओटकरके) सारी सखियां प्रीतिके कारण हिम्मत कर करके, उस (विरहिणी) के समीप जाती हैं।

---

‡ वक्रोक्ति—बांकपन ही जहां विभूषण है, वाक्या(च्या)र्थका बाध—शब्दोंके सीधे प्रसिद्ध अर्थका तिरस्कार—ही जहां अत्यन्त आदरणीय प्रकर्ष है। अभिधा शक्तिसे वाच्यार्थका प्रकट करना ही जहां दोष है, कवियों-का वह व्यञ्जनाप्रधान टेढ़ा मार्ग सबसे निराला है।

जाड़ेकी रातमें जब कि शीताधिक्यसे ठिठरे हुए अङ्गोंको आग तपाकर ठीक करनेकी आवश्यकता पड़ती है, जलती हुई भट्टी, सुलगती हुई अँगीठी और दहकते हुए अलावके सामने बैठना नितान्त सुखकर प्रतीत होता है। विरहिणीके पास उसकी सखियां, प्रीतिसे प्रेरित होकर, हिम्मत कर करके गीले कपड़ेकी आड़में जाती हैं।

विरहतापकी प्रबलताका कुछ ठिकाना है! विरहिणीके पड़ौसियोंने ठंडे उपायोंसे—धारागृहोंमें बैठकर, तहखानों और खसखानोंमें लेटकर, कपूरमिश्रित चन्दनपङ्क शरीरसे लपेटकर, जाड़ोंके दिन तो किसी प्रकार काट दिये, पर गर्मियां कैसे काटी जायँ! गांव छोड़कर भागना ही पड़ेगा!

\+ + +

३—औंधाई सीसी सुलखि, विरह बरति बिललात।
बिच ही सूख गुलाब गौ, छींटौ छुई न गात॥

❀ ❀ ❀

भावार्थ—विरहसे बलती हुईको कराहते और रोते देखकर सखीने गुलाबजलकी शीशी उसके ऊपर उलट दी। पर बीचमें ही गुलाब-जल सूख गया, शरीरपर एक छींट भी न गिरी।

विरहाग्निकी लपटें कितनी प्रचण्ड होंगी, जिन्होंने निरत्र देशकी सन्तप्त भूमिकी प्रखर उष्माकी तरह ऊपर ही सारे जलको सोख लिया, नीचे तक एक बूंद भी न पहुंचने दी!

\+ + +

४—जिहि निदाघ दुपहर रहै, भई माहकी राति।
तिहि उसीरकी रावटी, खरी आवटी जाति॥

* * *

भावार्थ—जिस (रावटी)में ग्रीष्मकालकी दुपहर (मध्याह्न) भी माघकी रात्रि हुई रहती है, उसी ख़सकी रावटी (टट्टी) या (बंगले)में वह विरहिणी अत्यन्त औटी (उबली) जाती है!

\+ \+ \+

कविवर भिखारीदासने विहारीलालके उल्लिखित १, २, ३, ४ दोहोंसे कतरन लेकर कवित्तकी यह 'कन्था' तयार की है—

"एरे निरदई दई दरस तो दे रे वह
ऐसी भई तेरे या विरह ज्वाल जागि कै,
'दास' आसपास पुर नगरके बासी उत
माह हू को जानत निदाहै रह्यो लागि कै।
लै लै सीरे जतन भिगाए तन ईठ कोऊ,
नीठि ढिग जावै तऊ आवै फिर भागि कै
दीसी मैं गुलाब जल सीसीमैं मगहि सूखै,
सीसी यौं पिघलि परै अंचल सो दागि कै॥"

(दास, शृंगारनिर्णय)

× × ×

५—हौं ही बौरी बिरहबस, कै बौरो सब गाम।
कहा जानि ये कहत हैं, ससिहि सीतकर नाम॥

* * *

भावार्थ—विरहके कारण मैं ही बावली हूं, या सारा गाँव ही बावला है। क्या समझकर ये लोग चन्द्रमाको "शीतकर" (ठंडी किरणोंवाला) कहते हैं।

विहारीके इस अतिप्रसिद्ध दोहेको देखकर पण्डितराज जगन्नाथका इसके भावसे मिलता जुलता यह पद्य याद आ जाता है—

\+ \+ \+

"संग्रामाङ्गणसम्मुखाहतकियद्विश्वम्भराधीश्वर-
व्यादीर्णीकृतमध्यभागविवरोन्मीलन्नभोनीलिमा।
अङ्गारप्रखरैः करैः कवलयन्नेतन्महीमण्डलं
मार्तण्डोयमुदेति केन पशुना लोके शशाङ्कीकृतः॥"

(भामिनीविलास)

\+ \+ \+

चन्द्रोदयको देखकर विरही कहता है कि अंगारोंकी तरह तीक्ष्ण किरणोंसे भूमण्डलको भस्म करता हुआ यह तो प्रचण्ड मार्तण्ड निकल रहा है। कौन पशु है जो इसे चन्द्रमा कहता है? इसमें जो श्यामता दीख पड़ती है, वह शशलाञ्छन नहीं है, किन्तु रणभूमिमें सम्मुख लड़कर मरे हुए वीर क्षत्रियोंके द्वारा फटे हुए मध्यभागसे आकाशकी नीलिमा चमक रही है!

सहृदय सज्जनगण! दोनों कवियोंके यहां वर्णनीय विषय एक ही है, पर दोनोंकी उक्तियोंमें वक्तृभेद स्पष्ट झलक रहा है।

"मैं ही बावली हूं, या सारा गाँव पागल है" इत्यादि सन्देह-युक्त कथनसे कहनेवालीकी उद्वेगदशा, विरहव्याकुलता, दीनता, आत्मविस्मृति, इत्यादि दशाका बोध होता है। विपत्ति और व्याकुलताकी दशामें मनुष्य संज्ञाशून्य सा हो जाता है, उसे अपने अनुभव और ज्ञानपर पूरा भरोसा नहीं रहता, प्रत्यक्षसिद्ध विषयोंपर भी सन्देह होने लगता है, निश्चयात्मक ज्ञान जाता रहता है। विहारीने विरहिणीकी उद्वेगदशाका यह बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा है, इस बयानमें क्या ही भोलापन है, "मालूम नहीं

इस जलानेवाले चन्द्रमाका नाम 'शीतकर' क्यों रखा गया है !" इस विवक्षित अर्थमेंसे "विरहिजनोंको दुःखप्रद–जलानेवाला" यह भाव शब्दद्वारा प्रतीत नहीं कराया गया, किन्तु "बिरहवस" पदसे ध्वनिद्वारा बतलाया गया है। यह विरहिजनोंको जला रहा है; इससे इसे "शीतकर" न कहकर "चण्डांशु" कहना चाहिये। इस प्रकार हेतुपुरःसर खुले कथनमें यह "सहृदय-हृदयैकसंवेद्य" आनन्द नहीं रहता ! विरहव्याकुल जनको उस उद्वेग और दैन्यदशामें इस हेतुवाद, या "कौन पशु इसे चन्द्रमा कहता है यह तो सूर्य निकल रहा है" इस प्रकार के "प्रौढिवाद"का साहस कैसे हो सकता है ! विरहजन्य पागलपनकी दशामें यह शास्त्रीय ज्ञानगुदड़ी—(रणमें सम्मुख लड़कर मरा हुआ वीर सूर्यमण्डल-को भेदन करके दिव्यलोकको प्राप्त होता है †) और वीररसो-चित मीलों लम्बे समास, कुछ वैसे अच्छे नहीं लगते जैसा कि— "विरहके कारण मैं ही बावली हो रही हूं, या सब गांव बावला है, क्या समझकर ये लोग इस चन्द्रमाको शीतकर कहते हैं"—यह सीधा सादा, भोला भाला, दैन्यदशोचित सन्देहात्मक कथन।

× × ×

६—यहां तें व्हां व्हां तें इहां, नैको धरै न धीर।
निसि दिन डाढी सी फिरै [रहै], बाढ़ी गाढ़ी पीर ॥

\+ \+ \+

भावार्थ—यहांसे वहां जाती है और वहांसे यहां आती है, जरा भी धीरज नहीं धरती। रात दिन जलीसी फिरती रहती है, विरहपीड़ा अत्यन्त बढ़ी हुई है।

---

† द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र ! सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥ (म० भा०)

पीड़ाके लिये आगकी जलन प्रसिद्ध है। जले हुए आदमीको किसी ढब कल नहीं पड़ती। वह व्याकुलताका मारा इधरसे उधर, उधरसे इधर बेचैनीसे तड़पता फिरता रहता है।

"कल नहीं पड़ती किसी करवट किसी पहलू उसे।"

× × ×

७—इत आवत चलि जाति उत, चली छ सातिक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे से रहै, लगी उसासनि साथ॥

* * *

भावार्थ—श्वास छोड़नेके समय छ सात हाथ इधर—आगेकी ओर—चली आती है और श्वास लेनेके समय छ सात हाथ पीछे चली जाती है। उच्छ्वासोंके झोंकोंके साथ लगी हिंडोलेपर चढ़ी सी झूलती रहती है।

तन्वीकी विरहकृशता और वियोगमें दीर्घोच्छ्वासोंकी बहुलता और प्रबलता कैसे अच्छे ढंगसे वर्णन की है! नायिका विरहमें इतनी कृश हो गयी है कि श्वासोंके हिंडोलेपर चढ़ी हुई, इधरसे उधर झूलती रहती है।

विरह-कृशताका वर्णन महाकवि बिल्हणने भी अपने अनुपम काव्य "विक्रमाङ्कदेवचरित" के नवम सर्गमें अच्छा किया है। यथा—

प्राप्ता तथा तानवमङ्गयष्टि-
स्त्वद्विप्रयोगेण कुरङ्गदृष्टेः।
धत्ते गृहस्तम्भनिवर्त्तितेन
कम्पं यथा श्वाससमीरणेन॥

* * *

राजासे "चन्द्रलेखा" के पूर्वानुरागका वर्णन करता हुआ दूत कहता है कि तुम्हारे वियोगसे उसकी शरीर-लता इतनी कृश हो गयी है कि मकानके खम्भेसे टकराकर लौटे हुए अपने श्वास-समीरणसे भी वह हिलने लगती है ! ‡

विहारीका वर्णन बिल्हणसे बहुत बढ़िया है। इन्होंने गृहस्तम्भ-से टकराकर लौटी हुई श्वासवायुसे शरीरको सिर्फ़ कँपाया ही है। विहारीने श्वासोंके हिंडोलेपर बिठलाकर छ छ सात सात हाथ लम्बे झोंटे दिला दिये हैं। दया की जो आहकी आंधीमें जिस्मको पत्तेकी मानिन्द उड़ा न दिया !

"जुरअत" का यह शेर भी दोहेकी तुलनाको नहीं पहुंचता—

"नातवां हूं बस्कि फ़ुरक़तसे × तेरी चूं बर्गे-काह*
अब सबा † फेरे है इस पहलूसे‡उस पहलू मुझे"

\+ \+ \+

८—करके मींडे कुसुम लौं, गई विरह कुम्हिलाय ।
सदा समीपिनि सखिनिहूं, नीठि पिछांनी जाय ॥

* * *

भावार्थ--हाथसे मसले फूलकी तरह वह विरहसे ऐसी मुरझा गयी है कि सदा समीपमें रहनेवाली सखियाँ भी उसे मुश्किलसे पहचानती हैं ।

श्वासका हिँडोला !

‡ "और तो सहेली सब झूलति हिंडोरे डारि,
श्वाँस को हिंडोरो मोहि पर्‍यो है झुलावनो ।"

× फ़ुरक़त—वियोग । * बर्गेकाह—घासका पत्ता ।
† सबा—हवा । ‡ पहलू—करवट ।

कोमलाङ्गी नायिकाकी विरह-विवर्णताको मसले हुए फूलकी उपमा कितनी अनुरूप और सुन्दर है। मसले या मले हुए पुष्पको चतुर माली भी कठिनतासे शनाख़्त कर सकता है कि यह क्या फूल है! जिसे हमेशा पास रहनेवाली सखियां भी मुश्किलसे पहचान सकें, उसकी दशा उस मले दले फूलसे क्या किसी प्रकार कम हो सकती है!

\+ \+ \+

९—करी विरह ऐसी तऊ, गैल न छांड़तु नीच।
दीने हूं चसमा चखनि, चाहै लखै [है] न मीच॥

* * *

भावार्थ—मौत आँखों पर चश्मा लगाकर भी ढूँढना चाहे तो भी शायद उसे न देख सके। निकृष्ट विरहने उसकी ऐसी दशा करदी है। पर वह प्रेमपन्थको इतने पर भी नहीं छोड़ती!

विरहजन्य कृशताकी पराकाष्ठा है। आँखों पर चश्मा चढ़ाकर भी मौत नहीं देख सकती!

"ज़फ़र" भी एक बार हिज्र (वियोग) में नातवानी (दुर्बलता—कृशता) के कारण ही क़ज़ा (मौत) की निगाहसे बच गये थे। शायद उस वक्त ढूंढनेवाली मौतके पास चश्मा नहीं था! वरना वह ज़रूर ढूंढ पाती, क्योंकि "ज़फ़र" की नातवानी विहारीकी विरहिणीकी तरह परमाणुताको नहीं पहुंची थी! ज़फ़रका शेर सुनिए—

"नातवानीने बचाई जान मेरी हिज्रमें।
कोने कोने ढूंढती फिरती क़ज़ा थी मैं न था॥"

* * *

"मैं न था" पद यह भी प्रकट करता है कि हज़रते "ज़फ़र" मौतके डरसे मौक़ा वारदात छोड़कर शायद कहीं जा छिपे थे ! इसलिये भी क़ज़ा उन्हें न पा सकी ! पर विहारीकी विरहिणी घटनास्थलसे भागी नहीं, किन्तु वहीं डटी है ! "तऊ गैल न छाँड़त" शब्द इस बातकी गवाही दे रहे हैं।

\+ + +

‡'आतिश' ने इसी भाव को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है :-

"यक़ीं है दीदए-बारीकबीं को,
करे ऐनक तलब यह नातवानी।"†

'नासिख़' कहते हैं—

"इन्तहाए-लाग़रीसे जब नज़र आया न मैं।
हँसके वो कहने लगे बिस्तरको झाड़ा चाहिये॥".

÷ ÷ ÷

'दाग़' फ़रमाते हैं—

"उठे दस्ते-दुआ क्या ज़ोफ़ने ऐसा घुलाया है।
जिसे हम हाथ समझेथे वो ख़ाली आस्तीं निकली॥"

\+ + +

'नज़ीर' अकबराबादी कहते हैं—

"मुझ ज़ुल्फ़के मारेको न ज़ंजीर पिन्हाओ।
काफ़ी है मेरी क़ैद को एक मकड़ीका जाला॥"
"ये नातवां हूं कि आया जो यार मिलनेको।
तो सूरत उसकी उठाके पलक न देख सका॥"—

---

† दीदए-बारीकबीं=बारीक देखनेवाली आँख। नातवानी=तनुता, कृशता। अर्थात् यह नातवानी बारीक देखनेवाली आँखके लिये भी ऐनक चाहेगी, ऐनकसे ही दीख सकेगी। इन्तहाए-लाग़री= पराकाष्ठाकी कृशता।

"तह झीणा जह मउलिअ-लोयणउडविहडणे वि असमत्था।
सक्किहिइ दुक्करं घरगयं पि दट्ठुं तुमं वाला ॥ ४३७ ॥
(तथा क्षीणा यथा मुकुलितलोचनपुट-विघटनेऽप्यसमर्था।
शक्ष्यति दुष्करं गृहगतमपि द्रष्टुं त्वां बाला ॥ व. ल.)

—इस प्राकृत गाथाका और नज़ीरके पिछले शेरका मज़मून आश्चर्यजनक रीतिसे आपसमें टकरा गया है। नज़ीर आप बीती नातवानीकी कहानी कह रहे हैं और गाथामें दूती किसी विरहिणीकी क्षीणताकी बात सुना रही है—वह इतनी क्षीण—कृश—हो गयी है कि बन्द आँखें खोलनेमें भी असमर्थ है, तुम मिलने उसके घर जाओगे तो मुश्किल से वह आंख उठाकर तुम्हें देख सकेगी।

× × ×

१०-नित संसौ हंसौ बचतु, मानौ इहि अनुमान।
बिरह अगनि लपटनि सकै, झपट न मीच सिचान॥

* * *

भावार्थ—नित्यप्रति सन्देह रहता है कि इस (वियोगिनी)-का हंस (जीव) किस प्रकार बचा हुआ है ? सो यही अनुमान ठीक है कि मृत्युरूपी बाज़ (श्येनपक्षी) विरहाग्निकी लपटोंसे डरकर, हंसरूपी जीवपर झपट नहीं सकता।

विरहाग्निकी ज्वालाएँ इतनी प्रचण्ड हैं कि उनके पास फटकते हुए मौतके भी पर जलते हैं !

× × ×

११—पजर्‌यौ आग बियोग की, बह्यौ बिलोचन नीर।
आठौं जाम रहै हियौ, उठ्यौ [ड्यौ] उसास समीर॥

* * *

भावार्थ—आठों पहर वियोगकी आगमें 'हृदय' पजरता—जलता—रहता है, नेत्रोंके जल (आंसुओं) में बहता रहता है और श्वास-वायुके झकोरोंमें उड़ता रहता है।

ज़रासा दिल और इतनी मुसीबतोंका सामना ! आगकी भट्टी, जलकी बाढ़ और आँधीका तूफ़ान, इन सबमेंसे बारी बारी गुज़रना। आगसे बचा तो जल बहा रहा है। वहांसे छूटा तो आँधी उड़ा रही है। ऐसी मुसीबतके मुक़ाबलेसे घबराकर ही शायद किसीने यह प्रार्थना की है—

"मेरी क़िस्मतमें ग़म गर इतना था।
दिल भी या रब! कई दिये होते॥"

* * *

महाकविराय सुन्दरने भी 'हियरा' (हृदय)को 'काम-लुहारके हाथका लोहा' बनाकर इस मज़मूनको अपनी कविताकी सानपर चढ़ाया है—

"कबहूं विरहागिनमें तचवै कबहूं दृगनीरमें बोरि दियो।
पियके बिछुरे हियरा इहि काम-लुहारके हाथको लोह कियो॥"

\+ \+ \+

१२--गनती गनवे तैं रहे, छतहू अछत समान।
अलि! अब ये तिथि औम लौं, परे रहौ तन प्रान॥

भावार्थ—गिनतीमें तो आनेसे रहे, इन प्राणोंका होना न होनेके बराबर है। हे सखी! अब इस (विरह-दशामें) 'अवम' तिथिकी तरह ये प्राण, शरीरमें पड़े रहें।

जो तिथि घट जाती है वह अवम अर्थात् लुप्त तिथि कहलाती है। उसे भी याददाश्तके तौरपर तिथिपत्रमें ज्योतिषी लिख छोड़ते हैं। जैसे यदि दशमी तिथि घटी हो तो उसे भी नवमी और एकादशीके बीचमें यथास्थान लिख

देते हैं। पर वह गिनतीमें नहीं आती, किसी काम भी नहीं आती। विरहिणी कहती है कि मेरे ये प्राण भी शरीरमें खाली पड़े भले ही रहें, पर अवमतिथिकी तरह इनका रहना, है केवल व्यर्थ।

प्राणपतिके विना प्राणोंकी नाममात्रकी विद्यमानता, परन्तु उनकी व्यर्थता और अनुपयोगिता प्रकट करनेके लिये अवम-तिथिकी उपमा जितनी अनूठी, अछूती और निराली है, उतनी ही अनुरूप और हृदयहारिणी भी है। ऐसी ऐसी उपमा—जिनकी सतसईमें कमी नहीं है,—विहारीलालको उपमामें व्रजभाषाका कालिदास सिद्ध करनेके लिये पर्याप्त हैं।

× × ×

१३-बिरह बिपति दिन परत ही, तजे सुखनि सब अंग।
रहि अब लौं ब दुखौ भये, चलाचली जिय संग॥

❀ ❀ ❀

भावार्थ—विरह-विपत्तिका दिन पड़तेही सब सुख तो इस शरीरका साथ कभीके छोड़कर चले गये थे। अवतक रहकर—शरीरका साथ देकर—दुःख भी अब जीके साथ चलनेको चंचल हो रहे हैं, वे भी जानेको तैयार बैठे हैं।

प्रियवियुक्त जनको सारे सुख तो वियोगके आते ही छोड़कर भाग जाते हैं। उनकी जगह दुःख आ घेरते हैं और वे ऐसा धरना धरकर बैठते हैं कि बिना जीको लिये नहीं टलते। "यह दर्देसर ऐसा है कि सर जाय तो जाये।"

\+ + +

विरहदशामें प्राणोंका भारभूत और दुःखप्रद प्रतीत होना, किसी विरहिणीकी इन उक्तियोंमें भी जो उसने अपने दूर-देशस्थ

प्राणपतिको उद्देश करके कही हैं, अच्छे और निराले ढंगसे वर्णित है--

"तुम बिन पती को करे, कृपा हमारे नाथ !
मोहि अकेली जानिकै, दुख राख्यौ मो साथ ॥१॥

* * *

"पिय तन तजि मिलतो तुम्हैं, प्रान प्रिया को प्रान ।
रहती जो न घरी घरी, औधि परी दरम्यान ॥२॥"

* * *

"भेजत हौं यह पत्र सँग, दूत हाथ दुखरास ।
नहिं आओ तो राखियो, प्रान आपने पास ॥३॥"

* * *

"तुम पहँ धावन * तें प्रथम, चलन कहत रहे प्रान ।
पत्रोत्तर लगि हम इन्हें, राखे अति सनमान ॥४॥"

\+ \+ \+

१४-मरन भलौ बरु विरह तें, यह विचार चित जोय ।
मरन छुटै दुख एक कौ, बिरह दुहूँ दुख होय ॥

भावार्थ--विरहकी अपेक्षा मरना बहुत भला है । यह बात चित्त में विचार देखो, क्योंकि मरनेसे एक (मरनेवाले) का तो दुःख छूट जाता है, पर विरहमें दोनोंको दुःख होता है ।

मौत जो सारे दुःखोंकी सिरताज है, उसे ज़िन्दगीपर क्या अच्छी तरजीह दी है । यह लेशालङ्कारका उत्कृष्ट उदाहरण और प्रतिभाका ख़ासा नमूना है ।

"छूट जाएँ ग़मके हाथोंसे जो निकले दम कहीं ।
ख़ाक ऐसी ज़िन्दगी पर तुम कहीं और हम कहीं ॥"

(ज़ौक़)

---

* धावन = दूत ।

१५–मरिबे को साहस कियौ, बढ़ी बिरह की पीर ।
दौरत है समुहै ससी, सरसिज सुरभि समीर ॥

❀ ❀ ❀

भावार्थ—विरहकी पीड़ा जो बढ़ी तो (विरहिणी) मरनेका साहस करके चन्द्रमाके सामने जाती है और कमलसे सुगन्धित पवनकी ओर दौड़ती है।

'उद्दीपन' विभावका यह क्या ही उम्दा उल्लेख है। विचित्रालङ्कारका क्या ही ललित लक्ष्य है। जो चीज़ें सुखका हेतु हैं, वही दुःखद हो रही हैं, उनसे ही मृत्यु माँगी जा रही है।

\+ + +

१६–सुनत पथिक मुँह माहनिस, लुएँ चलति उहि गाम ।
बिन बूझे बिन ही सुने, जियत बिचारी बाम ॥

❀ ❀ ❀

भावार्थ—पथिकके मुँहसे यह सुनकर कि उस गाँवमें माघ मासकी रातमें भी लूएँ चलती हैं, (वियुक्त पथिक) विना बूझे और बिना सुने ही स्त्रीका जीवित होना जान गया।

कोई दूरदेशस्थ वियुक्त पथिक अपनी प्राणप्रियाका मंगल-संवाद सुननेके लिये चिन्तित है। मुद्दतसे घरकी खबर नहीं मिली। यह भी मालूम नहीं कि घरवाली जीवित है या उसके प्राणपखेरू प्रियको ढूँढनेके लिये प्रयाण कर चुके हैं। इसी समय उसके गाँवकी ओरसे आनेवाले कुछ बटोही आपसमें बैठे बातें कर रहे हैं कि अमुक गाँवमें माघ मासकी रातमें भी लुएँ चलती हैं, यह बड़े आश्चर्य की बात है।" यह सुनकर उसने अनुमान कर लिया कि उसकी प्रिया अवश्य जीवित है, अन्यथा माघ मासकी

रातमें वहाँ लुएँ क्यों चलतीं ? मेरी विरहिणीके तनताप और विरहसन्तप्त निःश्वासने ही वहाँकी माघरात्रिको ज्येष्ठ आषाढ़का मध्याह्न बना रखा है। बेमौसम माघकी रातमें लुएँ चलनेका और कोई कारण होही नहीं सकता। इसलिए उसने उनसे इस विषयमें कुछ और पूछना या सुनना निरर्थक समझा, प्रियाको जीवित समझ घर चलनेकी ठान ली।

\+ \+ \+

एक और कविने भी किसी प्रवासीको वर्षाऋतुकी मूसलाधार वृष्टिमें भी उसके घरसे धूलके बबूले उठते रहने का समाचार किसीके द्वारा पहुंचाकर विरहिणीकी जीवित दशाका बोध कराया है—

"बरखत मेह अछेह अति, अवनि रही जल पूरि।
पथिक तऊ तुव गेहतें, उठत भभूरन धूरि॥"

* * *

विहारीका दोहा इससे कहीं भावभरा और गम्भीर है। क्योंकि यहाँ तो स्पष्टतापूर्वक प्रत्यक्षरूपमें स्वयं पथिकसे ही कोई उसके घरका वर्णन कर रहा है कि निरन्तर मूसलाधार मेंह बरस रहा है, जिससे जल जङ्गल एक हो गया है। सर्वत्र पानी ही पानी दीखता है। खुश्की या धूलका कहीं नामोनिशान भी नहीं। परन्तु तुम्हारे घरसे—इतने पर भी धूलके बबूले उठ रहे हैं!

सम्भव है यह वक्ता दूत बनकर आया हो और उसकी नायिकाके विरह-सन्तापका अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करके उसे घर ले जाया चाहता हो। यद्यपि धूल उड़नेके कारणका—विरह-सन्तापका—उल्लेख यहाँ भी साफ़ शब्दोंमें नहीं है, तथापि

वक्ताका इस प्रकार पथिकको अभिमुख करके कथन, गाँवभरमें केवल उसीके घरसे धूलके बबूलेका उठना, विरहसन्तापका बोध स्पष्ट रीतिसे अनायास करा रहा है।

अब ज़रा विहारीके विरहीपर दृष्टि डालिये। उसकी दशा बिलकुल इससे भिन्न है। वे पथिक जो उस रास्तेके गाँवकी लुओंका वर्णन आपसमें बैठे योंही आश्चर्य घटना समझकर कर रहे हैं, उन्हें मालूम नहीं, कि हमारे इस कथनको लुओंवाले उस गाँवका कोई आदमी भी सुन रहा है। लुएँ उस गाँवमें क्यों चलती हैं ? किस घरसे चलती हैं ? वहाँ कोई विरहज्वालासन्तप्ता प्रोषितपतिका रहती है या नहीं ? इत्यादि बातोंका उन्हें कुछ पता ही नहीं, वे इस क़िस्मका कोई ज़िक्र नहीं कर रहे जिससे प्रतीत होता हो कि वे एक अनुभूत और आश्चर्यकारक घटनाका वर्णन किसीको सुनानेको कर रहे हैं। उनके कथनमें किसी प्रकारकी अत्युक्ति, बनावट या अतिरञ्जनाका कोई कारण किसी प्रकार भी लक्षित नहीं होता, उनकी बेलाग बातोंसे मालूम होता है कि सचमुच ही उस गाँवमें माघकी रातमें लुएँ चल रही होंगी। लुएँ चलनेके परम्परासे कारणीभूत उस सुननेवालेने इतने हीसे अपनी विरहविधुरा प्रियाके जीवित होनेका पक्का अनुमान कर लिया। लुएँ चलनेके कारणको वह समझ गया, उसे उस सुनी हुई आश्चर्य घटनासे समुत्पन्न अपने अनुमानकी सत्यतापर इतनी आस्था थी कि उसने उन कहनेवालोंसे अधिक पूछना या जिरह करना तक फ़िज़ूल समझा। चुपचाप अपने घरकी राह ली।

गाँवभरमें लुएँ चल रही हैं और सिर्फ़ एक घरसे धूल उड़ रही है दोनोंमें—"अन्तरं महदन्तरम्।"

\+ \+ \+

किसी संस्कृतकविने भी कुछ ऐसी ही घटनाका वर्णन दूसरे ढंगपर किया है—

"भद्रात्र ग्रामके त्वं वससि परिचयस्तेऽस्ति जानासि वार्ता-
मस्मिन्नध्वन्यजाया जलधररसितोत्का न काचिद्विपन्ना ? ।
इत्थं पान्थः प्रवासावधिदिनविगमापायशङ्की प्रियायाः
पृच्छन् वृत्तान्तमारात्स्थितनिजभवनोऽप्याकुलो न प्रयाति ॥"

❀ ❀ ❀

कोई पथिक प्रवासकी अवधि बीतनेपर बहुत दिनों बाद घर लौट रहा है, गाँवके समीप पहुंच गया है, घरके पासही बैठा है, पर आगे बढ़नेकी हिम्मत नहीं पड़ती, उसे सन्देह है कि प्राणप्रिया इस बीचमें कहीं चल न बसी हो, मालूम करके चलना चाहिए। सामने कोई आरहा है, उससे पूछता है कि भई! तुम इसी गांवमें रहते हो? यहाँके लोगोंसे तुम्हारा परिचय है? यहाँका हाल कुछ जानते हो? तुन्हें मालूम है यहाँ कोई 'प्रोषितपतिका' बादलोंकी घोर गर्जनासे उत्कण्ठित होकर मर तो नहीं गयी है?

इन पथिक महाशयके इस पूछनेके ढंगसे प्रतीत होता है कि आप कहीं चौदह वर्षका वनवास काटकर महाप्राणताकी कृपासे सही सलामत अभी लौटे आ रहे हैं। इस बीचमें गांवकी हालत ही बदल गयी है, उसमें कहीं बाहरके कुछ नये लोग भी आ बसे हैं, या जो इनके सामने छोटे बालक थे, वह अब बढ़कर इतने बड़े हो गये हैं कि पहचाने नहीं जाते। इसी दशामें इस प्रकार पूछना सम्भव है। या ऐसा हो कि अपने गांवसे कहीं दूर ('आराद् दूरसमीपयोः') रास्तेके किसी दूसरे गांवमें ही किसीसे पूछ रहे हैं—शकुन ले रहे हैं या अनुमानके लिए

अवलम्ब ढूंढ रहे हैं, यहां ऐसी घटना हुई होगी, कोई प्रोषितपतिका मेघशब्दको सुनकर मर गयी होगी, तो वहां भी ऐसा हुआ होगा, नहीं तो नहीं। शकुन बांह पकड़ेगा, सहारा देगा, अनुमान अनुकूल होगा, तो चलेंगे, नहीं तो लौट चलेंगे !

कुछ भी हो, विहारीका चटपटा बयान सुनकर यह अटपटा व्याकुल वर्णन किसी प्रकार भी—"संस्कृतवाचा बलात्प्रेर्यमाणमपि—सहृदय-हृदयमन्दिरं न प्रयाति।"

\+ \+ \+

१७--चलत चलत लौं लै चले, सब सुख संग लगाय।
ग्रीषम बासर सिसिर निसि, पिय मो पास बसाय॥

प्रोषितपतिका विरहिणी सखीसे कह रही है कि मानों चलते चलते प्रिय मेरे सब सुखोंको अपने साथ लगाकर ले गये, और ग्रीष्मके दिन, तथा शिशिरकी रात्रियां, मेरे पास छोड़ गये। (१) सारे सुख प्रियके साथ चले जाते हैं, सुखहीन वियुक्तको दिन और रात बड़े बड़े दीखने लगते हैं, काटे नहीं कटते। गर्मियोंके दिन और जाड़ोंकी रातें बड़ी होती हैं। (२) "शिशिर ऋतुकी रात्रिमें ग्रीष्मके दिन रख गये हैं" अर्थात् जाड़ेकी रातमें भी ग्रीष्मकी गर्मी प्रतीत होती है। (३) "ग्रीष्मके दिनमें शिशिरकी रात्रि छोड़ गये हैं"—शीतके समान कामजन्य कम्प होता है। (४) दिनमें विरहसे तपती हूं, और रातमें कामसे काँपती हूं।

× × ×

विद्वच्चक्र-चूड़ामणि, कवितार्किकशिरोमणि महाकवि श्रीहर्षने दमयन्ताकी विरहदशाका वर्णन करते हुए लिखा है—

"अहो अहोभिर्महिमा हिमागमे-
ऽप्यभिप्रपेदे प्रति तां स्मरार्दिताम्।
तपर्तुपूर्तावपि मेदसांभरा
विभावरीभिर्विभरांबभूविरे॥"

❀ ❀ ❀

अर्थात् आश्चर्य है कि उस कामपीड़िता दमयन्तीके प्रति जाड़ोंके ज़रासे दिनोंमें भी दिन बड़े होगये, और गर्मियोंकी छोटी रातें, बड़ी लम्बी होगयीं।

श्रीहर्षमहाराजके इस कथनमें कोई ऐसी विशेषता या चमत्कारिता नहीं है, जिसपर "अहो" कहकर आश्चर्य प्रकट किया जाय! यहां "अहो" से अनुप्रासमात्रका ही आशय लिया जाना चाहिए। क्योंकि "स्मरार्दिता" दमयन्तीके प्रति वियोगदशामें दिन और रातका बड़ा प्रतीत होना, जैसा कि प्रत्येक वियुक्तको प्रतीत हुआ करता है, एक अतिप्रसिद्ध तथा अनुभवसिद्ध घटना है, इसमें कुछ नवीनता या निरालापन नहीं है। परन्तु विहारीके उक्त वर्णनमें बह्वर्थता और गम्भीरताके अतिरिक्त एक बांकपन है जो साफ़ झलक रहा है।

"सुखोंको संग लगाकर ले जाना" ले जाने वालेके लौटनेपर सुखोंके लौटनेकी आशा दिलाता है। "ग्रीष्मके दिन और जाड़ोंकी रातको एक साथ छोड़ जाना" दो परस्पर-विरुद्ध बातोंके एकत्र समावेशका, एक बिलकुल नयी और असम्भवनीय घटना होनेपर भी कहनेवालीकी उस स्थितिमें यथार्थ प्रतीत होना, और कविका उसे इस प्रकार चुपचाप "अहो" "अहा" की आश्चर्य और विचित्रताद्योतक

घोषणा के विना सादगी और सरलतासे बयान करजाना, वर्णन-वैचित्रीकी निराली और अनोखी छटा दिखला रहा है।

\+ + +

१८—मैं लै दयौ लयौ सु कर, छुवत छनक गौ नीर।
लाल तिहारो अरगजा, उर ह्वै लग्यौ अबीर ॥

* * *

पूर्वानुरागमें नायिकाके विरहकी दशा सखी नायकसे कहती है कि मैंने ले जाकर उसे अरगजा दिया, उसने अपने सुन्दर हाथमें लिया, पर छूते ही पानी छुन्न होकर जल गया। सो, हे लाल! तुम्हारा वह अरगजा—(कई सुगन्धित पदार्थोंके योगसे बनाया हुआ एक प्रकारका उबटना)—उसकी छातीमें 'अबीर' होकर लगा।

प्रियप्रेषित पङ्कमय अरगजेको हाथमें लेते ही तापसे उसका पानी इस प्रकार छुन्न होकर उड़ गया जैसे तत्ते तवेपर डाली हुई पानीकी बूंदें। वह जलार्द्र अरगजा सूखकर 'अबीर' बन गया और दीर्घोच्छ्वासकी वायुसे उड़कर छातीपर बिखर गया! चलो ख़ैर, किसी प्रकार काम तो आ गया। अरगजा न सही। अबीर सही। वह प्रेमोपहार किसी रूपमें हृदयसे स्वीकार तो कर लिया गया। भेजनेवालेके लिये यह कम सन्तोषकी बात नहीं है!

श्रीसातवाहनकी प्राकृत "गाथासप्तशती"में भी एक गाथा ऐसी ही है। भेद केवल इतनाही है कि इसमें विरहके तापका वर्णन है और उसमें संयोगके सात्त्विक भाव, कम्प और प्रस्वेदका। यहाँ अरगजेका अबीर बन गया है, वहाँ अबीरका गन्धोदक (सुगन्धित अर्क़, केवड़ा या गुलाबजल) हो गया है—

घेत्तूण चुण्णमुट्ठिं हरिसूससिआएँ वेपमाणाए ।
भिसणेमित्ति पिअअमँ हत्थे गन्धोदअं जाअम् ॥४।१२॥
(गृहीत्वा चूर्णमुष्टिं हर्षोत्सुकिताया वेपमानायाः ।
अवकिरामीति प्रियतमं हस्ते गन्धोदकं जातम् ॥)

* * *

हर्षोत्सुका और प्रेमावेशमें काँपती हुई कामिनीकी अबीरकी मूठ, जिसे वह प्रियतमपर चलाना चाहती थी, (सात्त्विक प्रस्वेदसे सनकर) हाथमें गन्धोदक हो गयी।

खैर, कोई घबरानेकी बात नहीं। अबीरकी मूठ न मारी एक चुल्लू रंग डाल दिया। होली ही तो है!

दूसरे कवियोंका विरह-वर्णन

विहारीके विरहवर्णनका कुछ नमूना सुन चुके। दूसरे कवियोंके विरह-वर्णनकी विचित्र बानगी भी देखिए—

विरहताप

कवित्त—प्यारो परदेसको गनावे दिन जोतिषी सों
ब्याकुल ह्वै लखत लगन लीक खांचते,
सुनत सगुन तन तरुनीको मैन तयो
प्रान गयो पिघलि सरस काचे काँचतें।
सासु कह्यो इतै आउ रोचन रुचिर ल्याउ
अति हि दुखित कर गह्यो लाज पांचतें,
थार गयो चटक पटक नारियर गयो
मुद्रा औंटि चाँदी भई विरहकी आंचतें॥

* * *

प्रिय परदेश जानेके लिये ज्योतिषीसे दिन पूछ रहा है—मुहूर्त्त ठीक करा रहा है। प्यारी, ज्योतिषीको लग्नकी रेखा

खींचते व्याकुलतासे खड़ी देख रही है। शकुनका नाम सुनते ही उस गमिष्यत्पतिकाके शरीरमें कुछ ऐसी आग भड़की कि कच्चे कांचकी तरह प्राण पिघल गया। सासने विदाईकी रस्मके लिए (उसी) वहूसे थालीमें रखकर नारियल आदि लानेको कहा, कहने सुननेसे किसी तरह वह यह चीज़ें ले तो आई, पर विरहाग्निकी आंचसे थाल चटक गया, नारियल पटक गया, और रुपया पिघलकर चांदी वनगया!

\+ \+ \+

कवित्त—ससिमुखी सूक गयी तबतै व्याकुल भई
बालम विदेसहु को चलिबो जबै कयो,
दूध दही श्रीफल रुपैया धरि थारी माहिं,
माता सुत-भाल जबै रोलिकै टीको दयो।
तांदुर बिसरि गयो बधुसे कह्यो ले आउ
तबतैं पसीनो छुट्यो मन तन कों तयो,
तांदुर ले आई तिया आंगनमें ठाढ़ी रही
करके पसारवेमें भात हाथ में भयो॥
(ग्वाल कवि)

❀ ❀ ❀

यही बात ग्वाल कविने भी कही है, यहां और चीज़ें तो पहले ही आगयी थीं, रोलीके साथ टीकेपर लगानेके लिये चावल रहगये थे, सासके हुक्मसे बहूजी वही लाई हैं। पर माताके हाथ-तक वह नहीं पहुंचने पाये, लानेवालीके हाथमें पसीनेके गरम पानीमें उबलकर चावलोंका भात रँध गया है!

\+ \+ \+

कवित्त—कंचनमें आंच गई चूनि चिनगारी भई
भूषन भये हैं सब दूषन उतार लै,

बालम बिदेस ऐसे बैसमें न लागि आगि
बरि बरि हियो उठै बिरह-बयारि लै।
एरी परघर कित मांगन को जैहै आजु
आंगनमें चन्दा तें अँगार चार झारि लै,
सांझ भये भौन सँझबाती क्यों न देत आली
छातीतें छुवाय दियाबाती क्यों न बारि लै॥ †

❀ ❀ ❀

कोई प्रोषितपतिका विरहिणी, अपने तनतापकी दशा सखीसे कह रही है कि स्वर्णके आभूषण तनके तापसे इतने गरम होगये हैं कि उनमें जड़ी हुई चुन्नी चिनगारी बन गयीं, इसलिये इन भूषणोंको जल्दी उतार। आज आग लानेके लिये दूसरे घर जानेकी क्या ज़रूरत है, आंगनमें खड़ी होकर चार अंगार चन्द्रमासे क्यों न झाड़ले? देखती नहीं, कैसा दहक रहा है! सांझ हो गयी, दिया बालनेके लिये आग चाहिए? आग क्या करेगी? मेरी छातीसे छुवाकर दियाबत्ती क्यों नहीं बाल लेती!

\+ + +

कवित्त—सोरासों सँवारिकै गुलाब माहिं ओरा डारि
सीतल बयारि हूं सों बार बार बरिये,
चैन न परत छिनु चम्पकतें चन्दनतें
चन्द्रमातें चांदनीतें चौगुनी कै जरिये।
'सुन्दर' उसीर चीर ऊजरेतें दूनी पीर
कमल कपूर कोरि एक ठौर करिये,

---

† "उलहै उसास ताती भीजै अँसुवान छाती,
बाती बार लीजै वाकी ताती अँखियान तें।" (कवीन्द्र)

एते मानि बिरहागि उठी तनमांझ लागि,
सोई होति आगि जोई आगे लाइ धरिये ॥ (सुन्दर)

❀ ❀ ❀

विरहाग्नि इतनी प्रचण्ड हो उठी है कि जो चीज़ (तापशान्तिके लिये) आगे लाकर रक्खी जाती है, वही आग हो जाती है। शोरे और बरफ़से ठंडा किए गुलाबजलसे और शीतलवायुसे और भड़कती है। चम्पकपुष्प, चन्दनलेप, चन्द्रमाकी चांदनी, इनसे और चौगुनी जलती है, उसीर (ख़स) श्वेत वस्त्र, कमल, कपूर, ये सब व्यर्थ हैं, और उलटा जलाते हैं।

× × ×

कवित्त—ऊधोजू सँदेसो नाहिं कह्यो जाइ कहा कहैं
जैसी करी कान्ह तैसी कोऊ न करतु है,
जीभ तो हमारे एक कहाँ लगि कही परै
जीमें जिती कहौं तिती क्योंहू ना सरतु है।
द्वारका बसतु हरि 'सुन्दर' समुद्र ही में
इहो परवाह जाइ सिन्धुमें परतु है,
जानि हैं वे जमुना के जलही तें जाकी ज्वाल,
जलधिमें परयो बड़वानल जरतु है ॥ (सुन्दर)

* * *

गोपियाँ ऊधोजीसे कहती हैं कि कान्हकी करतूतोंको देखे संदेसा कहा नहीं जाता, कहें भी तो कैसे कहें, एक जीभसे, जीमें जितनी बातें भरी हैं वह कैसे कही जायँ! तुम जाओ, यह जमुनाका प्रवाह ही समुद्रमें पहुंचकर द्वारकावासी कृष्णसे हमारी दशा कहेगा, जिसकी ज्वालासे समुद्रकी वड़वानल जल रही है। इससे ही हमारे वियोगसन्तापका कुछ अनुमान कृष्ण

कर सकेंगे। हमारी विरहसन्तापज्वाला ही यमुनाके प्रवाहद्वारा समुद्रमें पहुंचकर बड़वानलके रूपमें जल रही है ! *

\+ + +

कवित्त—"बैठी है सखिन संग पियको गमन सुन्यो
सुखके समूहमें वियोग आग भरकी,
"गंग" कहै त्रिविध सुगन्ध लै बह्यौ समीर
लागत ही ताके तन भई व्यथा ज्वर की।
प्यारीको परसि पौन गयौ मानसर पै सु
लागत हीं औरै गति भई मानसर की,
जलचर जरे औ सेवार जरि छार भई
जल जरि गयो पंक सूक्यौ भूमि दर की ॥"

(महाकवि गंग)

* * *

---

* 'सेज की घिरनाई'

"जब जब पनघट जाऊँ सखीरी वा जमुना के तीर।
भरि भरि जमुना उमड़ि चलति है, इन नैननिके नीर ॥
इन नैननि के नीर सखी री, सेज भई घिरनाउँ।
चाहति हौं ताही पै चढ़िके हरिजू के ढिग जाउँ ॥"

(सूरदास)

आंसुओंका समुद्र

"समुन्दर कर दिया नाम उसका नाहक़ सबने कह कहकर।
हुए थे जमा कुछ आंसू मेरी आंखों से बह बहकर ॥" (सौदा)

\+ + +

सवैया—"गोपिनके अँसुवानके नीर जे मोरी बहे बहिकै भये नारे,
नारे भये नदिया बढ़कै नदिया नद ते भये फाट करारे।
वेगि चलो तो चलो उतको कवि "तोष" कहे ब्रजराज दुलारे,
वे नद चाहत सिन्धु भये पुनि सिन्धु ते ह्वै हैं जलाहल सारे ॥"

गंग कवि कहते हैं कि प्रियके परदेश जानेकी बात सुनकर 'प्रवत्स्यत्पतिका'के वियोगकी आग ऐसी भड़की कि उसे छूकर—गरम होकर—जो वायु मानसरोवरपर पहुंची तो मानसरोवरके जलचर पत्ती और मछली आदि जलजन्तु सब जल गये। सिवार जलकर राख हो गयी। पानी जलकर उड़ गया। कीच सूख गयी और भूमि दरार खाकर फट गयी !

+ + +

कवित्त—दूरही तें देखत बिथा मैं वा वियोगिनी की
आई भले भाजि ह्यां इलाज मढ़ि आवैगी,
कहै "पद्माकर" सुनो हो घनश्याम जाहि
चेतत कहूँ जो एक आहि कढ़ि आवैगी।
सर सरितान को न सूखत लगैगी देर
एती कछु जुलुमिन ज्वाला बढ़ि आवैगी
ताके तनताप की कहौं मैं कहा बात मेरे
गात ही छुवेतें तुम्हें ताप चढ़ि आवैगी ॥"

(पद्माकर)

* * *

घनश्यामसे कोई किसी वियोगिनीकी दशा सुना रही है कि मैं दूरहीसे उसकी व्यथा देखकर भाग आयी हूं, उसके पास पहुंचकर देखती तो बस जल ही जाती। उसके तनतापकी बात क्या कहूं, तुम मेरा शरीर ही छू देखो, फिर तुम्हें ताप न चढ़ आवे तो बात है। वह मूर्छामें बेसुध पड़ी है, इतनी खैर है, होशमें आकर उसके मुंहसे कहीं कोई आह निकल गयी तो, तालाब और नदियोंको सूखते कुछभी तो देर न लगेगी !

× × ×

प्रलयकारी आह

कवित्त—"शंकर" नदी नद नदीसनके नीरनकी
भाप बन अम्बर तें ऊंची चढ़ जायगी,
दोनों ध्रुव छोरन लौं पलमें पिघल कर
घूम घूम धरनी धुरी सी वढ़ जायगी।
झारेंगे अंगारे ये तरनि तारे तारापति
जारेंगे खमण्डल में आग मढ़ जायगी,
काहू विधि विधिकी बनावट वचेगी नाहिं
जो पै वा वियोगिनी की आह कढ़ जायगी॥

(पं० नाथूरामशंकर शर्मा "शंकर")

अत्युक्तिकी पराकाष्ठा है—मुबालग़ा हदसे परे पहुंच गया है। "शंकरजी" ने इस 'आह' के असरको "शंकर" के उस प्रलय-कारी नेत्रकी अग्निके प्रभावसे भी ऊपर पहुंचा दिया। वह इच्छा-पूर्वक प्रयत्नसे तीसरी आंख खोलकर संसारको भस्म करते हैं, यहां अचानक, अनायास ही ऐसा हुआ चाहता है!

"जो पै वा वियोगिनी की आह कढ़ जायगी"—
तो क्या होगा? होगा क्या, महाप्रलय हो जायगी—
"काहू विधि विधिकी बनावट बचैगी नाहिं"—

ब्रह्माकी सृष्टि किसी तरह नहीं बचेगी, आहकी आंचसे नदी, नद और समुद्रोंके पानीकी भाप बनकर आसमानसे ऊपर चढ़ जायगी। पृथ्वी पलभरमें दोनों ध्रुवोंके किनारों तक पिघलकर और घूम घूमकर धुरीकी तरह बढ़ जायगी! गोलाई छोड़कर लम्बी पड़ जायगी। सूर्यसे, तारोंसे और चन्द्रमासे अँगारे, झड़ने लगेंगे, तमाम आकाशमण्डलमें आगही आग छा जायगी!

आहका भाड़

शेर—जो दाने-हाय अन्जुमे-गर्दूं को डाले भून।
उस आह शोलाख़ेज़को "इन्शा" तू भाड़ बाँध ॥

(इन्शा)

* * *

'इन्शा' कहते हैं कि जो आह, आसमानके तारोंको अनाजके दानोंकी तरह भून डाले, उसे तू भाड़ बांध—भाड़से उपमा दे।

× × ×

आहसे आसमानमें सूराख़

शेर—तारे तो ये नहीं मेरी आहोंसे रातकी,
सूराख़ पड़ गये हैं तमाम आसमानमें।*

(मीर तक़ी)

मीरसाहब फ़र्माते हैं, कि जिन्हें तुम तारे समझते हो, ये तारे नहीं हैं, मेरी रातकी आहोंसे आसमानमें सूराख़ (छिद्र) पड़ गये हैं, वही पड़े चमक रहे हैं!

× × ×

* बन्द हो जाती हैं सय्यारों की आँखें ख़ौफ़ से,
फेंकता हूं जब मैं दिल से आहे-आतिशबार को। (नासिख़)

† सय्यारे=नक्षत्र। आहे-आतिशबार= आगबरसानेवाली आह।

तारे नहीं अंगारे !

शेर—काँपता है आसमां क्या मेरी आहे-सर्दसे,
क्यों बिछा रक्खे हैं अंगारे बराबर फोड़कर ।

* * *

मेरी सर्द आहसे क्या 'आसमान' जैसा निठुर और पुराना पापी भी कांप उठा ! जरूर यही बात है, इसीलिये तो इसने तापनेके लिये ये दहकते हुए अंगारे चारों ओर फोड़कर बिछा रक्खे हैं !

\+ \+ \+

तारे नहीं दांत !

शेर—आई शबे-फ़िराक़ चबा जायगा मुझे,
तारे नहीं ये दांत फ़लक के दहां में हैं !
(नासिख़)

* * *

वियोगरात्रि आयी, अब कुशल नहीं, जालिम चबाही नायगा । ये तारे नहीं, आसमान के मुँह में दांत हैं !

\+ \+ \+

शेर—करूँ जो आह ज़मीं वो ज़मां जल जाय ।
सपहरे-नीलीका यह सायबां जल जाय ॥(मीर तक़ी)

* * *

मैं आह करूँ तो जमीन और उसपरके जीव जन्तु सब जल जायँ, यही नहीं, नीले आकाशका जो ऊपर यह 'सायबान' तना है, यह भी जलकर खाक हो जाय ।

× × × ×

"हम नहीं पे आह ! तो सारा ज़माना हेच है,
फूंक दे सबको ज़मीं हो आसमां हो कोई हो"

माफ़ कीजिये, ख़ुदारा इस आहको रोकिये। बेगुनाह ख़ल्के-ख़ुदा को तबाह न कीजिये। आप भी रहिये और ज़माने को भी रहने दीजिये।

× × ×

"बिरहकी ज्वालन सों बीजुरी जराय डारौं,
स्वासनि उड़ाऊँ बैरी बेदरद बादरनि"

विरहिणीके इस विचारपर किसीको आपत्ति नहीं हो सकती। ज़रूर, विरहकी ज्वालासे, जलावा बिजलीको जला देना चाहिए और दीर्घोच्छ्वासकी आँधीसे, बेदरद बैरी बादलोंको उड़ा देना चाहिए।

\+ + +

शेर—"उड़ाके आहका शोला कभी बनायँगे हम,
शबे-फ़िराक़में ख़ुरशीद आसमांके लिये।" (ज़ौक़)

* * *

कहते हैं कि हम आहका शोला उड़ाकर कभी वियोगकी रात्रिमें आसमानके लिये सूर्य बनायँगे! रातका दिन कर दिखायेंगे!

\+ + +

शेर—न करता ज़ब्त मैं नाला तो फिर ऐसा धुआँ होता,
कि नीचे आसमांके एक नया और आसमां होता"(ज़ौक़)

* * *

मैं अपने नालेको (दुःख-चीत्कारको) न रोक लेता तो फिर उससे ऐसा धुआँ होता कि इस आसमानके नीचे एक और नया आसमान बन जाता।

आपने बड़ी कृपा की, जो नाला ज़ब्त कर लिया, यह एक ही 'आसमान' चैन नहीं लेने देता। दो हो जाते तो न जाने क्या होता!

\+ + +

"नाला एक दममें उड़ा देवे धुएँ,
चर्ख़ क्या और चर्ख़की बुनियाद क्या?" (मोमिन)

* * *

बेशक, आपका नाला ऐसा ही बाअसर है।

× × ×

सरोवरका उष्ण जल

"मा उण्हं पियसु जलं विरहिणी-विरहाणलेण संतत्तम्।
एत्थ सरे ए पन्थिय गय-पइवहुयाउ मज्जविया॥"
(मोष्णं पिब जलं विरहिणीविरहानलेन संतप्तम्।
अत्र सरसि रे पथिक गतपतिवध्वो मज्जिताः)॥

* * *

किसी प्यासे पथिकको सरोवरमें पानी पीनेको उतारू देखकर कोई कहता है कि विरहिणीकी विरहाग्निसे औटा हुआ यह गरम जल क्यों पीते हो, मत पियो, इस सरोवरमें प्रोषित-पतिका स्त्रियां न्हागयी हैं।

\+ + +

तनतापसे पानीमें भाप

दोहा—सीतकाल जल माँझतें, निकसत भाप सुभाय।
मानो कोऊ विरहनी, अब ही गयी अन्हाय॥*

* * *

---

* प्र० "धूम तरंगनि तें उठत यह अचरज मम आहि।
उ० अनल रूप कोउ कामिनी मज्जन करगई साहि॥"
(शेख़ शाहमुहम्मद 'शाह' बिलग्रामी, व चम्पा)

जाड़ोंके दिनोंमें जो नदी या तालाबके पानीसे भाप उठती है, इसपर क्या अच्छी "उत्प्रेक्षा" है। मानो कोई विरहिणी अभी इसमें न्हाकर गयी है, उसके तनतापसे जल इतना गरम हो गया है कि उससे भाप निकल रही है!

+ + +

दरयामें आबले

शेर—आबले पड़ गये दरयामें नहीं हैं यह हुबाब,
आशना जलके मगर आपका डूबा कोई।

❀ ❀ ❀

यह नदीमें बुलबुले नहीं है, किन्तु आबले पड़ गये हैं, कोई वियोगाग्निमें जला प्रेमी (आशना) इसमें डूब मरा है, उसीकी आँचसे यह पानीके जिस्मपर आबले (छाले) पड़ गये हैं!

× × ×

शेर—अपने सोज़े-दिलसे ऐसा तावए-गर्दूं है गर्म,
सुबहके होतेही हर अख़्तर तवेकी बूंद है। (निकहत)

* * *

कहते हैं कि हमारे दिलकी आँचसे आसमानका तवा ऐसा गरम है कि सुबह होते ही (उसपर छिटके) सब तारे तत्ते 'तवेकी बूंद' (दृष्टनष्ट) हो जाते हैं—छन छनाकर छिप जाते हैं।

× × ×

जिगरका धुआं

शेर—"नीला नहीं सपहर तुझे इश्तबाह है,
दूदे-जिगरसे मेरे यह छत सब सियाह है।"

(मीरतक़ी)

यह तुम्हें भ्रान्ति है कि आसमानका रंग नीला है, फिर यह काला क्यों दीखता है? इसलिये कि मेरे जिगरके धुएँसे यह आसमानकी छत काली पड़ गयी है।

\+ + +

शेर—मेरे दूदे-आहसे याँ तक ज़माना है सियाह।
आफ़ताबे-आसमां ज़ंगीके मुंहका ख़ाल है॥
(ज़ौक़)

मेरी आहके धुएंसे ज़माना यहाँ तक स्याह है कि सूर्य हबशीके मुंहका तिल मालूम देता है।

\+ + +

दिलकी जलन

शेर—"यही सोज़े-दिल है तो महशरमें जलकर,
जहन्नुम उगल देगा मुझको निगल कर।"
(अमीर मीनाई)

यही दिलकी जलन है तो क़यामतमें जहन्नुम (नरक) भी मुझे अपने अन्दर रख न सकेगा, वह भी निगल कर, गरमीके मारे बाहर उगल देगा!

\+ + +

शेर—वाइज़ा! सोज़े-जहन्नुमसे डराता है किसे?
दाबे फिरते हैं बग़लमें दिलसा आतिशख़ाना हम।
(सौदा)

अजी वाइज़ साहब! (उपदेशकजी) यह आप दोज़ख़की आगसे डराते किसे हैं? हमतो बग़लमें दिलसा आतिशख़ाना—

(हृदय जैसी दहकती भट्टी)—दाबे फिरते हैं। फिर तुम्हारे जहन्नुमकी आंच इसके सामने क्या चीज़ है। उसमें तो इससे हज़ारवां हिस्सा भी कहीं गरमी नहीं !

\+ + +

हालीने भी "मुनाजाते-बेवा" में वैधव्य-विरह-यन्त्रणाके सामने नरकके दु:खको कैसा तुच्छ ठहराया है—

"जिसने रँडापा झेल लिया है,
डर उसे दोज़ख़का फिर क्या है!"

❀ ❀ ❀

विरहाग्निकी असह्यता

श्रीहर्षने नैषधीय-चरितमें विरहाग्निकी असह्यता, कितने अच्छे ढंगसे प्रमाणित की है—

"दहनजा न पृथुर्दवथुव्यथा
विरहजैव पृथुर्यदि नेदृशम्।
दहनमाशु विशन्ति कथं स्त्रियः
प्रियमपासुमुपासितुमुद्धुराः।"

साधारण आगमें जलमरनेकी व्यथा, कुछ बड़ी संतापव्यथा नहीं है, विरहाग्निकी व्यथा ही असह्य व्यथा है। अन्यथा विरहिणी स्त्रियां परलोकप्रवासी पतिसे मिलनेको दहकती हुई चितामें झटपट बेधड़क क्यों कूद पड़ती हैं !

× × ×

शेर—"आंसुओंमें है य नक़्शा अपने जिस्मे-ज़ारका,
बनगया है साफ़ डोरा मोतियोंके तारका।"

(नासिख़)

—आंसुओंकी लड़ीमें 'विरह-दूबरी-देह' की यह दशा है कि मोतियोंके तारका डोरा बनगयी है। आंसुओंकी झड़ी मोतियों की लड़ी है, बीचमें यह कृश शरीर डोरा (धागा) है। क्या अच्छा मोतियोंका हार बना है !

\+ + +

आंसुओंकी मोतीमाला "आज़ाद"ने भी ख़ूब गूंथी है, क्या कहा है:—

"हाथ ख़ाली मर्दुमे-दीदा बुतोंसे क्या मिलें,
मोतियोंकी पंजये-मिज़गांमें इक माला तो हो !"*

÷ ÷ ÷

"यहां तक आतिशे-फ़ुरक़त ने तेरी मुझ को फूंका है,
रगे-जां जलती रहती है चिराग़े-दिल में बत्ती सी ॥ †

चन्द्रोपालम्भ

"रात्रिराज ! सुकुमारशरीरः
कः सहेत तव नाम मयूखान् ।
स्पर्शमाप्य सहसैव यदीयं
चन्द्रकान्तदृषदोपि गलन्ति ॥"

(मङ्खक, श्रीकण्ठचरित)

हे रात्रिराज चन्द्र ! तुम्हारी इन किरणोंको भला कौन सुकुमारशरीर—(नाज़ुक-बदन) सह सकता है। इन्हें—जिनका स्पर्श पाते ही—ज़रा छूते ही—चन्द्रकान्त पत्थर भी पिघलकर बह पड़ते हैं !

---

* मर्दुमे-दीदा=आंखकी पुतली। "पंजये-मिज़गां"= पलकोंकी अंजलि।

† आतिशे-फ़ुरक़त=वियोगाग्नि। रगेजां= जीवनाड़ी। चिराग़े-दिल= हृदय-दीपक।

जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंके स्पर्शसे सूर्यकान्तमणिसे आग निकलने लगती है, इसी प्रकार चन्द्रमाकी किरणोंका स्पर्श पाकर चन्द्रमणिसे पानी टपकने लगता है। बड़ी ही सुन्दर सूक्ति है।

× × ×

"येन स्वेन करेण शोकदहने संदीप्य काष्ठावलीं
निःक्षिप्तौ द्विजदम्पती प्रतिदिनं यो वारुणीं सेवते।
पद्मिन्याश्च सुवर्णहारमकरोद्दारा गुरोराहृताः
संसर्गश्च कपालिना सखि न किं दोषाकरे दूषणम्॥"

❀ ❀ ❀

बड़ा बढ़िया "श्लेष" है। पांचों महापातक ऐसी खूबीसे चन्द्रमाके सिर थोपे गये हैं कि जिनका जवाब नहीं हो सकता।

कोई सखी विरहिणीसे कहती है कि इस 'दोषाकरमें' (चन्द्रमामें) वह कौनसा दोष (ऐब) है जो नहीं है? सुन, इसने अपने हाथसे काठकी ढेरीमें शोकाग्निसे आग लगाकर उसमें द्विजदम्पतीको झोंक दिया है। प्रतिदिन वारुणी (मद्य) का सेवन करता है। पद्मिनीके सुवर्णको इसने चुराया है, गुरुकी स्त्री (बृहस्पतिकी पत्नी तारा) का अपहरण किया है और कपालीके साथ रहता है। इस तरह पांचों 'ऐबशरयी' इसमें हैं।

धर्मशास्त्रमें पांच महापातक गिनाये हैं—

"ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह।"

❀ ❀ ❀

—अर्थात् १ ब्रह्महत्या, २ सुरापान, ३ चोरी, ४ गुरुपत्नी-समागम और ५ महापातकियोंका संसर्ग।

श्लोकमें, कर, काष्ठावली, द्विजदम्पती, वारुणी, पद्मिनी, सुवर्ण, कपाली और दोषाकर, ये सब शब्द श्लिष्ट हैं।

'कर'—हाथ और किरण। 'काष्ठावली'—काष्ठका समूह और दिशाओंका समूह। 'द्विजदम्पती'—ब्राह्मण ब्राह्मणी और चकवा चकवी। 'पद्मिनी'—स्त्री और कमलिनी। 'सुवर्ण'—स्वर्ण और सुन्दर वर्ण। 'कपाली'—वाममार्गी और शिव। 'दोषाकर'—चन्द्रमा और दोषोंकी खान।

× × ×

कवित्त—एरे मतिमन्द चन्द धिग है अनन्द तेरो
जो पै विरहिन जरि जात तेरे तापतें,
तू तो दोषाकर दूजे धरे है कलङ्क उर
तीसरे कपालि संग देखौ सिर छापतें,
कहै "मतिराम" हाल जाहिर जहान तेरो
वारुणीके बासी भासी रविके प्रतापतें,
बांध्यो गयौ मथ्यो गयौ पियो गयौ खारो भयौ
बापुरो समुद्र तो कपूत ही के पापतें॥

(मतिराम)

\+ \+ \+

महाकवि मतिराम का यह चन्द्रोपालम्भ भी बहुत अच्छा है, खासकर इसका चौथा चरण तो बहुत ही उत्तम है। कुपुत्र (चन्द्रमा) के पापसे ही बेचारे बाप (समुद्र) की यह सारी दुर्दशा

हुई कि कभी वह मथा गया (देवताओं द्वारा) कभी बांधा गया (श्रीरामचन्द्रजी द्वारा) और कभी पीकर खारी बनाया गया (अगस्त्य मुनि के द्वारा)।

\+ \+ \+

सायं नायमुदेति वासरमणिश्चन्द्रो न चण्डद्युति-

र्दावाग्निः कथमम्बरे किमशनिः स्वच्छान्तरिक्षे कथम्।

हन्तेदं निरणायि पान्थरमणी-प्राणानिलस्याशया

धावद्घोरविभावरी-विषधरीभोगस्थ-भीमो मणिः॥

इस समय सायंकाल है, इसलिये यह सूर्य तो निकल नहीं रहा, और चन्द्रमा शीतरश्मि है, उसमें यह उष्णता--दाहक-ताप--कैसा ? अतः यह सूर्य भी नहीं, चांद भी नहीं। तब क्या यह दावानल (दौं) है ? पर उसका आश्रय तो वन है, वह ऊपर आकाश में कहां ? फिर क्या यह अशनि– बिजलीकी आग—है? नहीं, वह तो मेघमें होती है, इस समय तो आकाश स्वच्छ— मेघरहित--है, इस कारण यह अशनि भी नहीं।

ओः ! मालूम होगया, प्रोषितपतिका विरहिणीके प्राणवायुके पान करनेकी इच्छासे दौड़ी आती हुई घोर रात्रिरूप साँपनके फनकी यह भयानक मणि है, और कुछ नहीं।

यह एक लौकिक प्रवाद है कि रातमें एक ख़ास क़िस्मका सांप, अपने फनकी मनके चाँदने में ओस चाटने और हवा खाने निकला करता है। इस श्लोकके चौथे चरणमें ऐसी ही सांपनसे मतलब है। सांपका आहार वायु है—सांप हवा खाकर रहता है— यह भी एक मानी हुई बात है।

रात—सांपन है, चांद—उसके फनकी मन, वियोगिनीका प्राण-वायु उसका आहार है। यही इसका सार है।

इसी श्लोकसे मिलते जुलते भाववाला एक फ़ारसी शेर मिर्ज़ा ग़ालिबने भी कहा है—

दर हिज्र तरब् वेश कुनद् तावो तवम्रा,
महताब कफ़े-मारे-सियाहस्त शवम्रा॥

* * *

अर्थात् वियोगमें सुखकी सामग्री उद्दीपक होकर व्याकुलता और सन्तापको और बढ़ाती है। वियोग-रात्रिकी चांदनी मेरे लिये काले सांपका फन है। वियोगमें चांदनी रात—काले सांपके फनकी तरह डरावनी (और काली) मालूम होती है।

\+ + +

ज़ौक़ने भी खूब कहा है। चांदनीका क्या अच्छा कफ़न बनाकर "अफ़सुर्दादिल"—दुःखितचित्त—वियुक्तको उसमें लपेटकर लिटाया है—

"अफ़सुर्दा-दिलके वास्ते क्या चांदनीका लुत्फ़
लिपटा पड़ा है मुर्दा सा गोया कफ़नके साथ।"

सवैया—सेत सरीर हिये विष स्याम कला फन री मन जान जुन्हाई।
जीभ मरीचि दसों दिसि फैलति काटत जाहि वियोगिनि ताई॥
सीसतें पूछ लौं गात गस्यो पै डसे बिन ताहि परै न रहाई।
सेसके गोतके ऐसे हि होत हैं चन्द नहीं या फनिन्द है माई॥
(गंग)

महाकवि गंगने चन्द्रमाको शेषनागके गोत्रका श्वेतसर्प बनाकर उससे वियोगियोंको डसवाया है। कोई वियोगिनी कहती है कि यह चन्द्र नहीं, जिसका शरीर श्वेत है ऐसा फणीन्द्र—नागराज—है, कालिमा विष है, कला—फन है। ज्योत्स्ना—मणि है।

दसों दिशाओंमें फैली हुई—किरणें—लपलपाती जीभें हैं, जिसे वियोगिनी देखता है, उसेही काटता है, सिरसे पांव तक इसका शरीर गल गया है, पर तो भी काटे विना इससे नहीं रहा जाता।

प्रसिद्ध है कि जब सांप मनुष्य को काटता है तो उसकी पूंछ-की ओरसे एक गांठ गलकर गिर जाती है, एक बार काट लेने पर सांपको काटनेका चसका पड़ जाता है, फिर उससे विना काटे नहीं रहा जाता, देखते ही अदबदके काटता है। इसने इतनी वियोगिनियोंको बार बार काटा है कि एक एक करके इसके शरीर की सारी गाँठें गलकर झड़ पड़ी हैं, केवल फन ही फन रहगया है। सांपके गोल और चौड़े फनमें चन्द्रमण्डलकी भ्रान्ति हो रही है!

\+ + +

सवैया—प्रीतम गौनु किधौं जियगौनु कि भौनु कि भारु भयानक भारो
पावस पावक फूल कि सूल पुरन्दरचाप कि 'सुन्दर' आरो।
सीरी बयारि किधौं तरवारि है वारिदवारि कि वान विषारो
चातक बोल कि चोट चुभै चित, इन्द्रबधू कि चकोरको चारो॥
(सुन्दर)

\+ + +

प्रियतमके गमनपर प्रोषितपतिका कहती है कि यह प्रीतम का गमन है कि जीका जाना है। यह भवन (मकान) है कि भयानक भाड़ है। यह पावस (वर्षा) है कि पावक (अग्नि) है। ये फूल हैं कि सूल। यह पुरन्दरचाप (इन्द्रधनुष) है कि बढ़ई का आरा। यह शीतल वायु है कि तलवार। यह मेंहकी बूंदें हैं कि विषमें बुझे बाण। यह चातकका बोल है कि चितमें चुभने वाली चोट। इन्द्र-वधू (बीरबहूटी) है कि चकोरका चारा (आग) है।

\+ + +

सवैया—भोर भये मथुराको चलेंगे यों बात चली हरिनन्दललाकी
बोल सकी न सकोचनितें सुनि पीरी भई मुखजोति तियाकी।
हाथ टिकाइ ललाट सों बैठी इहै उपमा कवि 'सुन्दर' ता की,
देखै मनो तिय आयुके आखर और कछू हैं रहे बच बाकी॥
(सुन्दर)

* * *

प्रातःकाल 'नन्दलला' मथुरा जायँगे, यह सुनकर संकोचके मारे कुछ कह न सकी, मुंह पीला पड़गया, हाथसे माथा पकड़े सोचमें बैठी है, मानो हाथमें आयुकी रेखा देख रही है कि आयु समाप्त होगयी कि अभी कुछ बाक़ी है।

\+ \+ \+

मणि मोतियोंकी खील

एतस्याः स्मरसंज्वरः करतलस्पर्शैः परीक्ष्योद्य न
† स्निग्धेनापि जनेन दाहभयतः प्रस्थंपचः पाथसाम्।
निर्बीजीकृतचन्दनौषधविधौ तस्मिश्चटत्कारिणो
लाजास्फोटममी स्फुटन्ति मणयो विश्वेपि हारस्रजाम्॥
(राजशेखर)

विरहिणीके काम-सन्तापका अन्दाजा (परीक्षा) हाथसे छूकर नहीं किया जा सकता, स्निग्ध सखियां भी दाहके भयसे उसे छूते

---

† ज़ि ताबे-आतिशे-दूरी कि मीसोज़द दिलो जांरा!
नबूदा नब्ज़े-मन बर आबला दस्ते-तबीबांरा।"
—वियोगाग्निने दिल और जानको जला डाला। गरमी का यह हाल है कि मेरी नब्ज़पर हाथ रखतेही हकीमजी के हाथ में आबले पड़गये।

डरती हैं। गरमीका कुछ ठिकाना है। उसकी आंचसे सेरों पानी औट जाता है! चन्दन कर्पूरादि शीतलोपचार से क्या होता है! हारके मणि और मोती चट चट करके खीलकी तरह छातीपर पड़े पटक रहे हैं।

\+ + +

"हिये विरहानल की तपनि अपार उर
हार गजमोतिन को चटक चटक जात।"

* * *

"सीतल जानि वियोगिनि के उर लै लर मोतिनकी पहराई,
यों चटके पटके मुकताहल ज्वार भटू मनु भार भुनाई।"

* * *

तस्यास्तापमहं नृशंस कथयाम्येणीदृशस्ते कथं,
पद्मिन्याः सरसं दलं विनिहितं यस्याः शमायोरसि।
आदौ शुष्यति संकुचत्यनु ततश्चूर्णत्वमापद्यते,
पश्चान्मुर्मुरतां दधाति दहति श्वासावधूतं सखीः॥

—हे नृशंस—(निर्दय!) उसका सन्ताप तुम्हें कैसे समझाऊँ! उसका—जिसकी छातीपर सन्ताप-शान्ति के लिये रखा हुआ, कमलिनीका हरा गीला पत्ता, पहले तो सूखजाता है फिर सुकड़ता है, सूखकर सुकड़कर चूरा बन जाता है और फिर तुषाग्नि—गरम भूभल बनकर दीर्घ श्वासोंसे उड़ उड़कर पास बैठी हुई सखियों-को झुलस देता है!

* ❀ *

चन्द्र नहीं वही पत्ता उड़ा फिरता है!

नो शक्या गदितुं स्मरानल-दशा यास्यास्त्वयि प्रस्थिते,
पत्रैः साश्रुसखीजनोपरचिते तल्पे लुठन्त्या मुहुः।

यल्लिप्तं कुचचन्दनेन सुतनोरद्यापि चन्द्रच्छला-
च्छ्वासोड्डीन त्रिशुष्क-पाण्डु-बिसिनी-पत्रं दिवि भ्राम्यति ॥

तुम्हारे प्रस्थान करनेपर उसकी जो दशा हुई वह कही नहीं जा सकती, वह दशा देखकर सखियां रोने लगीं, उन्होंने पत्तोंके बिछौनेपर उसे लिटा दिया, जिसपर वह लोटने लगी, इस लोटने पोटनेमें कुचोंका चन्दन कमलपत्रपर लिपट गया, वह चन्दन-चर्चित सूखा हुआ पत्ता—(जिसपर सखियोंके आंसुओंके काजलके कुछ छींटे भी लगे हैं)—वियोगिनीके दीर्घश्वाससे उड़कर आकाशमें पहुंच गया है—वही चन्द्रमाके रूपमें ऊपर आकाशमें चक्कर काट रहा है, उसी पत्रमें चन्द्रमाका धोखा हो रहा है!

\+ \+ \+

जलने और डूबनेके डरसे

एणीदृशः प्रबलतापभयादिवास्याः
श्वासानिलाः प्रतिमुहुः प्रसरन्ति दूरम्।
बाष्पाम्बुवीचिषु निमज्जनकातरेव,
निद्रा दृशोर्न सविधेऽपि पदं निधत्ते ॥

(सहृदयानन्द। ३। २०।)

* * *

—दमयन्तीके विरहका वर्णन है। बार बार लम्बे लम्बे सांस क्यों चल रहे हैं? प्रबल सन्तापसे जल जानेके डरसे सांस दूर भागे जा रहे हैं! नींद क्यों नहीं आती? आंखोंमें आंसुओंका प्रवाह उमड़ रहा है, उसमें डूब मरनेके डरके मारे निद्रा आंखोंके पास पांव नहीं धरती-पास नहीं फटकती। वियोगदशाके दीर्घ-श्वास और निद्रानाशपर अच्छी उत्प्रेक्षा है।

\+ \+ \+

"आमोदलोलुपतया परिहृत्य पुष्पं,
पुष्पन्धयाः सरभसं समुपेत्य दूरात्।
पर्याकुला पुनरमी विनिवर्तमानाः
संसूचयन्ति तव निःश्वसितेषु तापम्॥"
(सहृदयानन्द ३। ११)

❀ ❀ ❀

—सखी दमयन्तीसे कहती है—सुगन्धके लोभी ये 'पुष्पन्धय' (भौंरे) फूलोंको छोड़कर बड़े वेगसे दूरसे उड़कर (सुगन्धश्वास सूंघनेको) तेरे मुखके पास आते हैं, पर फ़ौरन् ही घबराकर लौटने लगते हैं, उफ़ तेरे श्वास कितने गरम हैं, यह इसीसे सूचित होता है।

\+ + +

"कुन्दलयामउलपरिट्ठिएण भरिऊण मालइ-विलासम्।
तह नीससियं इन्दिन्दिरेण जह सा पज्जलिया॥ (२४८)
(कुन्दलता-मुकुल-परिस्थितेन स्मृत्वा मालती-विलासम्।
तथा निःश्वसितमिन्दिन्दिरेण यथा सापि प्रज्वलिता।)

—कुन्द-लताकी कलियोंपर बैठे हुए भौंरेने मालतीके विलासको स्मरण करके एक ऐसा संतप्त श्वास लिया कि वह हरीभरी कुन्दलता भी जलने लगी!

\+ + +

"तह नीससियं जूहाहिवेण चिरविलसियं भरन्तेण।
करगहियं तिणकवलं हरियं जह झत्ति पज्जलियम्॥ (१६६)
(तथा निःश्वसितं यूथाधिपेन चिरविलसितं स्मरता।
करगृहीतं तृणकवलं यथा झटिति प्रज्वलितम्।) (व०ल०)

—यूथाधिपने (गजराजने) उन पुराने चिरविलासोंको याद करके ऐसा सांस लिया कि सूंडमें पकड़ा हुआ तृणकवल—घासग्रास—एकदम जल उठा !

\+ + +

"धूमेनेव हते दृशौ विसृजतो वाष्पं प्रवाहक्रमं,
क्काथोत्फेनमिवाक्तचन्दनरसं स्वेदं वपुर्मुञ्चति।
अन्तःप्रज्वलितस्य कामशिखिनो दाहार्जितैर्भस्मभिः
श्वासावेगविनिर्गतैरिव तनोः पाण्डुत्वमुन्मीलति ॥"

—विरहिणीके अन्दर जो कामाग्नि प्रज्वलित हो रही है उसके धुएँसे आंखें आंसुओंका प्रवाह बहा रही हैं, शरीरपर लिपटा हुआ चन्दन पसीनेमें मिलकर बह रहा है, मालूम होता है गरमी-से उबलकर पसीनेमें झाग आ रहे हैं! अन्दरकी अग्निकी जली हुई सफ़ेद राख सांसके साथ उड़कर बाहर शरीरपर बिखर गयी है, शरीरकी पाण्डुताका यही कारण है !

* * *

"उवरि महँ चिय वम्मह पञ्च वि वाणा निसंस रे मुक्का।
अन्नं उण तरुणिजणं किं हणिहिसि चावलट्ठीए।"
(उपरि ममैव मन्मथ! पञ्चापि वाणा नृशंस! रे मुक्ताः।
अन्यं पुन तरुणीजनं किं हनिष्यसि चापयष्ट्या ॥)

रे नृशंस मन्मथ! पांचों बाण मुझी अकेली पर एकदम छोड़ दिये! तरकश ख़ाली करदिया। अन्य युवतियोंको क्या चापयष्टि-(कमान की लाठी) से मारोगे!

× × ×

फिर बाणवर्षा कहां करेगा ?

"अद्यैव यत्प्रतिपदुद्गतचन्द्ररेखा-
सख्यं त्वया तनुरियं गमिता वराक्याः।
कान्ते गते कुसुमसायक! तत्प्रभाते
बाणावलीं कथय कुत्र विमोदयसि त्वम्॥"

(रुद्रभट्ट, शृङ्गारतिलक)

अभी—प्रियके परदेशगमनकी चर्चा चलनेपर ही—तुमने बेचारीको शरीर सुखाकर प्रतिपदाकी चन्द्ररेखाके समान बना डाला, फिर प्रातःकाल जब प्रिय प्रयाण कर जायगा तब बतलाओ कुसुमसायक! (कामदेव) बाणवर्षा किसपर करोगे ? मश्क़े-तीरन्दाज़ी किस निशानेपर करोगे! इसपर तुमने शायद ध्यान नहीं दिया!

* * *

कृशताका कारण

"यावद् यावद्भवति कलया पूर्णकायः शशाङ्क-
स्तावत्तावद्द्युतिमयवपुः क्षीयते सा मृगाक्षी।
मन्ये धाता घटयति विधुं सारमादाय तस्या-
स्तस्माद्यावन्न भवति सखे! पूर्णिमा तावदेहि॥"

ज्यों ज्यों चन्द्रमा कलाओंसे पूर्णमण्डल होता जाता है, त्यों त्यों वह कान्तिमय अङ्गोंवाली मृगाक्षी क्षीण होती जाती है। इससे अनुमान होता है कि ब्रह्मा उसके शरीरका सार लेकर चन्द्रमाको बना रहा है। इसलिये जबतक पूर्णिमा नहीं आती तबतक पहुंचो, जल्दी करो। नहीं तो इस हिसाबसे पूर्णिमातक उसकी समाप्ति ही हो जायगी!

\+ + +

कृशताकी पराकाष्ठा

उद्धूयेत तनूलतेति बिसिनीपत्रेण नो वीज्यते,
स्फोटः स्यादिति नाङ्गकं मलयजक्षोदाम्भसा सिच्यते ।
स्यादस्यातिभरात्पराभव इति त्रासान्नवा पल्लवा-
रोपो वक्षसि तत्कथं वरतनो राधिः समाधीयताम् ॥

कहीं 'तनूलता'—कृशशरीर—उड़ न जाय इस डरसे कमल-दलसे हवा नहीं करते, फफोले न पड़ जायँ, (शरीर सन्तापमें इतना भुन रहा है) इस भयसे चन्दनका लेप नहीं कर सकते, कहीं दबकर दम न घुट जाय इस भयसे छातीपर कदलीदल या कमलपत्र भी नहीं रख सकते, फिर कहो कैसे उसकी सन्ताप-शान्तिका उपाय किया जाय !

\+ \+ \+

उद्धूयेत नतभ्रूः पक्ष्मनिपातोद्भवैः पवनैः ।
इति निर्निमेषमस्या विरहवयस्या विलोकते वदनम् ॥

कृशांगी विरहिणीको उसकी सखी, टकटकी बाँधे देख रही है, पलक नहीं झपकाती, इस डरसे कि पलक मारनेसे पैदा हुई हवासे कहीं यह कृशांगी उड़ न जाय !

"बरुनी बयार लागै जनि उड़ि जाय शेष
सखीको समाज अनिमेष रहियतु है"

(कृष्णकवि)

❀ ❀ ❀

कृशतामें कान्ति

"नीरागोऽधरपल्लवोऽतिमलिना वेणी दृशौ नाञ्जिते,
म्लायद्बालमृणालिका-धवलतामालम्बतेऽङ्गच्छविः ।

इत्थं सुष्ठु विसंस्थुलापि विरहव्यापद्विमर्दादियं
सख्येव स्थिरशोभया दृढतरं प्रत्यङ्गमालिङ्गिता ॥"
(रुद्रभद्र, शृङ्गारतिलक)

अधर-पल्लवोंकी सुर्खी उड़ गयी, वेणी (केशोंका जूड़ा) बहुत मैली हो गयी। आँखोंमें अञ्जनका निशान नहीं, अङ्गकी कान्ति मुरझाए हुए कमलनालकी तरह सफ़ेद पड़गयी, इस प्रकार विरह-विपत्तिने इसे ख़ूब रौंद डाला है, इस विपत्तिमें सिंगारका सब साज साथ छोड़ गया है, सिर्फ़ एक स्थिर शोभा (कान्ति) है जो सखीकी तरह प्रत्येक अङ्गसे दृढतापूर्वक लिपट रही है—इस दशामें भी शोभा सब अङ्गोंको सुशोभित कर रही है।

\+ \+ \+

तस्यास्त्वदेकमनसः स्मरवाणवर्षैः,
कार्श्यं वपुः शठ बिभर्त्ति यथा यथैव।
स्तोकायिताश्रयतयेव तथा तथैव,
कान्तिर्घनीभवति लोलविलोचनायाः॥
(कोई कवि)

❀ ❀ ❀

—किसी निठुर शठ नायकसे सखी कहती है कि उसका जी तुम्हींमें पड़ा है (और तुम्हें उसकी परवा नहीं!) वियोगमें बेचारी सूख गयी है, पर कान्ति कम नहीं हुई प्रत्युत और बढ़ गयी है। काम की वाणवर्षासे छिदकर उसका शरीर ज्यों ज्यों सुकड़ता जाता है त्यों त्यों आधार—(शरीर)के संकोचके कारण कान्ति-(आधेय) इधर उधरसे सिमटकर सघन होती जाती है! कृशता संकुचित शरीर में थोड़े में इकट्ठी होकर कान्ति और चमक उठी है।

\+ \+ \+

प्राण क्यों नहीं निकलते !

"तव विरहमसहमाना सा तु प्राणान् विमुक्तवती ।
किन्तु तथाविधमङ्गं न सुलभमिति ते न मुञ्चन्ति ॥"

* * *

तुम्हारे विरहको न सहकर उसने (वियोगिनीने) तो कभीके प्राण छोड़ दिये हैं, अपनी ओरसे उन्हें विदा करदिया है। पर प्राण उसका पिण्ड नहीं छोड़ते, इस लालचमें अटके पड़े हैं कि ऐसा सुन्दर शरीर हमें और कहाँ मिलेगा ?*

\+ \+ \+

†जम ! जनि बौरा होइ तूं कत घेरत मोहि आन ।
हौं तौ तबही दै चुकी प्राननाथ को प्रान ॥

(सय्यद बरकतुल्ला 'पेमी' बिलग्रामी)

\+ \+ \+

फिर मरना कब काम आयगा !

यदि प्रियवियोगेपि रुद्यते दीनदीनकम् ।
तदिदं दग्धमरणमुपयोगं क यास्यति ॥"

(दग्धमरण कवि)

विरहिणी कहती है—यदि प्रियके वियोगमें भी सिसक सिसककर दीनतासे रोने ही तक बात रही, तो फिर यह 'दग्धमरण'—जला मरना—(मुआ मरना !) कब काम आयगा !

"हिज्र से बढ़कर मुसीबत और आने की नहीं,
मौत को रख छोड़िए किस ज़िन्दगी के वास्ते!"

\+ \+ \+

---

*"जानि महागुन रूपकी रासि, न प्रान तज्यों चहें वाके सरीरहिं ।"(हरिश्चन्द्र)

† जनि=मत । बौरा=बौहरा, महाजन ।

प्रिय-वियोग में शोक ही विष है

"है हिज्रे-यार में तुझे 'मोमिन' तलाशे-ज़हर,
ग़म पर हरामख़्वार ! तवक्कुल न हो सका।" ‡
(मोमिन)

× × ×

मरनेमें कुशल !

"कुशलं तस्या जीवति, कुशलं पृष्टासि [पृच्छामि] जीवतीत्युक्तम्
पुनरपि तदेव कथयसि मृतां नु कथयामि या श्वसिति॥"
(कवि क्षिप्त)

—'वह कुशलसे तो है ?' जी रही है। 'मैं कुशल पूछता हूं'; कह तो दिया कि जीती है। 'फिर वही बात !' और क्या कहूँ ? जो सांस ले रही है-जी रही है-उसे "मरगयी" कैसे कह दूं ! इस दशामें कुशल तो तभी होगी जब वह मरकर दुःखसे छूट जायगी। यह भाव।

\+ + +

"अफ़सोस है कि ज़िन्दा हूँ लिखना पड़ा है हाल।
क्या मुख़्तसिर जवाब य होता कि मर गया॥"
(अकबर)

* * *

प्राणदानमें अनुमति

वाच्यं तस्मै सहचरि ! भवद्भूरिविश्लेषवह्नौ
स्नेहैरिद्धे मम वपुरिदं काम-होता जुहोति।
प्राणानस्मै तदहमुचितां दक्षिणां दातुमीहे
तत्रादेशो भवतु भवतां यत्त्वमेषामधीशः॥ ❀

---

‡ तलाशे-ज़हर= विष की चाह। तवक्कुल = सन्तोष।

❀ "अजल आई नज़र उसकी करें क्या ?
हमारी जान तो तुममें पड़ी है।" (अमीर मीनाई)

* अजल= मौत। नज़र= भेंट।

—प्यारी सहचरी ! उनसे जाकर ज़रा पूछ तो आओ कि तुम्हारी प्रचण्ड वियोग-वह्निमें—जो स्नेहकी आज्याहुतियोंसे प्रदीप्त हो रही है, काम-होता—कामदेवरूप याज्ञिक—मेरे इस विरह-विशुष्क शरीर को होम रहा है, यज्ञकी सफलताके लिये दक्षिणा देना आवश्यक है—(हतो यज्ञस्त्वदक्षिणः) सो भी साधारण नहीं, होता की हैसियत के अनुरूप। इस होमकी उचित दक्षिणा 'प्राण' ही हैं, वही देना चाहती हूं; इसके लिये आपकी आज्ञा अपेक्षित है, क्योंकि प्राणोंके स्वामी तो "प्राणनाथ"—आपही हैं—इनपर मेरा स्वत्व नहीं। प्राण "स्त्री धन" नहीं हैं !

\+ \+ \+

चिता-काष्ठ

"नीरसं काष्ठमेवेदं सत्यं ते हृदयं यदि।
तथापि दीयतां तस्यै गता सा दशमीं दशाम् ॥"
(कुञ्जराज)

—तुम्हारा यह नीरस हृदय क्या सचमुच ही काष्ठ है ? यदि ऐसा है तो भी इसे उसके लिये देदो, वह (वियोगिनी) दशमी दशा (मरण) को प्राप्त हो रही है। (चिताके लिये ईंधनकी जरूरत होगी!)

"किसी रंजकश को देते तो कुछ उसको सूद होता,
दिले-सख़्त काश काफ़िर हजरुल्यहूद होता।"❀

—क्या अच्छा होता कि यह कमबख़्त-काफ़िर दिले-सख़्त (कठोर हृदय) 'हजरुल्-यहूद' का पत्थर होता। ऐसा होता तो किसी शोक-चिन्तातुर वियुक्त रोगी ही के काम आता !

❀ रंजकश=शोकातुर। सूद=फ़ायदा। हजरुल्-यहूद=एक प्रकार का पत्थर, चिन्ता और शोकजन्य रोगमें इसके सेवनसे लाभ होता है।

प्राणदान

जिहि ब्राह्मन पिय गमनको सगुन दियौ ठहराइ।
सजनी ताहि बुलाइ दै प्रानदान लैजाइ ॥८२५॥
(रसनिधि, रतनहजारा)

❀ ❀ ❀

प्रियके गमनका मुहूर्त्त बतलानेवाले ब्राह्मणको क्या अच्छा दान देनेका संकल्प किया है! "सजनी ताहि बुलाइ दै प्रानदान लै जाइ"। "तुरत दान महाकल्यान"!

+ + +

'पौमें हियमें होड़'

आजु सखी हौं सुनति हौं पौ फाटत पिय गौन।
पौ में हियमें होड़ है पहिलै फाटत कौन ॥

* * *

क्या अच्छी होड़ लगी है। देखें पहले कौन फटता है। पौ फटती है कि हृदय! 'पौ फटना'—सूर्योदयके पूर्व, पूर्वदिशाकी "नभलाली" को कहते हैं।

+ + +

वियोगिनीकी विधातासे प्रार्थना

"पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशं विशन्तु ध्रुवं,
धातारं प्रणिपत्य नम्रशिरसा याचेहमेकं वरम्।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गन-
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः॥"

* * *

—विरहिणी कहती है—शरीरके पांचों तत्त्व अपने अपने अंश-(तत्त्व) में मिल जायँ–यह 'पञ्चत्व' (मृत्यु)को प्राप्त हो जाय, ज़रूर और जल्दी हो जाय–(इसकी चिन्ता नहीं, यह तो इस दशा में अभीष्ट ही है)–पर अत्यन्त दीनतापूर्वक सिर झुकाकर हाथ जोड़कर विधातासे बस एक वर मांगती हूँ—मेरे शरीरके पञ्चतत्त्वों की तक़सीम यों करदी जाय कि जल तो उनकी वावड़ी में मिला दिया जाय, अग्नि उनके दर्पणमें दाखिल हो जाय, उनके घरके आंगन में आकाश और उनके मार्गकी भूमि-में पृथिवी समा जाय, और उनके पंखे में हवा मिल जाय! (ऐसा होजाय तो मुँह मांगी मुराद पाजाऊँ, मरकर भी जी मिलूँ!)

विहारीका कवित्व और व्यापक पाण्डित्य

कविके विषयमें किसी विद्वान्‌का कथन है कि "कवि प्रकृतिका पुरोहित होता है"—जिस प्रकार पुरोहितके लिये यजमानके समस्त कुलाचारों और रीति रिवाजोंका अन्तरङ्ग ज्ञान आवश्यक है, इसी प्रकार कविको भी प्रकृतिके रहस्योंका मर्मज्ञ होना उचित है। इसके विना कवि, कवि नहीं हो सकता। कवि ही प्रकृतिके सूक्ष्म निरीक्षणद्वारा ऐसी बातें चुन सकता है जिनपर दूसरे मनुष्यकी दृष्टि नहीं जाती, जाती भी है तो तत्त्व तक नहीं पहुंचती—तहतक पहुंचकर कोई ऐसी बात नहीं निकाल सकती—जो साधारण प्रतीत होनेपर भी असाधारण शिक्षाप्रद हो, लौकिक होनेपर भी अलौकिक आनन्दोत्पादक हो और सैकड़ों बारकी देखी भाली होनेपर भी नवीन चमत्कार दिखानेवाली हो। प्रकृतिके छिपे और खुले भेदोंको सर्वसाधारणके सामने मनोहर रूप में प्रकट करना ही कविका काम है। "अज्ञेयमीमांसा" करने बैठना,

आकाशके तारे तोड़ने दौड़ना, कविका काम नहीं है। कभी कभी कविको ऐसा भी करना पड़ता है सही, पर वह मुख्य दार्शनिकोंका काम है। कविका काम इससे भी बड़ा गहन है। केवल व्याकरण और छन्दःशास्त्रके नियमोंसे अभिज्ञ होकर, वर्ण मात्राके काँटेमें नपी तुली पद्यरचना का नाम कवित्व नहीं है, जैसा कि आजकल प्रायः समझा जाने लगा है ! ❀

सूक्ष्मदृष्टिसे प्रकृतिके पर्यवेक्षणकी असाधारण शक्ति रखनेके अतिरिक्त विविध कलाओं, अनेक शास्त्रोंका ज्ञान भी कविके लिये आवश्यक है, जैसा कि कवितामर्मज्ञों ने कहा है—

"न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः ॥"

❀ ❀ ❀

अर्थात्—न ऐसा कोई शब्द है, न ऐसा अर्थ है, न ऐसा कोई न्याय है और न ऐसी कोई कला है, जो काव्यका अङ्ग न हो,

---

❀ इसपर नीलकण्ठ दीक्षित क्या अच्छा कह गये हैं—

"*मत्वा पदग्रन्थनमेव काव्यं*
मन्दाः स्वयं तावति चेष्टमानाः।
मज्जन्ति बाला इव पाणिपाद-
प्रस्पन्दमात्रं प्लवनं विदन्तः ॥"

❀ ❀ ❀

अर्थात् कविताके तत्त्वसे अनभिज्ञ—कोरे तुकबन्द लोग—केवल पद-योजना (तुकबन्दी) को ही काव्य मानकर काव्य-निर्माणकी चेष्टा करते हुए उन बालकोंकी तरह डूबते हैं, जो हाथ पैर पटकनेको ही तैरना समझकर अथाह पानी में कूद पड़ते हैं।

इसलिये कविपर कितना भारी भार है, कुछ ठिकाना है ! इस सब भारको अपनी लेखनीकी नोकपर उठानेकी जो शक्ति रखता है, वही महाकवि है ।

"सकलविद्यास्थानैकायतनं पञ्चदशं काव्यं विद्यास्थानम्"
(राजशेखर) *

यह सब बातें (जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है) विहारीकी कवितामें प्रचुर परिमाणमें पायी जाती हैं। सतसई पढ़नेसे प्रतीत होता है कि विहारीका प्रकृति-पर्यवेक्षण बहुत ही बढ़ा चढ़ा था। मानव-प्रकृतिका उन्हें असाधारण ज्ञान था। इसके वह सचमुच पूरे पुरोहित थे। उनका संस्कृत-साहित्यका पाण्डित्य इससे ही सिद्ध है कि संस्कृतके महारथी कवियोंके मुक़ाबले में उन्होंने अद्‌भुत पराक्रम दिखलाया है—संस्कृतपद्योंकी छायापर रचना करके; नवीन चमत्कार लाकर कहीं कहीं उन आदर्श पद्योंको विच्छाय बना दिया है—जैसा कि छाया-पद्यों के उदाहरणोंसे विदित हो चुका है। गणित, ज्योतिष, वैद्यक, इतिहास, पुराण, नीतिशास्त्र और दर्शनों में भी उनका अच्छा प्रगाढ़ परिचय था। जैसा कि आगेके अवतरणोंसे सिद्ध है।

विहारीकी प्रतिभाका विहारस्थल बहुत विस्तृत था, सर्वत्र समान रूपसे उसकी गति अप्रतिहत थी। भास्करकी प्रभाकी तरह वह प्रत्येक पदार्थपर पड़ती थी। यही नहीं, जहां सूर्यकी

---

* प्राचीन आचार्योंने चौदह १४ विद्या गिनाई हैं—"विद्या ह्येताश्चतुर्दश" १४ विद्याएं प्रसिद्ध हैं। काव्यमीमांसामें राजशेखर कहते हैं—कि जहां इन चौदह विद्यास्थानोंका एक जगह सङ्गम होता है, वह 'काव्य' पन्द्रहवाँ 'विद्या-स्थान' है ।

किरणें भी नहीं पहुँचतीं, वहां भी वह पहुँचती थी। "जहाँ न जाय रवि वहाँ जाय कवि" इस कथनकी पुष्टि विहारीकी कवितासे अच्छी तरह होती है। सूर्यकी किरणें आलोकग्राही पदार्थपर पड़कर ही अपने असली रूपमें प्रतिफलित होती हैं, दूसरी जगह नहीं, परन्तु विहारीकी अद्भुत प्रतिभाका प्रकाश जिस पदार्थपर भी पड़ा, उसे ही अपने रूपमें चमकाकर दिखा दिया। गणित, ज्योतिष, इतिहास, नीति और दार्शनिक तत्त्वोंसे लेकर बच्चोंके खिलौने, नटोंके खेल, ठगोंके हथकण्डे, अहेरीका शिकार, पौराणिककी धार्मिकता, पुजारी का प्रसाद, वैद्यकी परप्रतारणा, ज्योतिषीका ग्रहयोग, सूमकी कंजूसी, जिसे देखिये वही कविताके रंगमें रँगा चमक रहा है।

इस जगह सबके उदाहरण देना कठिन है, बात बहुत बढ़ जायगी, इसलिये इस प्रकारके कुछ नमूनोंसे ही सन्तोष करना होगा। किसी काव्यपर कुछ लिखते हुए प्रारम्भमें उस काव्यसे सुन्दर सूक्तियोंके नमूने देनेकी रीति है, हम भी चाहते थे कि ऐसा करें—इस प्रकरणमें बानगीके तौरपर कुछ सूक्तियोंके नमूने सतसईसे उद्धृत करें—पर इस इच्छासे विवशतावश विरत होना पड़ा। इसके दो कारण हैं, एकतो अनेक सूक्तियां तुलनात्मक समालोचनामें और विरह-वर्णन में आगयीं हैं, कुछ इस प्रसङ्गमें आजायँगी, कुछ सतसईसंहारमें मिलेंगी। इसलिये पृथक् देनेकी कुछ आवश्यकता न रही। दूसरे सतसईमें किसे कहें कि यह सूक्ति है और यह साधारण उक्ति है! इस 'खांड़की रोटी'को जिधरसे तोड़िए उधरसे ही मीठी है। इस जौहरीकी दूकानमें सब ही अपूर्व रत्न हैं। बानगीमें किसे पेश करें! एकको खास तौरपर आगे करना, दूसरेका अपमान करना है, जो सहृदयताकी दृष्टि में हम समझते हैं अपराध है।

रुचिभेदसे किसीको कोई सूक्ति अच्छी जँचे, कोई वैसी न जँचे, यह और वात है। किसीको शब्दालंकार पसन्द है, किसी को अर्थालङ्कार, कोई वर्णनवैचित्रीपर रीझता है तो कोई सादगी-पर फ़िदा है, कोई रसपर मरता है तो कोई बन्धसौष्ठवपर जान देता है। कोई पदार्थका उपासक है तो कोई पदावलिके पाँव पूजता है—

"रसं रसज्ञाः कलयन्ति वाचि
परे पदार्थानपरे पदानि ।
वस्त्रं कुविन्दा वणिजो विभूषां
रूपं युवानश्च यथा युवत्याम्" ॥
(नीलकण्ठ दीक्षित)

* * *

—रसज्ञ (रसिक) कवितामें रस ढूँढते हैं, दूसरे पदार्थ (विषय) को देखते हैं, तीसरे पदलालित्यपर दृष्टि देते हैं। जिस प्रकार किसी युवतिको देखकर युवा, उसके रूपको सराहते हैं, जुलाहे—वस्त्रके व्यापारी—वस्त्रकी तारीफ़ करते हैं, और सर्राफ़ उसके आभूषणों-पर परखकी नज़र डालते हैं।

आजकल का संभ्रान्त शिक्षित समाज कोरी "स्वभावोक्ति" पर फ़िदा है, अन्य अलङ्कारोंकी सत्ता उसकी परिष्कृत रुचिकी आंखमें कांटासी खटकती है, और विशेषकर "अतिशयोक्ति" से तो उसे कुछ चिढ़सी है। प्राचीन साहित्य-विधाताओंके मतमें जो चीज़ कविता-कामिनी के लिये नितान्त उपादेय थी, वही इसके मतमें सर्वथा हेय है। यह भी एक रुचि-वैचित्र्यका "'दौरात्म्य" है! जो कुछ भी हो, प्राचीन काव्य वर्तमान 'परिष्कृत सुरुचि' के आदर्शपर नहीं रचे गये, उन्हें इस नये गज़ से नहीं नापना चाहिये, प्राचीनताकी दृष्टिसे परखनेपरही उनकी ख़ूबी

समझमें आसकती है। "सतसई" भी एक ऐसा ही काव्य है, विहारी उस प्राचीन मतके अनुयायी थे जिसमें "अतिशयोक्ति-शून्य" अलङ्कार चमत्काररहित माना गया है। उपमा, उत्प्रेक्षा, पर्याय, और निदर्शना आदि अलङ्कार अतिशयोक्तिसे अनुप्राणित होकर ही जीवनलाभ करते हैं—अतिशयोक्ति ही उन्हें जिला देकर चमकाती है, मनोमोहक बनाती है, उनमें चारुत्व लाती है—यह न हो तो वे कुछ भी नहीं, विना नमकका भोजन, ताररहित सितार और लावण्यहीन रूप है।

"अतिशयोक्ति" के विषयमें आचार्य "भामह" की यह शुभ सम्मति है—

"सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारस्तया विना॥"

* * *

—अर्थात् काव्यमें सर्वत्र 'वक्रोक्ति" (अतिशयोक्ति) ही का चमत्कार है, यही अर्थ को चमकाकर दिखाती है, कविको इसमें प्रयत्न करना चाहिये, सब अलङ्कारोंमें एक इसीकी करामात तो काम कर रही है।

भामहाचार्यकी इस सम्मतिके सामने सबने सिर झुकाया है, आचार्य दण्डी, आनन्दवर्धनाचार्य और श्रीमम्मट भट्टने एक स्वरसे "अतिशयोक्ति" की उपादेयता स्वीकार की है—भामहकी उपर्युक्त उक्तिको इन सब आचार्योंने उद्धृत करके इसका औचित्य स्वीकार किया है—भामहके मतकी पुष्टि की है—साहित्यके सूक्ष्म परीक्षक 'रसगङ्गाधरकार' पण्डितराज जगन्नाथ भी अतिशयोक्तिके परम प्रशंसक थे।

पुराने काव्योंमें "नेचुरल सादगी"—(जिसे कुछ लोग 'स्वभावोक्ति' भी कहते हैं) के उदाहरण कुछ कम नहीं हैं। पर उनमेंभी कुछ निराला चमत्कार है। "तेरे चेहरे पर भौंहके नीचे आंखें हैं, और मुँहके भीतर दाँत हैं"—इस क़िस्मकी सादगी कविताकी शोभा नहीं बढ़ा सकती—कविताका सिंगार या अलंकार नहीं कहला सकती, यह आंख और दांतवाली बात साफ़, सीधी और सच हो सकती है, कोई सादगीपसन्द सज्जन अपनी परिभाषामें इसे "स्वभावोक्ति" भी कह सकते हैं, पर यह साहित्य-सम्मत "स्वभावोक्ति" नहीं है।

नवीन आदर्शके अनुयायी काव्यविवेचक प्राचीन काव्योंका विवेचन करते समय इसे न भूलें, और यह भी याद रक्खें कि सब जगह "सादगी" ही आदर नहीं पाती, "कविता" की तरह और भी कुछ चीज़ें ऐसी हैं जहां "वक्रता" (बांकपन, बंकई) ही क़दर और क़ीमत पाती है! विहारी ही ने कहा है—

"गढ-रचना वरुनी अलक चितवनि भौंह कमान।
आघु बंक़ई ही ब [च] ढ़ै तरुनि तुरंगम तानि॥"

\+ + +

सतसईके विषयमें स्वर्गीय राधाकृष्णदास जी की यह सम्मति सोलह आना सत्य है—"यह सतसई भाषाकी कविताकी टकसाल है"

विहारीलालके सम्बन्धमें गोस्वामी श्रीराधाचरणजीकी इस उक्तिमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं है कि—

"यदि सूर सूर, तुलसी शशी, उडुगन केशवदास हैं तो विहारी पीयूषवर्षी मेघ है, जिसके उदय होते ही सबका प्रकाश आच्छन्न

आघु=अर्घ, मूल्य। बंकई, बंकाई= वक्रता।

हो जाता है, फिर जिसकी वृष्टिसे कवि-कोकिल कुहकने, मनोमयूर नृत्य करने और चतुर-चातक चुहकने लगते हैं। फिर बीच बीचमें जो लोकोत्तर भावोंकी विद्युत् चमकती है, वह हृदयच्छेद कर जाती है।"

भाषापर विहारीका असाधारण अधिकार था। सतसईकी भाषा ऐसी विशुद्ध और शब्दरचना इतनी मधुर है कि सूरदासको छोड़कर दूसरी जगह उसकी समता मिलनी दुर्घट है। सतसईके सम्बन्धमें व्रजभाषाके किसी पुराने पारखीकी यह सम्मति सर्वथा सत्य है—

"व्रजभाषा बरनी सबै कविवर बुद्धि-बिसाल।
सबको भूषन सतसई रची विहारीलाल॥"

व्रजभाषाके मर्मज्ञोंका विदग्ध हृदय इस कथनकी सत्यताका साक्षी है। व्रजभाषाको सिर्फ़ दूरसे सूंघकर परखनेवाले कुछ महापुरुषोंकी दिव्य दृष्टिमें "इसकी भाषा वैसी बढ़िया" चाहे न हो, पर भाषाके जौहरी भावसे भी अधिक इसकी परिष्कृत भाषापर लट्टू हैं। इस समय जब कि खड़ी बोलीके जोशीले नौजवानोंकी ब्रिगेडने व्रजभाषाके 'बिजन' का बिगुल बजाकर क़तलेआम मचा रखा है, खड़ीबोलीकी किरातपुरीके तोते तक जब इसे देखकर 'दारय' 'मारय' 'ग्रस' 'पिब', कहकर चिल्ला रहे हैं, † तब व्रज-

---

† किसी संस्कृत कविका प्राचीन पद्य है—

"*अयि कुरंगि! तपोवन-विभ्रमादुपगतासि किरातपुरीमिमाम्।*
इह न पश्यसि दारय मारय ग्रस पिबेति शुकानपि जल्पतः॥"

—अरी भोली हिरनी! तपोवनके धोखेमें तू यहाँ किरातपुरीमें कहाँ आफँसी? देखती नहीं, यहांके तोते भी शिकारी अहेरियोंके स्वरमें स्वर मिलाकर, "काटो, मारो, निगलजाओ, पीजाओ" पड़े पुकार रहे हैं!

भाषाके सौष्ठवकी दुहाई देना, नक्कारखानेमें तूतीकी आवाज़ पहुंचानेके बराबर है। व्रजभाषाके मर्मज्ञ स्वयं जानते हैं कि सतसईकी भाषा कैसी कुछ है, और जो नहीं जानते वे किसीके समझानेसे भी क्या समझेंगे ?

× × ×

गणितका ज्ञान

कहत सबै बेंदी दिये आंक दसगुनो होत।
तिय लिलार बेंदी दिये अगनित बढ़त उदोत ॥

* * *

कुटिल अलक छुटि परत मुख बढ़िगौ इतौ उदोत।
बंक विकारी देत ज्यौं दाम रुपैया होत ॥

* * *

गणितके मूल सिद्धान्तका कविताके रूपमें कितना मनोहर निदर्शन है। गणितके सिद्धान्तसे अपने मतलबकी बात कितने अच्छे ढंगसे सिद्ध की है ! बिन्दु (शून्य) देनेसे अङ्क दसगुना हो जाता है। और तिरछी बिकारी लगानेसे दामके रुपये बन जाते हैं। यह सब गणितज्ञ जानते हैं। पर इस तरह कहना कवि ही जानता है। गणित-शास्त्रमें दशगुणोत्तरा संख्या रखनेकी चाल है। इकाईको दससे गुनकर दहाई और उसे दससे गुनकर सैकड़ा (शत) इत्यादि दशगुणोत्तर संख्या बनाते हैं। पर यहाँ विहारीजीके गणितमें कुछ दूसरा ही चमत्कार है—यहाँ दशगुणित नहीं असंख्य-संख्यागुणित अङ्क (उद्योत) पैदा होजाते हैं ! यह कविकी प्रतिभाका ही काम है।

× × ×

ज्योतिषका चमत्कार

सोरठा—मङ्गल बिन्दु सुरंग, ससि मुख केसर आड़ गुरु ।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन-जगत ॥४५१॥

* * *

इस सोरठेमें विहारीने अपने ज्योतिषज्ञानका परिचय बड़े मनोहर रूपमें दिया है। ज्योतिषका सिद्धान्त है कि जब बृहस्पति और मङ्गलके साथ, चन्द्रमा एक राशिपर आता है तो देशव्यापक वृष्टि होती है—

* "गुरु-भौम-समायोगे करोत्येकार्णवां महीम्"

* * *

ज्योतिषके इस तत्त्वको कविने कितना कमनीय रूप दिया है। लौकिक पुरुषोंको जितना आनन्द इस भौतिक वृष्टि से होता है उससे कहीं अधिक विदग्ध सहृदयोंको इस कवितामृतवर्षा से होता है।

आज कल वर्षाकी अत्यन्त आवश्यकता है † लोग मुँह उठाये

---

* "यदा भौमश्च चन्द्रश्च देवतानां पुरोहितः।
एकराशिगता देवि तदा मेघा जलप्रदाः ॥"
(मेघमाला, जलयोग, ६५ श्लो०)

—जब मंगल, चन्द्र और बृहस्पति एक राशि में हों तो बादल जल बरसाते हैं—वर्षा होती है—

"एकनाडी-समायुक्तौ चन्द्रमोधरणीसुतौ ।
यदि तत्र भवेज्जीवस्तदा ए[क्ये]कार्णवा मही ॥"
("मेघमाला", जलयोग, ५९ श्लो०)

—चन्द्रमा, मंगल और बृहस्पति यदि एक 'नाड़ी' (वर्षा नाड़ी) में हों तो पृथिवीपर समुद्र फिर जाय—देशव्यापक घोरवृष्टि हो।

† जिनों दिन यह निबन्ध लिखा गया था, उस समय अवर्षणके मारे प्रजा व्याकुल थी।

चातक बने वर्षाकी बाट जोह रहे हैं। यदि कोई ज्योतिषी एक राशिमें इन ग्रहोंकी स्थिति दिखलाकर आसन्न-भाविनी वृष्टिके सुयोगका सुसमाचार सुनावे तो भी कविताके भूखे भावुक भक्तों को इतना हर्ष न हो, जितना कविताके इस योगसे हो सकता है !

माथेपर लगी लाल बेंदी, मंगल है। मुख, चन्द्रमा है। उसपर केसरका (पीला) तिलक बृहस्पति है। इन सबने एक नारी— (वर्षा नाड़ी)—स्त्रीराशि—में इकट्ठे होकर नेत्ररूप संसारको रस-मय (अनुरागमय, जलमय) कर दिया—

मङ्गलका रंग लाल होता है, इसीलिये उसका 'अङ्गारक' और 'लोहिताङ्ग' नाम है। सो यहां बेंदी है। बृहस्पतिका वर्ण पीला है वह यहां केसरका तिलक है। मुखकी चन्द्रता प्रसिद्ध ही है। 'नारी' और 'रस' शब्द श्लिष्ट हैं (रस—जल और शृङ्गार, "रसो जलं रसो हर्षो रसः शृङ्गार उच्यते)" ॥

यह सोरठा, श्लेषानुप्राणित समस्त-वस्तु-विषय-सावयव रूपकका और कविके ज्योतिष-ज्ञानका उत्कृष्ट उदाहरण है।*

---

*अकेले बृहस्पतिके चलनेपर—एकराशिसे दूसरी राशिमें जानेपर—भी अतिवृष्टि होती है। जैसा लिखा है—

"वारिपूर्णां महीं कृत्वा पश्चात्संचरते गुरुः।" (शी० बो०)

"सर्वंसहां महीमिव विधाय तां बाष्पवारिभिः पूर्णाम्।
भवनान्तरमयमधुना संक्रान्तस्ते गुरुः प्रेमा ॥"

(आ० स० ६४४)

* * *

—"आर्या" की सखी शठ नायक से शिकायत कर रही है कि उस "सर्वंसहा"—तुम्हारे सब अपराधोंको सहनेवाली, (पक्षमें पृथिवीका नाम)

महाकवि ग़ालिबने भी (नीचेके शेरमें) ज्योतिषके फलादेशकी परीक्षा आशिक़ोंकी क़िस्मतपर करनी चाही है, और मौलाना हालीने इसे कविकी प्रतिभाका उत्तम उदाहरण बतलाकर कहा है कि आशिक़ अपनी धुनमें इतना मस्त (तल्लीन) है कि उसे हर जगह अपने ही मतलब की सूझती है, ज्योतिषीने जो साल (वर्ष) को अच्छा बतलाया है, उसका असर संसारकी अन्य घटनाओंपर क्या होगा, इससे उसे कुछ मतलब ही नहीं, वह देखना चाहता है कि देखें आशिक़ इस साल बुतोंसे क्या फ़ैज़ (लाभ) पाते हैं !

शेर—देखिये पाते हैं उश्शाक़ बुतों से क्या फ़ैज़,
इक बिरहमनने कहा है कि यह साल अच्छा है।
(ग़ालिब)

× × ×

सनि कज्जल चख झख लगनि उपज्यो सुदिन सनेह।
क्यों न नृपति ह्वै भोगवै लहि सुदेस सब देह ॥२२८॥

\+ + +

ज्योतिषका सिद्धान्त है कि जन्म-समय में यदि शनि, गुरुकी राशि—अर्थात् धन या मीनमें, और स्वराशि—मकर या कुम्भमें,

---

—को वाष्पवारि—आंसुओं—से परिपूर्ण करके तुम्हारा यह "गुरु" भारी, बढ़ा हुआ (पक्षमें बृहस्पति) 'प्रेम' अब 'भवनान्तर'=दूसरे घर—दूसरी नायिका-पर (पक्षमें दूसरी राशि पर) जारहा है ! तुम्हारा हरजाईपन उसे रुलारहा है।

इसी 'आर्या'के आधारपर इस सोरठेकी रचना हुई प्रतीत होती है, पर दोहा बढ़गया है, आर्याके "श्लेष" से दोहेका "रूपक" अधिक चमत्कृत है।

तथा उच्चराशि—तुलामें, हो तो इस सुलग्नमें जन्म लेनेवाला मनुष्य 'नरपति' होता है। जैसा कि लिखा है—

* "गुरुस्वर्क्षोच्चस्थे नरपतिः।"

कविके स्नेह-बालककी जन्म-कुण्डलीमें देखिए यह योग कैसा अच्छा पड़ा है—

आंखका काजल-शनि है। चख-चक्षु-मीन है,—(शनिका रंग नीला है, और मीन, नेत्रका उपमान है, यथा मीनाक्षी)— ऐसे सुयोगमें जिसका जन्म हुआ है वह स्नेह-बालक, सब देहरूप देशपर अधिकार जमाकर—राजा बनकर—क्यों भोग न करेगा? अवश्य करेगा। ज्योतिषकी बात कभी झूठ हो सकती है! ज्योतिषके फलादेशमें किसीको सन्देह भी हो सकता है,पर विहारीके इस ज्योतिषमें सन्देहका अवसर नहीं है।

× × ×

---

* "तुला-कोदण्ड-मीनस्थो लग्नस्थोपि शनैश्चरः।
करोति नृपतेर्जन्म वंशे च नृपतेर्भवेत्॥"

(मानसागरी पद्धति, राजयोगाध्याय, १३ श्लो०)

—तुला, धन और मीनका शनि यदि लग्नमें पड़ा हो तो इस योगमें जन्म लेनेवाला राजा होता है।

"स्वन्तः प्रत्ययितो नरेन्द्रभवने सत्पुत्रजायाधनो
जीवक्षेत्रगतेऽर्कजे पुरबलग्रामाग्रनेताथवा॥"

(बृहज्जातक, राशिशीलाध्याय)

—जीवक्षेत्र=धन और मीनका शनि हो तो (इस योग में) उत्पन्न बालक, शुभपरिणाम वाला, नरेन्द्र भवनमें विश्वसनीय, अच्छे पुत्र, स्त्री और धनसे युक्त, पुर, सेना, ग्रामका मुखिया—लीडर होता है।

तिय-तिथि तरनि-किसोर वय पुन्न (पुण्य) काल सम दौन।
काहू पुन्यनि पाइयत बैस-सन्धि-संक्रौन ॥ १८ ॥ †

* * *

इस दोहेमें संक्रान्तिके पुण्यप्राप्य पर्वका कितना अच्छा रूपक है। इस रूपकके 'ब्रह्मकुण्ड' में रसिक भक्तोंके मन अनगिनत गोते लगा रहे हैं।

× × ×

पत्रा ही तिथि पाइयतु वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्यो ई रहै आनन-ओप उजास ॥४६॥‡

* * *

गनती गनबे तैं रहे छुत हू अछुत समान।
अलि अब ये तिथि औम लौं परे रहौ तन प्रान ॥४३१॥‡

* * *

इन दोहोंमें "तिथिपत्र" पर कविताकी दृष्टि डाली गयी है। तिथिपत्रके भाग्य खुल गये हैं!

× × ×

वैद्यक-विज्ञान

सोरठा—मैं लखि नारी ज्ञान, करि राख्यो निरधार यह।
वह ई रोग निदान, वहै बैद औषध वहै ॥३६५॥

* * *

कविताके नलकेमें वैद्यक-विज्ञानका 'आसव' खींचकर इस सोरठेकी शीशीमें भर दिया है! वैद्यकमें और है क्या! नाड़ीज्ञान,

---

† इस अद्भुत दोहेकी विशेष विस्तृत व्याख्या सञ्जीवन भाष्यमें (७५ पृष्ठ से ८० पृष्ठ तक)पढ़िये। ‡इन दोहोंका अर्थ पहले लिखा जा चुका है।

रोगनिदान, औषध और वैद्य ! मूल बातें यही तीन चार हैं, बाक़ी इसकी व्याख्या है।

नारी—(नाड़ी)—ज्ञानसे क्या अच्छा रोगका निदान किया है !

"वहई रोग निदान, वहै वैद्य औषध वहै"

वही रोगका निदान (आदि कारण) वही वैद्य—चिकित्सक और वही औषध है।

× × ×

"यह तर्ज़ अहसान करनेका तुम्हींको ज़ेब देता है,
मरज़में मुब्तला करके मरीज़ोंको दवा देना।"

(अकबर)

* * *

"मुहब्बत में नहीं है फ़र्क़ जीने और मरने का।
उसीको देखकर जीते हैं जिस काफ़िर पै दम निकले॥"

(ग़ालिब)

\+ \+ \+

यह विनसत नग राखि कै जगत बड़ौ जस लेहु।
जरी विषम-जुर ज्याइये आय सुदर्शन देहु॥ ३००॥

* * *

इस नष्ट होतेहुए नग—रत्न-(कामिनी-रत्न) को बचाकर जगतमें बड़ा यश प्राप्त करो, विषम ज्वर-(काम ज्वरमें)में जलती हुईको 'सुदर्शन' देकर जिलाओ।

वियोग-व्याधिने विषमज्वरका रूप धारण किया है, उसकी निवृत्तिके लिये सुदर्शन (सुन्दर दर्शन) अपेक्षित है।

'विषमज्वर' और 'सुदर्शन' पद श्लिष्ट हैं।

वैद्यकमें विषमज्वरपर "सुदर्शन" चूर्ण एक प्रसिद्ध योग है। यथा—

"एतत्सुदर्शनं नाम चूर्णं दोषत्रयापहम्।
ज्वरांश्च निखिलान् हन्यान्नात्र कार्या विचारणा॥
पृथग्द्वन्द्वागन्तुजांश्च धातुस्थान् विषमज्वरान्।
सन्निपातोद्भवाँश्चापि मानसानपि नाशयेत्॥"

(शार्ङ्गधरसंहिता)

\+ \+ \+

इतिहास-पुराण-परिचय

ये दोहे कविके इतिहास-परिचयमें पुष्ट प्रमाण हैं—

बिरह-बिथा-जल-परस बिन बसियत मो हिय-ताल।
कछु जानत जलथंभ विधि दुरजोधन लौं लाल॥३६८॥

* * *

दुर्योधनको 'जलस्तम्भनविद्या' सिद्ध थी। उसीके प्रभावसे वह युद्धके अन्तमें कुछ समय तक तालावमें छिपे बैठे रहे थे।

यह ऐतिहासिक उपमा कवितामें आकर कितनी चमत्कृत हो गयी है। कोई विरहिणी कहती है—

—हे लाल! दुर्योधनके समान तुमभी कुछ जलस्तम्भविधि जानते हो, तभी तो, विरह-व्यथा-जलके स्पर्शसे बचे रहकर मेरे हृदय-सरोवरमें (आरामसे) बैठे हो? हृदयमें रहते हो पर

उसमें भरे विरह-व्यथाके जलका—विरह व्यथाका—तुम्हें स्पर्श भी नहीं होता ! बड़े बेपीर हो । (चिकने घड़े हो !)*

\+ + +

पिय-बिछुरन को दुसह दुख हरखि जात प्यौसाल ।
दुरयोधन लौं देखियत तजत प्रान इहि बाल ॥३५॥‡

\+ + +

रह्यौ ऐंचि अन्त न लह्यौ अवधि-दुसासन बीर ।
आली बाढ़त विरह ज्यौं पांचाली को चीर ॥१२५॥‡

× × × ×

बसि सकोच-दस बदन बस सांच दिखावति बाल ।
सिय लौं सोधति तिय तनहि लगनि-अगनिकी ज्वाल ॥२६२॥

\+ + +

---

* इसी भावकी एक संस्कृत कविकी यह सूक्ति है—

"अनलस्तम्भनविद्यां, सुभग ! भवान्नियतमेव जानाति ।
मन्मथशराग्नितप्ते, हृदि मे कथमन्यथा वसति ॥"

❀ ❀ ❀

—अर्थात् हे सुभग ! तुम अवश्य ही "अग्निस्तम्भन-विद्या" जानते हो, अन्यथा कामबाणाग्निसे सन्तप्त मेरे हृदयमें कैसे रहते हो !

बहुत कुछ भावसाम्य होनेपर भी विहारीकी उक्ति इससे कहीं चमत्कृत है । दुर्योधनकी उपमा, हिय-ताल का रूपक, बहुतही अनुरूप, और सुन्दर है । "बिरह-बिथा-जल-परस बिन" वाक्यने भावमें जान डाल दी है। यदि तुम्हें मेरे हृदयमें भरे व्यथा-जलका कुछ भी स्पर्श होता तो इस प्रकार कभी उपेक्षा न करते ! श्लोकमें यह बात नहीं है। विदग्धहृदयमेवात्र प्रमाणम् !

‡ इन दोनों दोहोंकी व्याख्या पहले आचुकी है ।

रामायणकी प्रसिद्ध घटना 'अग्निपरीक्षा'का उल्लेख इस पिछले दोहेमें कितनी उत्तमतासे किया है !

विवश होकर सीताजीको रावणके यहां रहना पड़ा था। वहाँ से छुटकारा पानेपर उन्होंने अपने सत्यकी परीक्षा अग्निमें प्रवेश करके दी थी। यहां 'संकोच' (लज्जा-संचारी) प्रियदर्शनमें बाधक होनेसे रावण है, 'लगन'—दृढ़ प्रेम, अग्नि है। 'सोधना'-उत्कण्ठापूर्वक स्मरण करना--(सोधति पद श्लिष्ट है--देह शुद्ध करना और स्मरण करना)—तनुशोधन है।

अर्थात् उसे संकोचने ही अबतक तुमसे नहीं मिलने दिया, संकोच ही मिलनेमें बाधक था, प्रेमका अभाव नहीं, उसका तुममें अविचल सच्चा प्रेम है। इसकी परीक्षा वह लगन की अग्निमें बैठकर दे रही है। तुम्हारा स्मरण कर रही है। सन्देह छोड़कर उसे अङ्गीकार करो।

\+ + +

नीतिनिपुणता

दुसह दुराज प्रजानिकौं क्यौं न बढ़ै दुख दंद।
अधिक अँधेरौ जग करत मिलि मावस रवि चंद॥६०५॥

❀ ❀ ❀

जब 'दुअमली' होती है—प्रजापर दुहरे शासकोंका शासन होता है—तो प्रजाके दुःख बेतरह बढ़ जाते हैं। संसारके इतिहासमें इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। दो फ़क़ीर एक गुदड़ीमें गुज़ारा कर लेते हैं, पर दो राजा एक 'रजाई' में नहीं रह सकते, यह एक प्रसिद्ध कहावत है। जब कभी कहीं दुर्भाग्यवश ऐसा हुआ है, प्रजापर विपत्तिके बादल छा गये हैं—प्रजापीड़न पराकाष्ठाको पहुंच गया है।

विहारीने यह बात एक ऐसे दृष्टान्तसे समझायी है जिसे सब कोई सदा देखते हैं पर नहीं समझते कि क्या बात है। अमावसके दिन अन्धकारके आधिक्यका क्या कारण है ? यही दुअमली। उस दिन आकाशके दो शासक—सूर्य और चन्द्र—एक राशिमें इकट्ठे होते हैं। जिससे संसारमें आदर्श अन्धकार छा जाता है !

सवैया-एक रजाई समै प्रभु द्वै सु तमोगुनको बहु भाँति बढ़ावत
होत महादुखदुंद प्रजानको और सबै सुभ काज थकावत।
कृष्ण कहै दिननाथ निसाकर एकही मंडलमें जब आवत,
देखौ प्रतच्छ अमावसको अँधियारो कितौ जगमें सरसावत॥

(कृष्णकवि)

× × ×

कहैं यहै श्रुति सुमृति सो [यौं] यहै [कहैं] सयाने लोग।
तीन दबावत निसक हि पातक राजा रोग॥६०८॥

* * *

श्रुति स्मृति और सयाने—नीतिनिपुण—लोगोंकी नीति, सब इसमें एक स्वरसे सहमत हैं कि राजा, पातक और रोग, ये तीन 'निसक'—निःशक्त—निर्बलको ही दबाते हैं।

'ज्ञानी' लोग सब कुछ करते हुए भी "पद्मपत्रमिवाम्भसा" निर्लिप्त रहते हैं ! ज्ञानाग्निकी प्रचण्ड ज्वाला, उनके पातकपुञ्जको तृणसमूहकी तरह भस्म कर डालती है। जिन पातकोंका प्रायश्चित्त ज्ञानहीन मनुष्यके लिये प्राणान्त बतलाया है, प्रचण्ड ज्ञानी, (प्रबल शासक जातिके समान) उससे एकदम बरी समझे गये हैं। मतलब यह कि ज्ञानबलहीनको पातक दबाते हैं, देहबलहीनको रोग दबाते हैं, और पराक्रमहीन—शासनबलरहित—जातिको राजा दबाते हैं। संसारका इतिहास इसमें साक्षी है—

—"सर्वो बलवतां धर्मः, सर्वं बलवतां स्वकम् ।
सर्वं बलवतां पथ्यं, सर्वं बलवतां शुचि ॥" (महाभारत)

\+ + +

बसै बुराई जासु तन ताही कौ सनमान।
भलौ भलौ कहि[रि]छोड़िये खोटे ग्रह जप दान॥६०७॥

❀ ❀ ❀

संसारमें सीधे सच्चे और भले आदमीका गुज़ारा नहीं, उसे कोई पूछता ही नहीं। छली, कपटी और प्रपञ्चीकी सब जगह पूजा होती है, परपीड़नमें जो जितना ही प्रवीण है, उतना ही उसका आदर होता है, जिसने छलबलसे दूसरोंको दबाकर अपनी धाक बिठा ली, सिक्का जमालिया, उसीका लोहा सब मानते हैं। सीधे बेचारे, एक कोनेमें पड़े सड़ते रहते हैं, उनकी ओर कोई आँख उठाकर भी नहीं देखता। जो खोटे ग्रह हैं--जिनसे किसीको हानि पहुंच सकती है—उन्हींके नामपर जप और दान किया जाता है। भलेको भला कहकर ही छोड़ देते हैं। अजी यह पो स्वभावसे ही साधु हैं, माधोके लेनेमें न ऊधोके देनेमें !

\+ + +

दार्शनिक तत्त्व

सोरठा—

"मैं समुझ्यौ निरधार, यह जग काँचो काँच सौ।
एकै रूप अपार प्रतिबिम्बित लखियत जहाँ" ॥

'अध्यासवाद' और 'विवर्त्तवाद' के समान "प्रतिबिम्बवाद" वेदान्तशास्त्रका एक प्रसिद्ध वाद है। इस सोरठेमें कविने वेदान्तके "प्रतिबिम्बवाद" को कविताके सांचेमें ढालकर कितना कमनीय रूप देदिया है। संसारकी असारता दिखानेके लिये काँचका

दृष्टान्त यहां कैसा चमक रहा है, इसमें संसारकी असारता किस प्रकार पड़ी झलक रही है !

इस दृश्य प्रपञ्चके वेदान्तमतानुसार ये पांच अंश हैं—

"अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् ।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ॥"
(पञ्चदशी)

* * *

अर्थात् अस्ति, भाति, प्रिय, रूप और नाम, ये पांच अंश हैं। इनमें पहले तीन—अस्ति, भाति और प्रिय—अंश, ब्रह्मका रूप है। और पिछले दो—नाम और रूप,—जगत्का स्वरूप है। प्रत्येक पदार्थमें सत्ता, प्रकाश और प्रेमास्पदता, ब्रह्मका रूप है, जो सत्य है। घट पटादि नाम और आकार, संसारका रूप है और यही मिथ्या है।

यह जगत् काँचके शीशेकी तरह कच्चा—क्षणभंगुर—है। ज्ञानकी जरा ठेस लगते ही चकनाचूर हो जाता है। प्रतिबिम्बग्राही होनेसे इसमें वही एक ब्रह्म प्रतिबिम्बित हुआ दीख रहा है, यह सब उसीका विराट् रूप है, जो देख रहे हो। नाना-भावकी पार्थक्यप्रतीतिका कारण नाम, रूप, मिथ्या है।

"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" "नेह नानास्ति किञ्चन" "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते"।

"अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा, रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च" ॥

इत्यादि, शतशः श्रुतियां इस तत्त्वका प्रतिपादन डंकेकी चोट कर रही हैं।

× × ×

अज्यौं तरथौना ही रह्यौ श्रुति सेवत इक अंग ।
नाकबास बेसर लह्यौ बसि मुक्तनिके संग ॥६४०॥

* * *

संसार-सागरसे पार होनेके लिये जीवन्मुक्त पुरुषोंकी संगति भी एक मुख्य उपाय है । यही बात इस दोहेमें एक मनोहर श्लेषमें लपेटकर निराले ढंगसे कही गयी है । 'तरौना' कानके एक आभूषणका नाम है, जिसे तरकी या ढेढ़ी भी कहते हैं । 'बेसर' नाकका प्रसिद्ध भूषण (नथ) है । इस दोहेमें कविने श्लेषके बलसे बड़ा अद्भुत चमत्कार दिखलाया है । कहते हैं कि श्रुति-(कान) रूप एक अंगका सेवन करनेवाला तरौना, अबतक "तर्यौना" ही है" और 'मुक्तनिके संग बसि' मोतियोंके साथ रहकर 'बेसर' ने 'नाकबास' प्राप्त कर लिया--नाकमें स्थान पा लिया । इसका दूसरा 'प्रतीयमान' अर्थ है--कोई किसी मुमुक्षुसे कह रहा है कि मुक्ति चाहते हो तो जीवन्मुक्त महात्माओंकी संगति करो, श्रुतिसेवा भी एक संसार-तरणोपाय है सही, किन्तु इससे शीघ्र नहीं तरोगे । देखो यह कानका तरौना श्रुति रूप एक अंगका कबसे सेवन कर रहा है, पर अब तक 'तर्यौ नाही रह्यो'—तरा नहीं, तरौना ही बना है । और बेसरने "मुक्तनिके संग वसि"—मुक्तोंकी संगति पाकर 'नाक-बास लह्यौ'—वैकुण्ठ—सालोक्य-मुक्ति—प्राप्त कर ली ।

अथवा कोई किसी केवल-श्रुति-सेवी मुमुक्षुसे कह रहा है कि एक अङ्ग श्रुतिका सेवन करते हुए तुम अब तक नहीं तरे—विचार-तरंगोंमें ग़ोते खा रहे हो, और वह देखो अमुक व्यक्तिने मुक्तोंकी सत्संगतिसे 'बेसर' अनुपम—नाकवास वैकुण्ठप्राप्ति—सायुज्यमुक्ति—प्राप्त कर ली ।

दोहेके 'तर-यौना' 'श्रुति' 'अंग' 'नाक' 'वेसर' 'मुक्तनि' ये सब पद श्लिष्ट हैं।

संगतिकी महिमासे ग्रन्थ भरे पड़े हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी भगवद्भक्तोंको सत्संगतिकी महिमा बड़े समारोहसे समझायी है। पर इस चमत्कारजनक प्रकारसे किसीने कहा हो, सो हमने नहीं सुना। विहारी अपने कविताप्रेमियोंकी नब्ज़ पहचानते हैं, वह जानते हैं कि "अपने बावले" को कैसे समझाया जाता है— रसलोलुप कविताप्रेमी सत्संगतिकी महिमा किस रूपमें सुनना पसन्द करेंगे। रातदिन जो चीज़ें प्रेमियोंकी नज़रमें समायी रहती हैं उन्हींकी ओर इशारा करके ही उन्हें यह तत्त्व समझाना चाहिए। कविके लिये यही उचित है। नीरस उपदेशपर रसिक-रोगी कब कान देता है—सुनता भी नहीं, आचरण करना तो दूर रहा।

कवि जब विषयासक्त प्रेमीको विषयासक्तिका दुष्परिणाम समझाना चाहता है तो इसकेलिये किसी पतित भक्त या योगभ्रष्ट ज्ञानीका दृष्टान्त देनेको वह इतिहासके पन्ने पलटने नहीं बैठता, वह उस विषयीकी दृष्टिमें बसी हुई चीज़को सामने दिखाकर झट पट बोल उठता है कि देखो, विषयासक्तिकी दुरन्तता !

"स्नेहं परित्यज्य निपीय धूमं
कान्ताकचा मोक्षपथं प्रपन्नाः ।
नितम्बसङ्गात्पुनरेव बद्धा
अहो दुरन्ता विषयेषु सक्तिः ॥" *

---

* स्नेह (तेल और ममता) दूर करके और 'धूम'—(केशसुगन्धित करनेकी धूप—और धूमपा मुनियों का धूम) पान करके कामिनीके केशोंने मुक्ति पायी थी—(सुखानेको खोले गये थे—और मुक्तिमार्गमें प्रवृत्त हुए थे) कि नितम्बके सङ्गसे—नितम्ब तक पहुंचकर और विषयासक्त होकर फिर बन्धनमें आ गये—बँध गये, और जन्ममरणके बन्धनमें पड़गये।

जोगजुक्ति सिखई सबै मनो महामुनि मैन।
चाहत पिय अद्वैतता कानन सेवत नैन ॥४५७॥

* * *

इस दोहेमें योगदत्त काननसेवी ब्रह्माद्वैताभिलाषी वानप्रस्थकी समाधि (प्रतीति) है।

—जिसप्रकार किसी सद्गुरु महामुनिसे योगकी दीक्षा पाकर कोई युञ्जान पुरुष प्रिय-परमप्रेमास्पद-ब्रह्मसे अद्वैत—अभेद—चाहता हुआ, कानन-वनका सेवन करता है, इसी प्रकार कामिनीके नयन महामुनि मदनसे 'योगयुक्ति'—प्रियसंगमकी युक्ति—सीखकर कानोंका सेवन कर रहे हैं।

योग, अद्वैतता, कानन, पद श्लिष्ट हैं। "योगः संहननोपायध्यानसंगतियुक्तिषु" के अनुसार मुनिके पक्षमें योगका अर्थ ध्यान है। नेत्रके पक्षमें संगति।

\+ \+ \+

बुधि अनुमान प्रमान श्रुति किये नीठि ठहराइ।
सूछम कटि पर-ब्रह्म लौं अलख लखी नहीं जाइ ॥६८०॥

* * *

इस दोहेमें कविने परम सूक्ष्म कटिको अलख परब्रह्मकी उपमा देकर कौतूहलजनक कमाल किया है। पूर्वार्धमें ब्रह्मदर्शनके उपायोंका निर्देश करनेवाली एक सुप्रसिद्ध श्रुतिको किस मार्मिकतासे निराले ढंगपर व्यक्त किया है। सुनिये, वह श्रुति यह है—
"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"

* * *

—यह भगवती मैत्रेयीके प्रति याज्ञवल्क्य महाराजका उपदेश है कि, पहले—"अयमात्मा ब्रह्म" "तत्त्वमसि श्वेतकेतो" "नित्यं

ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"—इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे आत्माका श्रवण करे—आत्मा कैसा है, यह सुने—फिर 'आत्मा ऐसा हो सकता है या नहीं', इसका अनुमानसे विचार करे। तदनन्तर उस निर्णीत स्वरूपका निरन्तर ध्यान करे। यह संक्षेपमें ब्रह्मसाक्षात्कारका प्रकार है। उक्त श्रुतिकी ही व्याख्या इस श्लोकमें की गयी है—

"श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय इति दर्शनहेतवः॥"

* * *

श्रुतियोंके द्वारा ब्रह्मके सम्बन्धमें सुना, अनुमानके द्वारा उसके सच्चिदानन्द स्वरूपको जाना, निरन्तर ध्यानद्वारा किसी प्रकार इस तत्त्वको बुद्धिमें ठहराया। फिरभी ब्रह्म ऐसा अलक्ष्य-(अलख) है कि लखा नहीं जाता—उसका साक्षात्कार नहीं होता।

'कटि' (कामिनीकी कमर) भी कुछ ऐसी ही सूक्ष्म और अलख है। श्रुति-शब्दप्रमाण-द्वारा सुनते हैं कि कमर है,—"सनम! सुनते हैं तेरे भी कमर है"—फिर अनुमान करते हैं कि यदि कमर नहीं है,तो यह शरीर-प्रपञ्च—स्तन-शैल,मुख-चन्द्र, आदि किसके सहारे ठहरे हुए हैं? (ब्रह्म नहीं है तो यह विश्व-प्रपञ्च,—हिमालयादि पर्वत, चन्द्रादि ग्रहमण्डल—किसमें स्थित हैं-कल्पित हैं)—इसलिए कटि-ब्रह्म अवश्य है। इस तत्त्वको—कटि-ब्रह्मके सत्तास्वरूपको—निरन्तर ध्यानद्वारा किसी प्रकार बुद्धिमें ठहराते हैं। फिर भी "अलख लखी नहीं जाय"—उसका साक्षात्कार नहीं होता, नज़र नहीं आती, दिखलायी नहीं देती—"कहां है, किस तरफ़को है, किधर है"—यही कहते रह जाते हैं!

"सूछम कटि परब्रह्म सी अलख लखी नहीं जाय।"

पूर्ण दार्शनिक 'पूर्णोपमा' है ! परब्रह्म उपमान। कटि उप-मेय । लखी नहीं जाय, साधारणधर्म। 'सी' या 'लौं' वाचक। देखा वाचक ! कैसी मनोहर पूर्णोपमा है !

"कोऊ 'सुकवि' कहलावनहारे, 'आचार्य' या दोहामेंतें 'कटि' को काटकर 'गति' बनावतु हैं, अरु कटिवर्णन करनेहारे वेचारे लल्लूलालजीपर "इसमें लल्लूलाल कटिका वर्णन ठूंसते हैं" † कहकर कटाक्ष करतु हैं !"—

पर हमारी मन्दबुद्धिमें 'सुकवि'जीका यह आक्षेप नितान्त निस्सार है। 'कटि' की जगह 'गति' रखनेमें दोहेका चमत्कार शशशृङ्ग हो जाता है। कुछ भी कवित्व नहीं रह जाता, कोरा वेदान्तवाद रह जाता है।

+ + +

हिन्दी संसारके सुप्रसिद्ध प्रतिभाशाली वश्यवाक् वर्तमान कविराज श्रीयुत पण्डित नाथूराम शंकरजी शर्मा 'शंकर' ने भी दार्शनिक कविताके रूपमें अनोखे ढंगपर "कमरकी अकथ कहानी" कही है, कटिका चमत्कृत वर्णन इस प्रकार किया है—

घनाक्षरी—"पासके गये पै एक वूंद हू न हाथ लगै
दूरसों दिखात मृगतृष्णिकामें पानी है,
"शंकर" प्रमाण-सिद्ध रंग को न संग पर
जान पड़े अम्बरमें नीलिमा समानी है।
भावमें अभाव है अभावमें धौं भाव भर्यौ
कौन कहै ठीक बात काहूने न जानी है,
जैसे इन दोउनमें दुविधा न दूर होत
तैसे तेरी कमरकी अकथ कहानी है ॥"

† विहारी-विहारमें, इस दोहे पर "सुकवि" व्यासजी।

जनाब "अकबर" ने भी अपने ख़ास रंगमें कमरकी कायनात बयान करनेमें कमाल किया है, क्या ख़ूब फ़र्माया है—

"कहीं देखा न हस्ती वो अदमका इश्तराक ऐसा,
जहांमें मिस्ल रखती ही नहीं उनकी 'कमर' अपना।"*

"जो पूछा नेस्ती हस्ती में क्योंकर फ़र्क़ ज़ाहिर हो
'कमर' ने यारकी ईमा किया मैं हद्दे-फ़ासिल हूं।"*

\+ \+ \+

पण्डितराज जगन्नाथने वेदान्तियोंके 'जगन्मिथ्यात्ववाद' और माध्यमिकोंके 'शून्यवाद'को लक्ष्यमें रखकर कटिवर्णनमें अद्भुत दार्शनिक चमत्कार दिखलाया है—

१—"जगन्मिथ्याभूतं मम निगदतां वेदवचसा-
मभिप्रायो नाद्यावधि हृदयमध्याविशदयम्।
इदानीं विश्वेषां जनकमुदरं ते विमृशतो
विसन्देहं चेतोऽजनि गरुडकेतोः प्रियतमे!"

\+ \+ \+

२—"अनल्पैर्वादीन्द्रैरगणित-महायुक्ति-निवहै-
र्निरस्ता विस्तारं क्वचिदकलयन्ती तनुमपि।

* हस्ती=सत्ता, भाव। अदम=नेस्ती=असत्ता, अभाव। इश्तराक=मेल। ईमा=इशारा। हद्दे-फ़ासिल=सीमा-निर्णायक चिह्न।

—"दीदे-कमरे-यार की मुश्ताक़ हैं आँखें,
हस्ती में तमाशाए-अदम मद्दे-नज़र है।"
(आतिश)

असत्ख्याति-व्याख्याधिकचतुरिमाख्यातमहिमा-
ऽवलग्ने लग्नेयं सुगतमतसिद्धान्त-सरणिः ॥" *

इसी प्रकार श्रीहर्षने भी दमयन्तीके विषयमें खूब कहा है—

"सदसत्संशयगोचरोदरी"

"ईशाणिमैश्वर्य-विवर्तमध्ये !" (नैषध)

---

* पण्डितराज 'लक्ष्मीलहरी' में लक्ष्मीजीके 'उदर' और अवलग्न—(कमर) के वर्णनमें कहते हैं कि—

१—संसार को 'असत्' बतलाने वाले—जगत्को मिथ्या कहनेवाले—वेदान्तवाक्योंका यथार्थ अभिप्राय मेरे हृदयमें अबतक न समाया था—ठीक समझमें न आया था—कि यह प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाला जगत् किस कारण मिथ्या है ? पर अब तुम्हारे (लक्ष्मीजीके) उदरका ध्यान करके, यह विचार करके—कि यह सब विश्वप्रपञ्च लक्ष्मीजीके उस 'असत्' उदर से उत्पन्न हुआ है, सब सन्देह दूर होगया । वास्तवमें 'जगत् मिथ्या है' वेदान्तवाक्योंका यह तत्त्व अच्छी तरह हृदयङ्गम होगया । जगत् असत् (मिथ्या) है क्योंकि यह लक्ष्मी (जगज्जननी) के 'असत्' उदरसे उत्पन्न हुआ है, जिसका 'कारण' मिथ्या है वह स्वयं भी मिथ्या है । लक्ष्मीजीका उदर 'असत्' है—और इसलिये उससे उत्पन्न संसार भी असत् (मिथ्या) है । (कविसमयानुसार, उदरकी सत्ता काल्पनिक है) ।

कमरके वर्णनमें कहते हैं कि—

२—माध्यमिकों (बौद्ध विशेषों) के 'शून्यवाद' को बड़े बड़े—शंकराचार्य, वाचस्पति मिश्र, श्रीहर्ष और उदयनाचार्य जैसे—अनेक वावदूक विद्वानोंके मारे संसार में जब कहीं ज़रा भी ठहरनेको ठौर न मिली—तो वह (शून्यवाद) सब ओरसे सिमटकर तुम्हारी कमर में आकर छिप गया । असत्ख्याति अपनी जान बचानेको लक्ष्मीजीकी कमरमें आ छिपी—अब उसे कोई पा नहीं सकता । जब "आश्रय"ही का कहीं पता नहीं नज़रसे गायब है तो 'आश्रित'का

कटि-वर्णनमें 'शंभु' कविका यह सवैया भी बहुत साफ़ और अपने ढंगमें निराला है, इसका चौथा चरण तो अत्यन्त चमत्कृत है:—

"सिंह भ्रमै बन भांवरी देत औ सांवरी भृंगी भई करि खेदै,
'सम्भु' भनें चसमा चख दैकै बिरंचि रची बिसराइकै वेदै।
राधिका-लंककी संक करौ जनि शंकर हू नहिं जानत भेदै,
जो मन है परमानु समान निगोड़ी तऊ तिहिं मे करै छेदै" ॥

× × ×

जगत जनायौ जिहिं सकल सो हरि जान्यौ नाहिं।
ज्यौं आंखिनि सब [जग] देखियै आंखि न देखी जाहिं ॥६७०॥

❀ ❀ ❀

यह सब जगत् (जिसकी सत्तासे स्थित और) जिसके प्रकाशसे प्रतिभासित हो रहा है—अपनी मायासे रचकर जो इसे दिखा रहा है—वह स्वयं 'अज्ञेय' है, नहीं जाना जांता, नहीं दीख पड़ता। आंखसे सब कुछ देखा जाता है, सबको आंखसे देखते हैं, पर स्वयं आंख (अपने आपको) नहीं दीखती। आंखको आंखसे नहीं देख पाते।

कितनी पतेकी बात कही है, कैसा सुन्दर दृष्टान्त है। यह जितना सहज और सरल है, उतनाही निगूढ दार्शनिक रहस्य इसमें छिपा है! इसकी व्याख्यामें बहुत कुछ कहा जा सकता है।

—खोज कैसे मिले—'आधार' ही शशशृङ्ग है तो उसके 'आधेय' का पता कैसे चले! शून्यमें शून्य मिल गया, असत्‌में असत् समा गया। माध्यमिकोंकी 'असत्‌ख्याति' (शून्यवाद) और लक्ष्मीजीकी 'कमर' दोनों ही-'असत्' हैं!

भक्तिमार्ग

विहारीलाल जिस प्रकार ज्ञानमार्गगामी थे इसी प्रकार भक्ति-पन्थके भी प्रवीण पथिक थे। इसके भी दो चार दोहे सुन लीजिये, कैसे नावकके तीर हैं:—

पतवारी माला पकरि और न कछू उपाव।
तरु [रि] संसार पयोधिकौं हरि नामै करि नाव ॥ ६७२ ॥

कैसा अच्छा रूपक बांधा है, और कितनी सच्ची बात कही है। हरिनामको नाव बना और जपमालाकी पतवार पकड़, बस इस संसार-समुद्रको तर जा, और कोई उपाय पार उतरनेका नहीं है।

तौ लगि या मन-सदन में हरि आवहिं किहिं बाट।
निपट बिकट जब [जौ]लगि जुटे खुटहिं न कपट-कपाट ॥६७६॥

कितनी मनोहर रचना है, कर्णकटु 'टकार'की वहार इस जगह कितनी श्रुतिमधुर मालूम दे रही है। कपटी 'भक्त'को क्या फटकार बतलायी है।

जबतक कपटके विकट जुटे किवाड़ खुलते नहीं, तब तक इस मनरूप मन्दिरमें हरि किस रास्तेसे आवें! ज़रा सोचो तो, लोहेके फाटक से मकानको मज़बूतीके साथ बन्द कर रक्खा है और चाहते हो कि कोई भला आदमी उसके अन्दर पहुंचकर तुम्हें कृतार्थ करे!

"ईं ख़यालस्तो महालस्तो जनूं" †

जपमाला छापा तिलक सरै न एकौ काम।
मन काँचे नाचै वृथा साँचे राँचैं राम ॥६६६॥

इस दोहेके दण्ड-प्रहारसे भण्ड-भक्तिका भाँडा फोड़ दिया है!

× × ×

† यह व्यर्थं विचार है, असम्भव है और पागलपन है।

दूरि भजत प्रभु पीठि दै, गुनबिस्तारन काल।
प्रगटत निरगुन निकट हि [ह्वै] चंग रङ्ग गोपाल ॥६७४॥

बिलकुल नयी बात कही है। साकार या सगुणके उपासक, निराकार या निर्गुणके उपासकोंपर ताना मारा करते हैं कि निर्गुणकी उपासना हो ही नहीं सकती। विहारी कहतेहैं-कि गुण-विस्तार करनेके-सगुण रूपकी उपासनाके—समय प्रभु पीठ देकर दूर भागते हैं। उसके गुण अनन्त हैं, कोई पार नहीं पा सकता, फिर कोई सगुणोपासक उसे क्षीरसागरमें ढँढता है, कोई वैकुण्ठमें खोजता है, कोई कैलाशपर, और कोई और कहीं। पर निर्गुणोपासनामें वह पास ही प्रकट हो जाता है, जहां ध्यान करो वहीं उसकी प्राप्ति सुलभ है। चङ्गकी-पतङ्गकी-डोरी को जितना बढ़ाओ उतना ही पतंग ऊपर जाता है—डोरी (गुण) काट दो तो पास आ पड़ता है। 'चङ्ग रंग'—चंगकी तरह।

कोई इसका अर्थ यह भी करते हैं,-गुण-विस्तारकालमें-सत्व-रजस्तमोलक्षण गुणावृत पुरुषोंसे वह (ईश्वर) दूर रहता है, और जो 'निर्गुण' हैं—गुणातीत हैं—उनके निकटमें ही प्रकट होजाता है। जैसा कि भगवद्गीतामें कहा है—

"गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्म-मृत्यु-जरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥"
(गीता १४। २०)

पर इस अर्थमें चङ्ग रङ्गकी संगति बिगड़ जाती है।

× × ×

थोरेई गुन रीझते बिसराई वह बानि।

तुमहूं कान्ह मनौ भये आज काल [ह्वि] के दानि ॥६८०॥

बड़ी 'शोखी' है। "दान" कहते हैं 'नटके ढोलिया' को। नट बढ़ियासे बढ़िया तमाशा दिखाता है—जानपर खेलकर एकसे

एक कठिन कला करके दिखाता है—पर ढोलिया ढोलपर डंका मारकर बराबर यही कहता रहता है कि "यह कला भी नहीं बदी, यह भी नहीं बदी।"

भक्त ईश्वरसे कहता है कि पहले तुम थोड़ेसे गुणपर रीझ जाते थे—झूठ मूठ भी किसीके मुँहसे तुम्हारा नाम निकल गया तो उसका बेड़ा पार लगा दिया। पर अब हम नाना प्रकारकी भक्तिसे—अपनेमें अनेक सद्गुण सम्पादन करके—तुम्हें रिझाना चाहते हैं, पर तुम नहीं रीझते। मालूम होता है कि तुम भी 'नटके ढोलिया' बनगये हो! हमारी प्रत्येक प्रार्थना, उपासना, भक्ति और सत्कर्मपर 'यह भी नहीं बदा' कहकर उपेक्षा कर रहे हो!

अथवा आजकलके दानी जिस तरह दानपात्र (याचक) में सौ मीन मेख निकालकर—तुममें यह बात तो अच्छी है, पर इतनी कसर है, इसलिये हमारी सहायताके तुम पात्र नहीं हो, इत्यादि बहाना करके—दानपात्रको कोरा टाल देते हैं, ऐसा ही बरताव तुम अपने दीन भक्तोंके साथ करने लगे हो।

\+ \+ \+

कबकौ टेरत दीन रट होत न स्याम सहाय।

तुम हूँ लागी जगत-गुरु जगनायक जगबाय ॥६९१॥

* * *

संसार बड़ा स्वार्थी है। यहां कोई किसी दीन दुखीके करुण-क्रन्दनपर कान नहीं देता। इसी संसारकी हवा, मालूम होता है, हे 'जगत-गुरु' जगनायक स्याम! तुम्हें भी लग गयी। तभी इतने बेपीर होगये हो!

"कबकौ टेरत दीन रट होत न स्याम सहाय"

दोष-परिहार

कई विवेचक महानुभावोंने विहारीकी कवितामें कई प्रकारके दोषोंकी उद्भावना भी की है। विहारीकी कविता सर्वथा दोष-रहित है, उसमें कोई भी दोष नहीं है, यह वात नहीं है। मनुष्यकी कोई भी रचना ऐसी नहीं हो सकती, जिसमें दोषोंका सर्वथा अभाव हो। कविकुलगुरु कालिदासतककी कवितामें जव ढूंढने-वालोंने दोष ढूंढ निकाले हैं, उनके अनेक पद्योंमें अनेक प्रकारके दोष व्यक्तिविवेक-कार वक्रोक्तिजीवित-कार और काव्यप्रकाश-कार आदि आचार्योंने दिखलाये हैं, तव यदि विहारीकी कवितामें भी कुछ दोष पाये जायँ तो यह कोई आश्चर्यकी वात नहीं है।

सतसईके प्राचीन टीकाकारोंने (अमरचन्द्रिकाकार तथा अनवरचन्द्रिकाकारने)-कहीं एकाध जगह प्रायः ध्वनि-व्यञ्जनाके तारतम्यसे वहुत सूक्ष्म रीतिपर—"यहां गुणीभूत व्यङ्गय है, इससे यह अवर काव्य है"। या "यहां विभावकी व्यक्ति क्लिष्टतासों होतु है यातें रसदोष है" इत्यादि कहा है। पर कुछ आधुनिक टीकाकार और लेखक इससे आगे वढ़े हैं। उन्हें कई नये दोष भी विहारीकी कवितामें दीख पड़े हैं। यहां ऐसे ही दोषोंपर विचार करना है, जो हमारी सम्मतिमें दोष नहीं, 'दोषाभास' हैं, दोष समझनेवालोंकी समझका दोष है।

उनमें पहला दोष विहारीकी भाषाके सम्वन्धमें है। कुछ लेखकोंकी राय है कि "विहारी वुन्देलखण्डमें पैदा हुए थे, या वहाँ कुछ दिनों रहे थे, इसलिये उनकी भाषामें वुन्देलखंडी शब्द पाये जाते हैं।" विहारी वुन्देलखण्डी थे, या व्रजवासी, यह विषय उनकी जीवनीसे सम्वन्ध रखता है, इसलिये इसपर

जीवनी लिखते समय विचार किया जायगा। यहां केवल उन्हीं शब्दोंपर विचार करना है कि जिनके आधारपर उन्हें बुन्देलखण्डनिवासी या बुन्देलखण्डप्रवासी बतलाया जाता है, जिसके कारण विहारीकी भाषाके शुद्ध व्रजभाषा होनेमें सन्देह किया जाता है। यह मान लेनेपर भी कि विहारी कुछ दिन बुन्देलखण्डमें रहे थे, उनकी भाषा शुद्ध व्रजभाषा हो सकती है। उर्दू के सुप्रसिद्धि कवि "अनीस"का ख़ानदान कई पुश्त पहलेसे देहली छोड़कर लखनऊ आ रहा था। अनीस देहलीसे वाहर पैदा हुए, वहीं तालीम पायी, फिर भी उनकी ज़बान ठेठ देहलवी ज़बान मानी जाती है। तमाम उम्र लखनऊमें रहते हुए भी उनकी ज़बानपर लखनवी रँग नहीं चढ़ा। जिन शब्दों और मुहावरोंमें देहली और लखनऊकी भाषामें भेद है, उनका प्रयोग वह देहलवी तर्ज़पर ही करते थे। किसी शब्दपर यदि कोई लखनवी कुछ कहता तो उसके जवाबमें 'अनीस' कह देतेथे कि "यह मेरे घरकी ज़बान है। हज़रात लखनऊ इस तरह नहीं फ़रमाते।" इससे सिद्ध है कि ज़बानके जौहरी जानसे ज़्यादह ज़वानकी आनपर जान देते हैं! कहींभी रहें, वह भाषाको सांकर्य दोषसे बराबर बचाते हैं।

विहारीकी भाषाको 'बुन्देलखण्डी' भाषा, प्रमाणित करनेके लिये दो शब्द हैं, जिन्हें "शृगाल-रोदन न्याय" से प्रायः सबने दोहराया है * एक है—*लखबी, जानवी*। दूसरा *प्योसाल*।

---

* बा० राधाकृष्णदास ('कविवर विहारीलाल' में) पं० अम्बिकादत्तजी व्यास (विहारी विहारमें) मेसर्स मिश्रबन्धु (अपने 'विनोद'में) बराबर इस वारेमें एक दूसरेकी ताईद करते चले गये हैं। पर—

"*दिलमें कुछ इन्साफ़ करता ही नहीं कोई वुज़ुर्ग।*
होके अब मजबूर मैं इस रज़ा को करता हूं फ़ाश॥"

'लखबी' शब्दके प्रयोगपर ब्रजभाषाके प्रवीण पारखी कई महापुरुषोंने आपत्ति की है। किसीने कहा है 'यह शुद्ध ब्रजभाषा नहीं है, फिर कहा है "यह ब्रजभाषा ही नहीं है।" किसीने इसमें बुंदेलखंडी भाषाकी बू बतलाकर विहारीको ब्रजभाषासे ही नहीं ब्रज-भूमिसे भी 'जलावतन' करनेकी चेष्टा की है। मैं यहां अभी विहारीके देश-कालपर निबन्ध लिखने नहीं बैठा, पर इतना अवश्य कहूंगा कि यदि 'लखबी, जानबी, मानबी, शब्दोंके प्रयोगके कारण विहारीकी भाषा, शुद्ध ब्रजभाषा नहीं, तो फिर ब्रजभाषाके बाबाआदम सूरदासजीकी भाषा भी शुद्ध ब्रजभाषा नहीं। उन्होंने भी यह "अपराध" किया है—

रागनट— "मोहि तोहि *जानिबी* नंदनन्दन जब वृन्दावनतें गोकुल जैबो"...... (सूरसागर, दानलीला)

और यदि इन शब्दोंके प्रयोगके कारण ही विहारी बुंदेलखंडी थे, तो श्रीतुलसीदासजी और भिखारीदासकी जन्मभूमिके लिये भी बुंदेलखंडका कोई गांव ढूंढ लेना चाहिए—

श्रीतुलसीदाजीने भी ऐसा प्रयोग किया है—

"परिवार पुरजन मोहि राजहि प्राणप्रिय सिय जानबी,
तुलसी सुसील सनेह लखि निज किंकरी करि *मानबी*।"
(रामायण—बालकांड)

कविवर भिखारीदास (जो प्रतापगढ़ अवधके निवासी थे) जिनकी भाषाके सम्बन्धमें मिश्रबन्धुओंकी राय है कि—

"दासकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है" (मि० ब० वि० ६६५)"
"इनका बोलचाल (?) भी बहुत श्लाघ्य है" (६६५)"

इन्होंने भी इन "ठेठ बुंदेलखंडी" शब्दोंका प्रयोग किया है—

"जाती है तूँ गोकुल गोपाल हूं पै "जैबी" नेकु
आपनी जो चेरी मोहि जानती तू सही है,
पाय परि आपुही सों "पूछबी" कुसल छेम
मोपै निज ओरतें न जात कछु कही है।
"दास" मधुमासहू के आगम न आये तबै
तिनसों संदेसनिकी बातै कहा रही है,
एतो सखी "कीबी" यह अंब-बौर "दीबी" अरु
"कहिबी" वा अमरैया राम राम कही है।"

(काव्यनिर्णय)

* * *

शृंगार-सतसईकार रामसहायदासने भी (जो "वासी कासी खास" थे) इन शब्दोंको बरता है—

"छन बिछुरनं चित चैन नहिं चलन चहत नँदलाल।
अब 'लखिबो' री होति है याको कौन हवाल॥६७॥"
"लखत कलाधर 'देखबी'कामिनिमान सयान॥२६७॥"

(शृंगारसतसई)

* * *

इसी प्रकार 'बोधा' कवि भी कहते हैं—

सवैया

"खरी सासु घरी न छमा करि है, निसिबासर त्रासन हीं मरबी,
सदा भौंहें चढ़ाये रहे ननदी यों जिठानी की तीखी सुनै जरबी।
कवि बोधा न सँग तिहारो चहैं यह नाहक नेह फँदा परबी,
बड़ी आंखें तिहारी लगें ये लला लगि जायँ कहूं तो कहा करबी॥

\+ \+ \+

कई "भाषाशास्त्रियों" का यह भी अखण्ड सिद्धान्त सुना गया है कि *प्यौसाल* शब्दकी जन्मभूमि भी ख़ालिस बुंदेलखण्ड है। इसीके बलपर वह विहारी बेचारे को बुंदेलखण्डमें धकेल रहे हैं! पर यह सरासर ज़बरदस्ती है। हम देखते हैं, यह शब्द अबतक इधर रुहेलखंडके कई ज़िलोंमें–बिजनौर, मुरादाबाद आदिमें–और व्रजके आस पास ही नहीं, ख़ास व्रजमें भी बराबर इसी रूपमें और इसी अर्थमें बोला जाता है, और ऐसे लोगोंकी ज़बानसे सुना जाता है, जिन्होंने बुंदेलखण्ड कभी 'नक़्शे' में भी नहीं देखा, जो स्वप्नमें भी बुंदेलखण्ड नहीं गये। उनमेंसे बहुतोंने तो बुंदेलखण्डका शायद नामतक भी न सुना हो!

"*कुछ ग्राम्य दोष*"

साहित्याचार्य पं० अम्बिकादत्त व्यासजीने एक जगह एक नये प्रकारके "ग्राम्यदोष" की विहारीके काव्यमें कल्पना की है—

"ज्यौं कर त्यौं चुँहटी [चुटकी] चलै ज्यौं चुँहटी त्यौं नारि।
छबि सौं गतिसी लै चलति चातुर कातनहारि ॥५४१॥"

* * *

—इस दोहेपर व्यासजीने यह टिप्पनी जड़कर "दादे-सुख़-वनरी" दी है—"*चरखे कातनेका वर्णन कुछ 'ग्राम्य दोष' है*"

बार बार सोचनेपर भी व्यासजीकी इस आज्ञाका अर्थ हमारी समझमें कुछ नहीं समाया! चरखा कातनेका वर्णन होनेसे ही यह "ग्राम्यदोष" कैसे हो गया? प्राचीन आचार्य्योंने तो 'चरखा कातने'की गणना कहीं ग्राम्यदोषमें की नहीं। भौंडे ढंगपर अनुचित

शब्दोंमें किसी बातको कहना ग्राम्यदोष ❀ माना गया है। फिर गाँवमें ही चरखा काता जाता है, इसलिये ही यह ग्राम्यदोष है, यह भी नहीं, चरखा शहरोंमें भी काता जाता है, शरीफ़ शहरी घरानोंमें भी इसका रिवाज है, और होना चाहिये।

फिर कवि इस बातके पाबन्द भी नहीं हैं कि वह शहरवालोंके ही रस्मो रिवाजका राग गावें (चाहे वे कैसे ही बेहूदा हों) चरखा कातनेसे ही किसी को 'गँवार' या 'गँवारी' नहीं कहा जा सकता।

विहारीने ही यह चरखा कातनेके वर्णनका 'गँवारपन' किया हो, सो भी नहीं, संस्कृत कवियोंने भी ऐसा किया है—

१— "रे रे यन्त्रक मा रोदीः कं कं न भ्रमयन्त्यमूः।
कटाक्षाक्षेपमात्रेण कराकृष्टस्य का कथा" ॥

भावार्थ—चरखेके शब्दको उसका रोना मानकर कोई कहता है कि—मियां चरखे! क्यों रोते हो! यह स्त्रियां तो ज़रा तिरछी नज़रके इशारेसे ही अच्छे अच्छोंको नाच नचा देती हैं, फिर इनके हत्थे चढ़कर तो जो दुर्दशा हो, कम है।

२— " विप्रः सपत्नो ह्युपवीतधारी
युक्त्या स्वरार्थं भ्रमयन् स्वहस्तम्।

❀ साहित्यदर्पणकारने पददोषके प्रकरणमें "ग्राम्यत्वं यथा—"कटिस्ते हरते मनः"। अत्र कटिशब्दो ग्राम्यः" लिखा है। इसपर रामचरण तर्कवागीशने 'ग्राम्य' का यह लक्षण किया है—"हालिकसाधारणप्रसिद्धार्थकशब्दो ग्राम्यः।" अर्थात् अशिक्षित—असभ्य—समुदायमें विशेषरूपसे प्रसिद्ध—प्रचलित—शब्दका प्रयोग 'ग्राम्य' दोष है। यह लक्षण चरखा कातनेपर या विहारीके इस वर्णनपर किसी तरह भी नहीं घट सकता।

शिष्योस्मि नार्या न तु रोदनं मे,
शब्देन वेदाध्ययनं करोमि।"
(सुभाषितावलि)

भावार्थ—चरखा जवाब देता है कि मैं उपवीतधारी—(चरखेपर लिपटी 'माल' यहां जनेऊ है) ब्राह्मण हूं, इस विदुषी नारीका शिष्य हूं, हाथ हिलाकर ऊँचे स्वरसे वेदपाठ कर रहा हूं, रो नहीं रहा।

चरखेके पक्षमें सपक्ष—पँखड़ी वाला। हस्त= हतकी।

* * *

चरखा कातनेका ही नहीं, संस्कृत कवियोंने "धान" कूटनेका वर्णन भी किया है। इसे शायद "जङ्गली" दोष कहा जाय!

" विलासमसृणोल्लसन्मुसललोलदोःकन्दली-
परस्परपरिस्खलद्वलयनिःस्वनोद्वन्धुराः।
लसन्ति कलहुंकृतिप्रसभकम्पितोरःस्थल-
त्रुटद्गमकसंकुलाः कलमकण्डनी-गीतयः।"

वेदमें चरखा कातने और कपड़ा बुननेवालियोंको "देवी" कहा गया है, और "देवी" कभी गँवारी नहीं हो सकती:—

ओं या अकृन्तन्नवयन् या अतन्वत याश्च देवीस्तन्तूनभितो ततन्थ। तास्त्वा देवीर्जरसे संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः॥

(मन्त्र ब्राह्मण।१।१।६)

—"(या देवीः)-देव्यः (इदं वासः) (अकृन्तन्)-कर्तितवत्यः, तत्तत्सामर्थ्यवाहाः (या अवयन्)-वीतवत्यः तन्तुसन्तानं कृतवत्य ओतवत्य इत्यर्थः। (यास्तन्तून्)—सूत्राणि (अतन्वत)—

प्रोतवत्यः तिर्यक् तन्तून् विस्तारितवत्य इत्यर्थः। चकारात्—या ओतान् प्रोतांश्च तन्तून् (अभितः)— उभयपार्श्वयोरपि। (ततन्थ)—तेनुः, तुरीवेमादिव्यापारेण ग्रथितवत्य इत्यर्थः। (ताः)—तत्तत्सामर्थ्यवत्यो देव्यः, स्वकार्यं रूपवदिदं वासः। (त्वा)—त्वां (जरसे)—दीर्घकालनिर्दिष्टजीवनाय (संव्ययस्व)— परिधापयन्तु। पुरुषादिव्यत्यय श्छान्दसः। अतो हे (आयुष्मति!) इदमेतादृशं वासः। (परिधत्स्व)—उत्तरीयत्वेन वृणीष्व।”

(कर्क-भाष्यम्)

सूत कातने और वस्त्र बुननेकी प्राचीन कलाका प्रकाशक उल्लिखित मन्त्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विवाहसंस्कारमें वरकी ओरसे वधूको जो उत्तरीय वस्त्र दिया जाता है उसकी प्रशंसामें है—

कि इस वस्त्रको सूत कातने और कपड़ा बुननेकी कलामें निपुण देवियोंने स्वयं विधिपूर्वक तुरी वेमादि साधनों द्वारा तय्यार किया है; इसका सूत देवियोंने अपने हाथसे काता है, और इसका ताना बाना आदि बुननेकी सब क्रियाएं उन्होंने ही सम्पादित की हैं- (वस्त्र-व्यापारियोंके लोभी हाथोंने इसे स्पर्श नहीं किया है!) इस प्रकार वस्त्र-वयन-कला में प्रवीण देवियों के द्वारा निर्मित यह पवित्र, सुन्दर और सुदृढ़ उत्तरीय वस्त्र, हे आयुष्मति! वधू! तुम जरावस्थापर्य्यन्त धारण करो। मन्त्रका “जरसे” पद वस्त्रके टिकाऊपनको प्रकट करता है। इस प्रकार घरमें देवियों द्वारा निष्पन्न वस्त्र टिकाऊ होना ही चाहिये।

इस प्रकार लौकिक और वैदिक साहित्यसे प्रशंसित विहारीके चरखा कातनेके वर्णनको साहित्याचार्यजीका ‘ग्राम्यदोष’ बतलाना, कुछ भी “नागरिक गुण” नहीं समझा जा सकता।

(महात्मा गांधीकी कृपासे अब तो राजपरिवारोंमें भी चरखा चलने लगा है!)

'रूपक' का अनौचित्य'

"विरह-विथा-जल-परस बिन" इस (३९८वें) दोहेपर व्यास-जीने यह टिप्पनी दी है—

"इस दोहेमें व्यथाको जल बनाया सो स्त्रीलिङ्गको पुंलिङ्गसे रूपक अनुचित है। यदि "विरह दुःखजल" पाठ होता तो अच्छा होता" (विहारी विहार ११७ पृ०)

हम कहते हैं—साहित्याचार्यजी यह टिप्पनी न देते तो अच्छा होता। 'विरह दुःखजल' पाठ होता तो अच्छा न होता, बुरा होता। उस दशामें यह पाठ विहारीका न होता, व्यासजीका होजाता। फिर यह श्रुतिमधुर व्रजभाषा न रहती, आजकलकी खड़ीबोली हो जाती, व्रजभाषाके कवि प्रायः "दुःख" नहीं लिखते, 'दुख' लिखते हैं। यहाँ दोहेमें ऐसा होनेमें (दुख लिखनेमें) मात्राकी टांग टूटकर दुखने लगती।

अब रही 'लिङ्गभिन्नताके अनौचित्यकी' बात। व्यासजीका यह कहना कि "स्त्रीलिङ्गको पुंलिङ्गसे रूपक अनुचित है" यहभी उचित नहीं। अचेतनके रूपणमें लिङ्गसाम्यकी परवा कवि लोग नहीं करते। यदि यह आवश्यक होता तो महाकवि बाण (जिनके विषयमें "बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्" की उक्ति प्रसिद्ध है, जिनके सामने विहारीको और अनौचित्यवादी व्यासजीको भी अदबसे सिर झुकाना चाहिये) "नयन" (नपुंसकलिङ्ग) को "नदी" (स्त्रीलिङ्ग) के साथ कभी रूपण न करते। उन्होंने "हर्षचरित" में ऐसा किया है:—

"आयत-नयन-नदी-सीमान्तसेतुबन्धेन.........

घोणावंशेन.........विराजमानं.........युवानमद्राक्षीत्।"

उपमेय और उपमानके लिङ्गवचनादिके साम्यका ध्यान रखना "उपमा" में अत्यावश्यक समझा गया है। पर इसके व्यतिक्रमके उदाहरण भी महाकवियोंके काव्योंमें मिलते हैं—

"त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता।"

(रघु०। १। २८।

यहां उपमेय—'प्रियः' पुंलिङ्ग है, और उपमान—"अङ्गुली" स्त्रीलिङ्ग।

इसीलिये आचार्य दण्डीने कह दिया है—

"न लिङ्गवचने भिन्ने न न्यूनाधिकतेऽपि वा।

उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्॥" (काव्यादर्श)

* * *

इस कारण विहारीका उक्त "विरह-विथा-जल" रूपक सर्वथा उचित है। इसमें कुछ भी अनौचित्य नहीं।

\+ \+ \+

"तमाखूके वर्णनकी चाल"

"ओठ उचै हाँसी भरी दृग भौंहनिकी चाल।

मो मन कहा न पी लियौ पियत तमाखू[कू]लाल॥२८२॥

* * *

इस दोहेपर व्यासजीकी टिप्पनी है—

"यह दोहा अनवरचन्द्रिकामें नहीं है। पुराने कवियोंमें तमाखू गांजे आदिके वर्णनकी चाल न थी, इस कारण इस दोहेके विहारीकृत होनेमें सन्देह भी है।"

(विहारीविहार पृ० ८४)

अनवरचन्द्रिकामें न होनेसे ही इसके विहारीकृत होनेमें सन्देह नहीं हो सकता, जबकि अन्य अनेक टीकाओंमें यह है। *

विहारीके समय तमाखू पीनेका रिवाज अच्छी तरहसे होगया था! इसलिये इसके वर्णन करनेकी चाल भी होसकती है। यह भी कोई ऐसी बात नहीं जिससे इसके विहारीकृत होनेमें सन्देह किया जा सके। विहारीके पूर्ववर्ती या उनके समकालीन किसी हिन्दी कविने तमाखूका वर्णन नहीं किया, इससे विहारी भी उसका वर्णन न करें, यह कोई कारण नहीं है। व्यासजीकी इस टिप्पनी-को पढ़कर नीलकण्ठदीक्षितकी यह सूक्ति याद आ जाती है—

"अचुम्बितोल्लेखपथप्रवृत्ता-
नसंप्रदायेन कवीन् क्षिपन्ति।
पथा प्रवृत्तान् प्रहतेन मन्दाः
पश्यन्त्यवज्ञामुकुलीकृताक्षाः।"

*　　　*　　　*

अर्थात् यदि कवि नये ढंगपर अपूर्वतासे किसी ऐसे विषयका वर्णन करे जो पहले कवियोंने नहीं किया है तब तो उसपर 'संप्रदाय विरोध' का आक्षेप किया जाता है। और यदि वह उन्हीं बातों-को दोहराता है, जिनका वर्णन पुराने कवि कर गये हैं, तो यह कहकर उसकी अवज्ञा की जाती है कि इसमें कुछ नवीनता नहीं, यह तो पुराने कवियोंने भी कहा है।

---

* संवत् १७६० वि० की हस्तलिखित (अप्रकाशित) पुरानी मूल प्रति में भी यह दोहा इसी रूपमें (५६९ संख्यक) है

उक्त मूल प्रति 'शान्ति प्रेस' आगरा के स्वामी श्रीयुत पण्डित सत्यव्रत-शर्मा तथा पण्डित सत्यपालशर्मा के पास है।

"गरचे क़न्दीले-सुख़नको मँढ़ लिया तो क्या हुआ,
ढांचकी तो हैं वही अगले बरसकी तीलियां ।"

\+ \+ \+

"तमाखु" का वर्णन संस्कृत कवियोंने भी किया है
"विडौजाः पुरा पृष्टवान् पद्मयोनिं
धरित्रीतले सारभूतं किमस्ति ।
चतुर्भिर्मुखैरुत्तरं तेन दत्तं
तमाखुस्तमाखुस्तमाखुस्तमाखुः ।"

"क्वचिद्धुका क्वचित्थुका क्वचिन्नासाग्रवर्तिनी ।
एषा त्रिपथगा गङ्गा पुनाति भुवनत्रयम् ॥"

\+ \+ \+

" अश्लीलता और बीभत्स "

"बहक न इहिं बहनापने [बहिनापुली] जब तब बीर बिनास।
बचै न बड़ी सबीलहूँ चीलह घौं[घैं]सुवा मास ॥ २३१ ॥

* * *

इसपर व्यासजीका 'फुट नोट' है--

"यह दोहा शृंगारसप्तशतीमें नहीं है। इसमें कोई उत्तम उक्ति नहीं है, अश्लील औ बीभत्स प्रगट है।"

(वि० वि० पृ० ७०)

अपनी अपनी रुचि ही तो है, व्यासजीको इसमें कोई उत्त: मता नहीं दीखती! हम समझते हैं यह ऐसी उत्तम उक्ति है, जैसी होनी चाहिये।

किसी दुष्टा कुटनीके फेरमें पड़ी हुई सती कुलवधूको हितू सखीका उपदेश है कि तू इसके--(कुटनीके)--बहिनापन (मित्रता)

-पर मत बहक, सावधान हो। इसकी कुसंगतमें पड़कर, आज नहीं तो कल, तेरा विनाश—(पतिव्रत-धर्मका नाश)—हुआ धरा है। देख, सँभल जा, याद रख, चीलके घोंसलेमें मांस बड़े प्रयत्न करनेपर भी नहीं बच सकता !

ऐसे सुन्दर उपदेशमें, समझमें नहीं आता, " अश्लीलता " और "बीभत्स" किधरसे आ घुसे ?

" चीलके घोंसलेमें मांस नहीं बचता " यह एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है, जो ऐसे ही अवसरपर कही जाती है। जहां किसी चीज़का बचना असम्भव हो।

"दिरमो दाम अपने पास कहां, चीलके घोंसलेमें माँस कहाँ।"
(ग़ालिब)

यह "लोकोक्ति" का "मांस" कुछ असली "मांस" नहीं है, न इसका उल्लेख ही ऐसे ढंगपर हुआ है, जिसमें बीभत्सताकी बू आती हो, या जिसे देखना या सुनना आँख और कान गवारा न कर सकते हों।

"प्रससार शनैर्वायुर्विनाशे तन्वि! ते तदा"

साहित्यदर्पणके इस उदाहरणका ध्यान करके शायद यहां 'अश्लीलता' समझ ली गयी है। पर ऐसा समझना ठीक नहीं है। यहां (दोहेमें) "नाश"से नायिकाके "शरीरका विनाश" किसी तरह नहीं समझा जा सकता। 'कुटनी' कोई भिड़न या नाका (मगर) नहीं है, जो उसे फाड़कर खा जायगी, या समूचा निगल जायगी ! यहां "नाश"से मतलब पातिव्रतधर्म-विनाशसे है। 'अमङ्गल अश्लीलता' वाले अर्थकी ओर—(शरीरविनाशकी ओर)—ध्यान जा ही नहीं सकता। "मुहावरे"की श्लक्ष्णता पर "श्लेष"का दूसरा पहलू चस्पां ही नहीं हो सकता।

"स राजलोकः कृतपूर्वसंविदारम्भसिद्धौ समयोपलभ्यम्।
आदास्यमानः प्रमदामिषं तदावृत्य पन्थानमजस्य तस्थौ ॥"

रघु० ७। ३१।

"आमिष" शब्दका प्रसिद्ध अर्थ "मांस" है, पर यहां "प्रमदामिषं"में "स्त्रीके मांस या स्त्रीरूप मांसको छीननेके लिये "राजलोक"—(प्रतीयमान चीलकी या बाज़की तरह, अथवा शिकारी कुत्ते या भेड़ियेकी तरह !) रास्ता रोककर खड़ा होगया !" ऐसा कोई भी पाठक नहीं समझता। यद्यपि "आमिष" का प्रसिद्ध अर्थ मांस है, दूसरा अर्थ "भोग्य वस्तु" अप्रसिद्ध है—(आमिषं त्वस्त्रियां मांसे तथा स्याद्भोग्यवस्तुनि)—तथापि प्रसंगवश इस अप्रसिद्ध अर्थ-"स्त्रीरूप भोग्यवस्तु"की ओर ही ध्यान दौड़ता है।

फिर विहारीका उक्त दोहा तो बहुत ही स्पष्ट है। उसमें न अश्लीलताकी ओर ध्यान जा सकता है, न मुहावरेकी वजहसे बीभत्सताकी गन्ध आ सकती है।

यदि किसीको इतनेपर भी अश्लीलता और बीभत्सता ही सूझ पड़े, तो भी कोई हानि नहीं। ऐसे प्रसङ्गपर—कुटनीके चंगुलमें फँसकर कुलवधूके प्राणाधिक धर्मके विनाशकी आशंका-पर—सखीको यही कहना चाहिये था ! और इन्हीं ज़ोरदार शब्दोंमें कहना चाहिये था। धर्म-विनाशकी सम्भावनासे उत्पन्न आवेशमें बनावटी "अश्लीलता" की परवा हर्गिज़ नहीं की जासकती।

"इति सर्वं रमणीयं, नात्र दोषकणिकाया अप्यवकाशः।
किमुत इयत्योर्बीभत्साश्लीलतयोः कबन्धताडकासोदर्ययोः।"

"उत्तम उक्ति नहीं है"

"तो ही निरमोही लग्यो मो ही अहै सुभाव ।
अन आये आवै नहीं आये आवे आव" ॥ ३५२ ॥

"तेरा (ही) मन, निर्मोही है (लग्यो मो ही) उससे मेरा हृदय लगा सो मेरे मनका भी यही स्वभाव हो गया, तुमारे आये बिना मन हमारे पास नहीं आता, तुमारे आये से आवेगा इसलिये आव"। ऊपरके दोहेकी यह (उल्लिखित) व्याख्या करके व्यासजी लिखते हैं कि—

"इस दोहेमें न प्रसाद है न उत्तम उक्ति है"—

प्रसादका तो यह दोहा अच्छा खासा उदाहरण है, सुनते ही समझमें आ जाता है, शब्द सीधे सादे हैं। व्यासजीने पूर्वार्धके अन्तमें "यहै सुभाव" का "अहै स्वभाव" बनाकर कुछ उलझन पैदा कर दी है, इससे इसके प्रसादमें कुछ फ़र्क़ ज़रूर आ गया है, पर इसमें दोहेका दोष नहीं है।

भाव भी इसका सरल है, झट समझमें आ जाता है। इसमें उत्तम उक्ति भी अच्छी है, क्योंकि नायकके निष्ठुर मनके साथ मिलनेके कारण उत्पन्न हुई अपने मनकी निष्ठुरताके कथनपूर्वक उपालम्भद्वारा नायकमें अपने मनकी अत्यासक्ति व्यङ्ग्य है। और अपने मनके बुलानेके वहानेसे प्रियप्राप्तिरूप इष्ट सिद्ध होता है। इसलिये यहां "पर्यायोक्त" अर्थालङ्कार है—

"पर्यायोक्तं तदप्याहुर्यद् व्याजेनेष्टसाधनम् ॥"
(कुवलयानन्द ।६६)

इसके अतिरिक्त शब्दालङ्कार-अनुप्रास-भी बड़ा बढ़िया है। इस प्रकार इन दोनों अलंकारोंकी तिलतण्डुलवत् "शब्दार्थालङ्कार-संसृष्टि" है—

"मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते ।"

(साहित्यदर्पण । ६८)

इस तरह जब इस कवितामें व्यङ्ग्य भी है, दुहरे अलङ्कारोंका चमत्कार भी है, शब्द भी सुन्दर हैं, प्रसाद भी स्पष्ट है, भाव भी 'मनोहर' है । फिर भी—इतनेपर भी—यह "उत्तम उक्ति" क्यों नहीं ?

———*———

"पुराणरीति-व्यतिक्रम और रसाभास"

मेसर्स मिश्रबन्धुओंने लिखा है कि—

"काव्यके पूर्णाङ्ग होनेपर भी विहारी उसकी रीतियोंके बहुत अधीन नहीं रहते थे" । (हिन्दी नवरत्न पृ० २३२)

न रहते होंगे, पर आपने इस बातको किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं किया । कोई प्रमाण ऐसा—(पुराणरीति-व्यतिक्रमका)—आप पेश कर भी देते तो भी उसके उत्तरमें महाकवि बिल्हणका यह प्रसिद्ध पद्यरत्न दिखलाकर सहृदय समाजका सन्तोष किया जा सकता था—

"प्रौढिप्रकर्षेण पुराणरीति-
व्यतिक्रमः श्लाघ्यतमः कवीनाम् ।
अत्युन्नतिस्फोटितकञ्चुकानि
वन्द्यानि कान्ताकुचमण्डलानि ॥"

(विक्रमाङ्कदेवचरित)

मिश्रबन्धुओंकी सम्मतिमें विहारीने पुराणरीतिका व्यतिक्रम किया है । कहां किया है, इसका आप लोगोंने यह पता दिया है:—

"मरणावस्थामें रसाभास समझकर वहुतेरे कविगन (?) मूर्च्छा ही का वर्णन कर देते हैं"......"परन्तु विहारीने मरणका ही वर्णन कर दिया है—

"कहा कहौं वाकी दसा हरि [पिय] प्राननिके ईस।
बिरह-ज्वाल जरिबौ लखै मरिबौ भयौ असीस ॥*"

विहारीने तो नहीं, पर आपने इसमें मरणका वर्णन वतलाकर अपनी समझकी सीमाका व्यतिक्रम ज़रूर किया है, और समझदारोंको "सुख़नफ़हमी मिश्रवन्धुवां मालूम शुद्" कहनेपर मजबूर किया है। इस दोहेमें मरणवर्णनका कहीं पता भी तो नहीं, यह आप लोगोंने विलकुल वेपरकी उड़ायी है। महाराजगण! यह "विरहनिवेदन" है "मरणनिवेदन" नहीं! विरह-ज्वालामें जलनेके साथ मरनेका 'कम्पेरीज़न' (तारतम्य या मिलान) किया गया है। मरनेके दुःखसे कहीं अधिक दुःख इस विरहवेदनामें वतानेसे तात्पर्य है। सखी कहती है कि "हे प्राणोंके ईश हरि! उसकी दशा क्या कहूं, कुछ कही नहीं जाती। उसे विरहज्वालामें जलती देखकर मरना असीस (आशीर्वाद) के समान है।" यहाँ मरनेसे विरहज्वालाके जलनेमें, दुःखाधिक्य व्यङ्ग्य है। अर्थात् इस दशामें रहनेसे मरना कहीं अच्छा है।

"मृतेरप्यधिकं दुःखं तस्यास्तत्त्वं द्रुतं व्रज" इति भावः।

"छूट जाये ग़मके हाथोंसे जो निकले दम कहीं।
ख़ाक ऐसी ज़िन्दगीपर 'वह' कहीं और 'तुम' कहीं॥"

\+ \+ \+

---

*"अब यह हालत है कि फ़ुरक़तमें एवज़ जीने के।
मेरे मरनेकी मुझे लोग दुआ देते हैं।" (बर्क़, लखनवी)

'बहुतेरे कविगन' (?) मूर्च्छाहीका नहीं, स्पष्ट मरणका वर्णन भी कर देते हैं। देखिये मरणका वर्णन ऐसा होता है—

"कुसुमकार्मुककार्मुकसंहितद्रुतशिलीमुखखण्डितविग्रहाः।
मरणमप्यपराः प्रतिपेदिरे किमु मुहुर्मुहुर्गतभर्तृकाः॥"
(माघ ६।१६।)

कादम्बरीमें बाणभट्टने एकबार नहीं कई बार मरणका वर्णन किया है। पुण्डरीक, वैशम्पायन, चन्द्रापीड और शूद्रक, इन सबके मरणका उल्लेख है।

'उद्दीपन' विभावके "दौरात्म्य"से मरे हुए किसी वसन्त-पथिककी मृत्युकी 'तफ़तीश' "रोमल" "सोमल" नामक दो संस्कृत कवियोंने—(जो मिश्रबन्धुओंकी तरह मिलकर कविता किया करते थे!)—इस प्रकार की है—

"सव्याधेः कृशता क्षतस्य रुधिरं दष्टस्य लालास्रुतिः
किञ्चिन्नैतदिहास्ति तत्कथमसौ पान्थस्तपस्वी मृतः।
आः ज्ञातं मधुलम्पटैर्मधुकरैरारब्धकोलाहले,
नूनं साहसिना रसालमुकुले दृष्टिः समारोपिता॥"*

---

* किसी मुसाफ़िरकी लावारिस लाशको आमके वृक्षके पास पड़ी देखकर 'रोमल' 'सोमल' नामक दो कवि, उस पथिककी इस प्रकार अचानक मृत्युके कारणपर खड़े विचार कर रहे हैं कि यह कैसे मरा। यदि किसी बीमारीसे मरता तो लाश दुबली होती, पर ऐसा नहीं है। यदि किसी शस्त्रसे घायल होकर मरता तो कहीं ख़ूनके धब्बे होते, वह भी नहीं। यदि किसी विषैले जन्तु—सर्पादि—के काटनेसे मरा होता तो मुंहसे लार टपकती, झाग आते, ऐसा भी नहीं। फिर यह मरा कैसे? ओः मालूम हुआ, इस आमकी मंजरीको जिसपर भौंरे गुंजार रहे हैं, इसने नज़र भरकर देखनेका साहस किया था। इसीसे ग़रीबकी मौत हुई है।

शंकरजीका सवैया और दोहा भी(अगले पृष्ठपर उद्धृत)इसी भावके द्योतक हैं।

सवैया—
"तीर लग्यो न, गड़ी बरछी नहिं, घायल घातकने न कस्यो है,
एकहु ठौर चुटैल नहीं, नहिं गाज परी न कहूं पजस्यो है।
व्याधि न बूझि परे कछु 'शंकर'तो फिर क्यों बिन प्रान पस्यो है,
बौरे रसाल बतावत हैं बस 'मार'को मास्यो बटोई मस्यो है॥"

दोहा—"देखा पन्थी तरुणका शव रसालके पास।
कारण जाना अन्तका हाय! वसन्तविकास॥"

(कविराज शङ्कर महाराज)

\+ \+ \+

"निन्द्य भाव"

"विहँसि बुलाय लगाय उर प्रौढ़ तिया रस घूमि।
पुलकि पसीजति पूत* को प्यौचूम्यो मुँह चूमि।"

"यहां पुत्रमें भी पतिभाव आ गया है; जो निंद्य है।"

(हिन्दी नवरत्न पृ० २३४)

इस दोहेके प्यालेमें शृंगाररस भरा छलक रहा है। 'विहँसना' और 'उर लगाना' कायिक अनुभाव (अनुराग-व्यञ्जक चेष्टा) "पूतको पियचूम्यो मुख" उद्दीपन विभाव। 'प्रौढ़ तिया' और (तरुण) 'पिय' आलम्बन विभाव। 'रस' (प्रीति, रति) स्थायी भाव। 'हर्ष' संचारी भाव। 'पुलकना'

---

*१७६० संवत् की मूल प्रति में "पूत" के स्थानमें "पोत" पाठ है। "पोत" का अर्थ है शिशु—बच्चा।

"पोतः पाकोऽर्भकः डिम्भः पृथुकः शावकः शिशुः।"

इस पाठमें "पुत्रमें पतिभाव" का भ्रम भी मिट जाता है। यद्यपि यह भ्रम कोरा भ्रमही है।

'पसीजना', सात्त्विक भाव । सब एक जगह पास पास मौजूद हैं। 'पिय' की मौजूदगीमें 'पुत्रमें पतिभाव' कैसे आगया, ज़रा सोचिये। इसमें कुछ भी निन्द्य नहीं है, सब स्तुत्य है। उद्दीपनता, प्रियके चूमे हुए मुखमें है। प्रियके मुखका उस मुखपर चुम्बनस्पर्श हुआ है, इस सम्बन्धसे–प्रियके मुखस्पर्शसम्बन्धसे–वह सात्त्विक भावका कारण हुआ है। प्रियसे सम्बन्ध रखनेवाले जड़ पदार्थ भी सात्त्विक भावके कारण हो जाते हैं । जैसे—

"हित करि तुम पठयौ लगैं वा बिजना की बाय।
टरी तपन [ति] तन्न की तऊ चली पसीने [ना] न्हाय" ॥३०३॥

यहां व्यजनमें या व्यजनकी वायुमें "पतिभाव" नहीं आगया है। प्रियने वह बिजना–पंखा–भेजा है, इसलिये उसकी हवासे पसीना आ रहा है—सात्त्विक भाव हो रहा है—इसी प्रकार—

"गुड़ी उड़ी लखि लालकी अँगना आंगन माँह।
बौरी लौं दौरी फिरै छुवत छबीली छाँह" ॥२५५॥

यहां भी 'गुड़ी' (पतङ्ग) की छाँहमें "पतिभाव" नहीं आगया है। इसी तरह—

"भेटत बनत न भावतौ चित तरसत अति प्यार।
धरति उठाय [लगाय] लगाय उर भूषन बसन हथ्यार" ॥

यहाँ भी 'भूषन', 'बसन', और "हथियार"में पतिभाव नहीं आ गया है।

बालकका आलिंगन और चुम्बन, नायिकाओंके अनुरागेङ्गित-प्रकरणमें (वात्स्यायन कामसूत्रमें और साहित्य-ग्रन्थोंमें) उल्लिखित है। यथा—

"जृम्भते स्फोटयत्यङ्गं बालमाश्लिष्य चुम्बति।
भाले तथा वयस्याया रचयेत्तिलकक्रियाम् ॥"
(साहित्य-दर्पण । ३ । १२० ।)

इसीका उदाहरणस्वरूप विहारीका उक्त दोहा है।

सवैया—

"पूरण प्रेम उमाहते प्यारी फिरै सब मांझ हिये हुलसाती
पूतको आनन चूम्यो पिया तिय चूमति ताहि महारस माती।
चाहि उतै मुसकाय बुलाय हिये सुख पाय लगावति छाती
गात पसीज रोमांचित होति भई अनुरागके रंगमें राती ॥"
(इसी दोहेपर कृष्णकवि)

"नेचर निरीक्षणमें ग़लती"

"इनके नेचरनिरीक्षण (?) में केवल एक स्थानपर ग़लती समझ पड़ती है—

"पावस घन अँधियार महँ (में) रह्यो भेद नहिं आन।
राति द्यौस जान्यौ परतु लखि चकई चकवान ॥"

"परन्तु वर्षाऋतुमें चक्रवाक नहीं होते। बहुतसे लोग कष्टकल्पना करके यह दोष भी निकालना चाहते हैं, परन्तु हम उस अर्थको अग्राह्य मानते हैं।" (हिन्दीनवरत्न, पृ० २३५)

नहीं महाशयगण! बन्धुगण! ऐसा न मानिये, ऐसा नहीं है। विहारीके 'नेचर-निरीक्षण' में नहीं, हमें तो यहाँ आपकी समझमें साफ़ ग़लती समझ पड़ती है। "वर्षामें चक्रवाक नहीं होते" यह आपने किससे सुना है? वर्षामें "चक्रवाक" क्या हो जाते हैं? कहीं चले जाते हैं? क्या एकदम मर जाते हैं? उनका उस समय सर्वथा अभाव हो जाता है? आख़िर वह क्या हो

जाते हैं ? आप लोग कहीं चक्रवाकका अर्थ 'हंस' तो नहीं समझ बैठे ! (जिस प्रकार एक टीकाकार एक जगह रामायणमें "पिक" का अर्थ "चातक" कर गये हैं)—'वर्षामें चक्रवाक नहीं होते' इससे आप लोगोंका कहीं यह मतलब तो नहीं है कि वर्षामें कवि लोग चक्रवाकका वर्णन नहीं करते, इसलिये विहारीका यह वर्णन 'कविसमयविरुद्ध' है † । पर ऐसा भी नहीं है, कवि लोग वर्षामें चक्रवाकका वर्णन बराबर करते हैं । संस्कृतके, हिन्दीके और उर्दू के कवियोंने भी ऐसा वर्णन किया है:—

संस्कृत कवियोंका वर्षामें चक्रवाक-वर्णन—

"अकालजलदच्छन्नमालोक्य रविमण्डलम् । *
चक्रवाक-युगं रौति रजनी-भय-शंकया ॥"

(सुभाषितावलि)

---

† "कविसमय" सर्वथा वस्तुस्थितिपर ही अवलम्बित नहीं होता, वह "सतोऽप्यनिबन्धः—वस्तुस्थिति के विरुद्ध-भी बहुधा होता है । यथा—चन्दन और वेत में फल पुष्प का अभाव का वर्णन इत्यादि ।

—वर्षामें चक्रवाक बराबर देखे जाते हैं, हमने स्वयं गङ्गातट पर 'अहार' आदि स्थानोंमें वर्षाऋतु में चकवाकों के जोड़े देखे हैं ।

* असमयमें बादलोंसे सूर्यमण्डलको छिपा देखकर रातके भयसे—बिछड़नेके डरसे—चकवी चकवा चीख़ने लगे ।

"घनतर-घनवृन्दच्छादिते व्योम्नि लोके,
सवितुरथ हिमांशोः संकथैव व्यरंसीत्।
विरहमनुभवन्ती संगमञ्चापि भर्त्रा,
रजनि-दिवस-भेदं चक्रवाकी शशंस ॥" ‡
(सुभाषितरत्न-भाण्डागार)

पिछले पद्यका भाव विहारीके दोहेसे बिलकुल मिलता जुलता है। "नलचम्पू"के इस वर्षावर्णनमें भी घनघोर घटाके अँधेरेमें दिनहीको रात समझकर वियोगभयसे व्याकुल चक्रवाकोंका चक्र (झुंड) चीख़ रहा है—

"......तिरस्कृततरणित्विषि विगलद्वारिविप्रुषि शान्त-चातक-तृषि श्यामायमान-दशदिशि दिवापि श्रूयमाण-रजनि-शङ्काकुल-चक्रवाक-चक्र-क्रुशि......जीमूत समये"
(नलचम्पू, प्रथम उच्छ्वास)

हिन्दी कवियोंका वर्षामें चक्रवाक वर्णनः—

'शंकर' ये बिथुरी लट हैं कि भई सजनी ! रजनी अँधियारी,
माल मनोहर मोतिन की उरझी उर पै कि बही सरिता री !।

---

‡ सघन मेघ समूहसे आकाशके घिर जाने पर—सब ओर मेघमण्डल छा जाने पर—†लोकमें सूर्य और चन्द्रमाका नामनिशानही मिट गया। रात-दिनका भेद—दिन है या रात इसका पता—चकवेसे मिलने और बिछड़नेपर चकवीही देती थी।

† यह दशा हो जाने पर—

(घिर घिर घन गरजत बार बार
चपला चमके तम टार टार।
"बन गया गगन-प्रकाश प्रवासी,
मावस फुरे न पूरन मासी।
छै छै रात न छिटकें तारे,
भानु दुरे दिन चार चार ॥") (शंकर)

दो कुच हैं कि दुकूलन पै "चकई चक" भोग रहे दुख भारी,
स्वेद चुचात कि 'पावस' तोहि बनाय गयो घनश्याम विहारी॥
(कविराज "शंकर" महाराज)

"दिन रैनिकी संधिन बूझिबेकी[को]मति 'कोक'तमी चुरवान लगी,
नदिया नदलौं उमड़ी लतिका तरु तैसेन पै गुरवान लगी।
कहु "सेवक" ऐसेमें कैसे जियै जेहिं कामतिया उरवा न लगी,
मति मोरिनी की मुरवान लगी गति बीजुरीको धुरवान लगी॥"
(सेवक कवि)

उर्दू-कवियोंने भी बर्सातमें चकवेका वर्णन किया है:—

"रुत है 'वर्सात' की बहुत प्यारी, मौज-ज़न झीलें नद्दियां सारी।
कोकला, बगले, कोयलें, ताऊस; अपनी तानें सुनाते हैं प्यारी।
क़ाज़ें,मुरग़ाबियां, बतें,"सुरख़ाब*" झीलोंके साथ करते हैं यारी॥"
(कुल्लियाते-मुनीर, शिकोहाबादी)

वर्षामें चक्रवाककी स्थिति सिद्ध करनेके लिये विहारीके इस दोहेपर 'बहुतसे लोग' तो क्या किसी एक 'लोग'को भी कष्ट-कल्पना करते नहीं सुना गया। इसमें कोई दोष ही नहीं है फिर दोष निकालनेके लिये कष्टकल्पना करनेकी किसीको क्या ज़रूरत पड़ी है!

सुरतिमिश्रने अमरचन्द्रिकामें इस दोहेपर प्रश्नोत्तर, बेशक लिखा है। वह भी इसलिये नहीं कि वर्षामें चक्रवाक नहीं होते, उसका अभिप्राय यह है कि—

"जब पावसके घने अन्धकारमें इतनी सघनता है कि रातमें और दिनमें कोई भेद ही नहीं समझ पड़ता, तो फिर चकवी चकवा कैसे दीख पड़ते हैं? जिन्हें देखकर रात दिनका भेद जाना जाता है, चकवी चकवा भी तो अन्धकारमें अदृष्ट रहने चाहियें।"

---

* सुरख़ाब = चकवा ("फ़रहंगे आसफ़िया" उर्दू भाषाका प्रसिद्ध विश्वकोष, भाग ३, पृष्ठ ६६)

इसके समाधानमें अमरचन्द्रिकाकारने "लखि" पदका सम्बन्ध सम्बोध्य पुरुषके साथ जोड़ा है—

—अर्थात् तुम देखो पावसके घने अन्धकारमें देखनेवालोंको रातदिनका कुछ भेद नहीं सूझ पड़ता, "चकई चकवानि राति द्यौस जान्यौ परै"—चकवी और चकवाहीको यह भेद जान पड़ता है। जब दिन होता है तो स्वाभाविक नियमानुसार चकवी चकवा आपसमें मिलते हैं। जब रात होती है तो बिछड़ते हैं।

किसी ने "लखि" पदका लाक्षणिक अर्थ 'सुनना' किया है। अर्थात् चकवा चकवीका शब्द सुनकर रात्रि दिवसका भेद जाना जाता है। इसी अर्थके आधारपर उक्त दोहेपर कृष्णकविका यह सुन्दर सवैया है। और किसी प्रकारकी "कष्टकल्पना" किसीने नहीं की। आशा है अब आप लोग भी इसे 'ग्राह्य' मानने लगेंगे।

सवैया

"अम्बुद "अनि दिसा विदिसा सगरे तमहीको वितान सों तान्यो,
मेचक रंग बसे जगमें अति मोद हिये निसिचारिन मान्यो।
पावसके घनके अँधियारमें भेद कछू न परै पहिचान्यो,
द्यौस निसाको विवेक सु तौ चकई चकवानके बोलतें जान्यो॥"

(कृष्णकवि)

\+ \+ \+

मेसर्स मिश्रबन्धु फिर फ़रमाते हैं—

"सिवा संस्कृतके कवि कालिदासके और बहुत लोगोंने गर्भवती नायिकाका वर्णन नहीं किया है, पर विहारीने वह भी कहा है।"

"दृग थिरकौहैं अधखुले देह थकौहैं ढार।
सुरत सुखित सी देखियत दुखित गरभके भार॥"
(हिन्दी नवरत्न पृ० २२३)

* * *

जी नहीं, आप लोग कुछ भूलते हैं, सिवा संस्कृतके कवि कालिदासके और बहुत लोगोंने भी गर्भवती नायिकाका वर्णन किया है। "भी"को "वह" के आगेसे हटाकर "और लोगोंने" के सामने रखिये, अर्थात् "केवल विहारीने ही नहीं और लोगोंने भी वह कहा है" ऐसा कहिये!

बाणने भी हर्षचरित में और कादम्बरीमें ऐसा वर्णन किया है, और कालिदाससे अधिक किया है। हिन्दीकवि भी इस वारेमें एकदम चुप नहीं रहे हैं, महाकविराज सुन्दरने भी इसका वर्णन किया है। (१११ पृष्ठपर सुन्दरका कवित्त देखिये)

रात्रिमें भ्रमरभ्रमण—

दोहा—अरी खरी सटपट परी बिधु आधे मग हेरि।
संग लगे मधुपन लई भागन गली अँधेरि॥ १६२॥

सवैया

"स्याम निसा सखि तैसोई साज सिंगारकै हौं पिय पास चलीरी,
त्यौं अधगैल उदोत भयो ससि देखत मो मति सोच लगी री।
पंकज छाँड़ि सुगन्धके लोभ लगी संग भौंरनकी अवली री,
ताही समै मग भागनि आयकै छाय लई उन कुंज गली री॥"
(कृष्णकवि)

विहारीके उक्त दोहेमें (जिसकी व्याख्या कृष्णकविके इस सवैयेमें है) कृष्णाभिसारिका रूपगर्विताका वर्णन है। इसमें रात्रिके समय भ्रमरभ्रमणकी चर्चा है। इसपर कोई 'रातमें भौंरों-का उड़ना कालविरुद्ध दूषण', समझकर आक्षेप करते सुने गये हैं। पर ऐसा समझना उचित नहीं है। रातमें भौंरोंका वर्णन कवि लोग बरावर करते हैं। जैसा नीचे उद्धृत पद्योंके प्रमाणसे सिद्ध है—

माघके वर्णनमें—"प्रणदितालिनि" वाक्यमें—मधुके प्यालेपर भौंरे गुंजार रहे हैं। दूसरे पद्यमें—चन्द्रमा मानिनीके मानको मारनेके लिये खिलते हुए कुमुदके कोषसे 'अलिश्रेणि' की तलवार खींच रहा है। केशवदासके कवित्तमें भौंरोंकी भीड़ फाड़े खाती है—

[१]

"कान्तकान्त-वदन-प्रतिबिम्बे भग्नबालसहकारसुगन्धौ ।
स्वादुनि प्रणदितालिनि शीते निर्ववार मधुनीन्द्रियवर्गः ॥"

(माघ १० । ३)

[२]

"अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि
स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः ।
प्रोद्यद्दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणात्
फुल्लत्कैरवकोषनिःसरद्-"लिश्रेणीकृपाणं" शशी ॥"

(साहित्यदर्पण ७म, परिच्छेद)

* * *

इसी पद्यका अनुवादस्वरूप यह सवैया किसी प्राचीन कविका है—

[३]

"सेत पहार अगार भये अवनी जनु पारद माहिँ पखारी,
होत हीं इन्दु उदोत लसै चहुं ओरतें सोर चकोरको भारी।
फूली कुमोद कली निकली अवली अलि की बलि मैं निरधारी
कोपिकै चन्द तियान के मानपै मानो मियानतें तेग निकारी॥"

[४]

कवित्त—"दुरि है क्यों भूषन बसन दुति यौवनकी
देह ही की जोति होति द्यौस ऐसी राति है,
नाहक सुबास लागे ह्वै है कैसी केसव, सु-
भावहीकी बास भौंर भीर फारे खाति है।
देखि तेरी सूरतिकी मूरति बिसूरति हौं
लालनके दृग देखिवेको ललचाति है,
चलि है क्यों चन्दमुखी कुचनको भार भये
कचनके भार तो लचक लंक जाति है॥"

(केसव, रसिकप्रिया)

[५]

"छाय रह्यो तम कारी घटान यों आपनो हाथ पसारि लखे को,
अंग रचे मृग के मद सों मनि मरकत भूषन साजि अँके को।
नील निचोलन की छबि छाजति त्यौं "भ्रमरावली" सों सग छेको,
सावन की निसि साहस कै निकसी मन भावन के मिलिवे को॥"

उपसंहार

तुलनात्मक समालोचना और दोष-परिहार प्रकरणको पढ़कर कई सज्जन लेखकपर विहारी-विषयक अन्धभक्ति और पक्षपातके दोषका आरोप करते हैं। संस्कृतके कुछ विद्वान् इसे संस्कृत-कवियोंका अपमान समझते हैं कि संस्कृत कवियोंकी सूक्तियोंसे विहारीके दोहोंकी तुलना की गयी! लेखक पहले (२२पृ० पर) इस विषयमें निवेदन कर चुका है—'सहृदयताकी पेशगी दुहाई' दे चुका है—कि तुलनात्मक समालोचनाका उद्देश्य भारतीय साहित्यके विधाता संस्कृत-कवियोंका अपमान करना नहीं है, उनपर लेखककी विहारीसे भी अधिक पूज्य-बुद्धि है, संस्कृत-कवियोंके भावके साम्यको ही वह विहारीके काव्योत्कर्षका कारण समझता है। संस्कृत कवि "उपमान" हैं। विहारी "उपमेय" हैं। 'उपमान' और 'उपमेय" में जो भेद है, वह स्पष्ट है। कहीं कहीं जो "व्यतिरेक" प्रदर्शन है, वह मतिभ्रममूलक हो सकता है, बुद्धि-पूर्वक पक्षपातजन्य नहीं।

फिर 'प्रतिभा' विधाताका प्रसाद है। जिसे भी मिल जाय, जहां और जब मिल जाय। इसमें देश, काल, जातिविशेष या भाषाविशेषके साथ उसने सदाके लिये कोई ठेकाभी नहीं किया है—किसीको हमेशाके लिये "पेटेन्ट" अधिकार नहीं दिया है।

कितने "दोषज्ञों" की शिकायत है कि विहारीके गुण तो बहुत गाये, कुछ दोष भी तो दिखाये होते!

"ऐब भी उसका कोई आख़िर करो यारो! बयां,
सुनते सुनते ख़ूबियां जी अपना मतलाने लगा।"

बात बहुत कुछ माकूल है, पर "दोषज्ञता"—वह भी साहित्य-की—बहुत बड़ी बात है। यह सर्वज्ञकल्प आचार्योंका ही काम है,

इसमें–'दोषज्ञता' के आवेशमें–सहसा हाथ डालनेसे अनर्थकी–कविकेसाथ अन्यायकी—अधिक सम्भावना रहती है।

बड़े बड़े सम्भ्रान्त दोषज्ञोंके उद्भावित दोषोंकी बानगी "दोषपरिहार" में देख ही चुके हैं, यही दशा अन्य कल्पित या सम्भाव्य दोषोंकी हो सकती है। फिर ऐसे प्रसंगमें दोषप्रदर्शन कोई ऐसा आवश्यक या स्पृहणीय गुण भी नहीं, आखिर श्रीहर्षने कुछ समझकर ही यह कहा है—

"*गुणेन केनापि जनेऽनवद्ये; दोषांतरोक्तिः खलु तत्खलत्वम्*"

इसके अतिरिक्त कभी कभी दोषप्रदर्शनसे लाभ कम और हानि अधिक हो जाती है, प्रायः सुकुमारमति काव्यप्रेमी भ्रममें पड़ जाते हैं—वीतश्रद्ध होकर काव्यामृतसे पराङ्मुख हो बैठते हैं।

हिन्दी साहित्यके पाठकोंमें अभी ऐसे शिवसंकल्पशाली बहुत ही कम हैं जो काव्य-क्षीरसागरके मन्थनसे उत्थित दोष-गरलको गलेमें रख कर पचा जायँ और गुण-चन्द्रको माथेपर धारण करके इस श्लोकका उदाहरण बननेकी क्षमता दिखा सकें—

"*गुणदोषौ बुधो गृह्णन्निन्दुक्ष्वेडाविवेश्वरः ।*
शिरसा श्लाघते पूर्वं परं कण्ठे नियच्छति ॥"

इत्योम्

सतसई-संहार

सहृदय पाठकगण ! यह बात अतिप्रसिद्ध है कि वृजभाषाके साहित्यमें "विहारी-सतसई" का दर्जा बहुत ऊँचा है। अनूठे भाव और उत्कृष्ट काव्य-गुणोंकी वह खान है, 'व्यङ्ग्य' और 'ध्वनि' का आकर है। संस्कृत-कवियोंमें कवि-कुल-गुरु भगवान् कालिदास जिस प्रकार शृंगार-रस-वर्णन, प्रसादगुण, उपमालङ्कारादिके कारण सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं, उसी प्रकार हिन्दी-कवियोंमें श्रीयुत महाकवि विहारीलालजीका आसन सबसे ऊँचा है। शृंगाररस-वर्णन, पदविन्यासचातुर्य्य, माधुर्य्य, अर्थगाम्भीर्य्य, स्वभावोक्ति और स्वाभाविक बोलचाल आदि ख़ास गुणोंमें वह अपना जोड़ नहीं रखते। व्रजभाषाकी मधुरता तो जगत्प्रसिद्धही है फिर उसमें विहारी-की-कविता ! "हेम्नः परमामोदः" सोने और सुगन्धका योग है ! अथवा रत्नजटित स्वर्णके कटोरेमें मिसरीका शर्बत, नहीं, अमृतरस, भरा हुआ है, जिसका पान करते ही मन तन्मय होजाता है। आलङ्कारिकोंने जो काव्यरसको 'ब्रह्मानन्दसहोदर' माना है, उसकी सत्यताका साक्षी अन्तःकरण बन जाता है।

परन्तु बड़े खेद और दुर्भाग्यका विषय है कि कुछ अनधिकारी महापुरुषोंने उस कटोरेमें धूल और कीचड़ मिलाकर उसे दूषित और भ्रष्ट करनेका काम प्रारम्भ कर दिया है ! इस सभ्यताकी सदी-में प्राचीन महाकवियोंके न जाने कौनसे दुष्कर्मोंका फल उन्हें मिल रहा है, जो इस प्रकार उनकी कविता-कामिनीपर बलात्कार किया

जा रहा है! उनकी कीर्त्ति-चन्द्रिकामें कालिमा पोतनेके नित्य नये नये ढंग निकल रहे हैं! मानो आजकलके इसी करुणोत्पादक दृश्यको दिव्यदृष्टिद्वारा देखकर कवि-तार्किक-शिरोमणि श्रीवाचस्पति-मिश्र, ऐसे महापुरुषोंसे यह हृदयद्रावक प्रार्थना कर गये हैं, वाचक-वृन्द! ज़रा हृदय थामकर सुनिये—

"क्रूरा: ! कृतोऽञ्जलिरयं बलिरेष दत्त:
कायो मया प्रहरतात्र यथाभिलाषम् ।
अभ्यर्थये वितथवाङ्मयपांशुवर्षै-
र्मामाविलीकुरुत कीर्त्तिनदी: परेषाम् ॥" *

* * *

धन्य थे ऐसे उदार-हृदय महानुभाव, जो अपना शरीर देकर भी औरोंकी कीर्त्ति बचानेका प्रयत्न करते थे!

इस समय इस प्रकारके प्रयत्नकी और भी अधिक आवश्यकता है। क्योंकि पूर्वकालमें किसीकी कीर्त्तिको कलङ्कित करनेके इतने सुलभ साधन कहां थे, जितने कि अब हैं! इन साधनोंमें प्रेसको सबसे मुख्य समझना चाहिये। दूसरे देशोंमें योग्य मनुष्योंके हाथमें प्रेसका प्रबन्ध होनेसे उन देशोंको प्रेससे चाहे लाभ ही लाभ पहुँचा हो, परन्तु हमारे हतभाग्य देशको इससे जहां थोड़ा बहुत लाभ पहुँचा है, वहां प्राय: हानि अधिक पहुँची

---

* हे क्रूर पुरुषो! हाथ जोड़कर तुमसे प्रार्थना करता हूं कि निरर्थक-असत्य वचनों की धूल बरसा बरसा कर, दूसरों की कीर्त्तिरूप नदियोंको गदली मत करो। इसके बदले मैं अपना यह शरीर तुम्हारी भेट करता हूं, जैसे चाहो इस पर प्रहार करो, काटो छाँटो। इस प्रकार तुम्हारी बुरी वृत्ति भी चरितार्थ हो जायगी और दूसरोंकी कीर्त्ति भी बच जायगी।

है। इसीके द्वारा तो भ्रष्ट और अशुद्ध पुस्तकोंका प्रचार दिन दिन बढ़ रहा है ! इसीके प्रसादसे तो प्राचीन महाकवियोंके काव्योंकी कलङ्क-स्वरूप महाअशुद्ध टीकाएं प्रचार पा रही हैं ! यन्त्रालयाध्यक्ष या तो अनभिज्ञतासे, या लोभान्ध होकर, साहित्यको भ्रष्ट करनेवाले इस अनर्थकी ओर ध्यान नहीं देते ।

सर्वसाधारणके धन तथा समयकी रक्षा करनेवाले सत्समालोचकों के अभावसे अथवा मौनसे, यह व्यापार सांक्रामिक रोगकी तरह और भी तेज़ीसे बढ़ रहा है। इसके रोकनेके लिये एक अच्छे 'समालोचक पत्र'की आवश्यकता है, जिसमें प्राचीन काव्योंपर निकलनेवाली दुष्ट टीकाओंकी अच्छे प्रकार समालोचना की जाया करे। पर यह हो कैसे ! इस ओर लोगोंका ध्यान ही नहीं, यदि कोई किसी ऐसी पुस्तककी समुचित समालोचना करनेका साहस कर भी बैठे, तो समालोच्य विषयपर पक्षपातरहित होकर ध्यान देना तो एक ओर रहा, उलटा बेचारे समालोचकके ही पीछे हाथ धोकर पड़ जाते हैं ! हिन्दी-साहित्य-जगत्में इसके उदाहरणोंकी कमी नहीं है।

अस्तु। तथापि हमें यथाशक्ति प्राचीन कवियोंकी कीर्त्तिरक्षाका उपाय करना चाहिये, उनकी प्राण-प्रिया कविताको अनधिकारियोंके बलात्कारसे बचानेका प्रयत्न करना चाहिये, फल ईश्वराधीन है:—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।"

पाठक महोदय ! पण्डितराजकी यह उक्ति—

"नैर्गुण्यमेव साधीयो धिगस्तु गुणगौरवम् ।
शाखिनोन्ये विराजन्ते छिद्यन्ते चन्दनद्रुमाः ॥"

आजकल, कालिदास और विहारीलालकी दशापर भली भाँति चरितार्थ हो रही है। अन्य कवियोंको छोड़कर, कुछ लोग इन्हीं दोके पीछे पड़े हैं।

बहुत लोगोंकी राय है कि "किसीकी कृतिमें दोषोद्घाटन करना बुरी बात है। मनुष्यका कोई काम सर्वथा निर्दोष हो ही नहीं सकता। इसलिये जिस प्रकार हंस पानीमेंसे दूध ग्रहण कर लेता है, वैसे ही मनुष्यको भी सारग्राही होना चाहिये।"

अथवा—

"धावतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।

हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधवः॥"

अर्थात् दौड़ते हुए आदमीका कहींपर गिर जाना सम्भव है। वहां बुरे आदमी तो गिरनेवालेपर हँसने लगते हैं और भले आदमी, उसे सँभालते हैं।

यह मत बहुत ठीक है, ऐसा ही होना चाहिये। परन्तु जहां 'पानी'में दूध बिलकुल ही न हो, 'दूध' के स्थानमें 'सेलखड़ी' या 'खड़िया मिट्टी' घुली हो, (जिससे दूधका भ्रम होता हो!) वहांसे हंस क्या ग्रहण करे? और जो आदमी साफ़ सुथरी सड़कपर चलता हुआ भी बार बार पद पदपर ठोकरें खाकर मुँहके बल गिरता है उसे कोई कहाँतक सँभाले। उससे तो यही कहना पड़ेगा कि "भई! पहले तुम अपना इलाज कराओ, टाँगोंमें बल आने दो, फिर, चलनेकी कोशिश करना। तुममें चलने फिरनेतककी ताक़त तो है नहीं, और तुम आंख मीचकर दौड़ना चाहते हो, यह अच्छा नहीं करते।"

और यदि वह चलने फिरनेमें असमर्थ आदमी, किसी दूसरे पुरुषके ऐसे पात्रको जिसमें कि उस पात्रके स्वामीका सर्वस्वभूत

और सर्वोपयोगी कोई रसमय पदार्थ भरा हो, इस दौड़धूपमें लेकर गिर पड़े, तो इस दशामें वह स्वयं तो चोट खायगा ही, पर उस पदार्थको भी नष्ट भ्रष्ट कर देगा!

अर्थात् कोई मनुष्य यदि अपनी स्वतंत्र-रचनामें किसी विशेष प्रकारकी त्रुटि रहने देता है,या भारी भारी अशुद्धियां करता है, तो इससे वह अधिकतर अपनी ही हानि करता है। अपने ही ग्रन्थको अनुपादेय बनाता है, और अपनी ही अनभिज्ञता प्रकट करता है। परन्तु यही बात यदि किसी प्राचीन ग्रन्थकी टीका या अनुवादमें की जावे तो अनुवादक या टीकाकार अपनी अज्ञताका प्रकाश करनेके साथ साथ ग्रन्थकर्त्ताके नामको भी कलङ्क लगाता है, उसे ऐसी पब्लिकमें जो उससे अच्छी तरह वाक़िफ़ नहीं है, बदनाम करता है और उसपरसे सर्वसाधारणकी श्रद्धाको कम करता है। क्या ऐसी अवस्थामें भी चुप ही रहना ठीक है?

"मनागनभ्यावृत्त्या वा कामं क्षाम्यतु यः क्षमी।
*क्रियासमभिहारेण विराध्यन्तं क्षमेत कः॥"**

* * *

किसी पुस्तककी दस बीस साधारण अशुद्धियां क्षन्तव्य हो सकती हैं, पर जो पुस्तक सब प्रकारके दोषोंसे "सर्वांगभूषित" हो और "सर्वसाधारणकी बुद्धिमें कविवरका आशय प्रगट हो जाय" इस निमित्त सर्वसाधारणके उपयोगार्थ बनी हो, उसके गुण दोष, सर्वसाधारणपर अवश्य प्रकट होने चाहियें।

---

*"जो क्षमाशील पुरुष है, वह कई बार थोड़ा थोड़ा अपराध करनेवाले-को या एक बार बहुतसा अपराध करनेवालेको भले ही क्षमा करदे, पर बार बार और एकसे एक बढ़कर अपराध करनेवाले आदमीको कोई कहाँ तक क्षमा करे!"

सतसई की वह टीका जिसपर हम इस समय कुछ लिखना चाहते हैं, खेद है कि इसी प्रकारकी है। उसमें दोहोंके अर्थोंका अनर्थ और भावोंका अभाव है। यद्यपि टीकाकार महाशय अलङ्कारोंका नाम नक़ल करते गये हैं, जिससे यह तो पता चल जाता है कि यहां अमुक अलङ्कार था, पर उन्हें इस प्रकार तोड़ा मोड़ा गया है कि उनकी सूरत नहीं पहचानी जाती!

"दिल चाक चाक करके मुझसे वह कह रहे हैं।
यह दिल अगर तेरा है पहचान सामने है॥"

❀ ❀ ❀

'कौन किससे कह रहा है' अथवा किसका वर्णन है, इस अत्यन्त आवश्यक बातको, जिसे सब प्राचीन टीकाकारोंने लिखा है और जिसके निर्देशकी 'सतसई' जैसे कोषात्मक काव्यकी टीकामें बड़ी ज़रूरत है, बिलकुल ही छोड़ दिया है। मूलपाठको भी शुद्ध नहीं रहने दिया। उसे भी बहुधा भ्रष्ट करके सन्निवेशित किया है। यह दशा दस पांच जगह नहीं, किन्तु प्रायः सब ग्रन्थमें आदिसे अन्ततक समानरूपसे वर्त्तमान है।

उसमें यदि कोई ख़ूबी है तो यही है कि वह एक सुप्रसिद्ध यन्त्रालयमें, मोटे काग़ज़पर, सुपाठ्य अक्षरोंमें, छपी है। अकारादिक्रमसे दोहोंका सूचीपत्र भी उसमें है, और बस। हां, कहीं कहीं कोई कोई दोहा जो दुर्दशासे बच गया है, उसेभी "अपदोषतैव विगुणस्य गुणः"के अनुसार गुण मान सकते हैं। समालोच्य पुस्तकका पूरा पता देनेके लिये, हम उसके टाइटिल पेजको ही नक़ल किये देते हैं। ज़रा ध्यानसे पढ़िये:—

[टाइटिल पेजकी नक़ल]

विहारी--सतसई ।

भावार्थप्रकाशिकाटीकासहित

जिसको

विद्वद्वृन्दाशिरोमणि—विद्यावारिधि श्रीमत्

पं० ज्वालाप्रसादजी मिश्रने अति ललित

मधुर मुग्धटीकासे सर्वांगभूषित किया है ।

वही

नायकाभेद—अलंकारवर्णन समेत,

(प्रथमबार)

खेमराज श्रीकृष्णदासने

बंबई

निज "श्रीवेङ्कटेश्वर" छापाखानामें

मुद्रित कर प्रगट किया ।

कार्तिक संवत् १९६०, शके १८२५

पाठकवृन्द ! अघटनघटनापटीयसी भगवती भवितव्यता बड़ी प्रबल है ! आदमी सोचता कुछ है और हो कुछ जाता है ! वह एक सुन्दरीको 'अतिललित मधुर मुग्ध' 'अलङ्कारों'से सर्वाङ्गभूषित करना चाहता है पर उलटा उसका सिर मूँडकर उसे अतिविकृताकार बना डालता है !

जिसप्रकार समुद्रमें पड़कर वाडव-ज्वालासे, भागीरथीका सुधासे भी मधुर जल, खारी होजाता है, वही दशा विद्यावारिधिजीकी ज्वालाके प्रसादसे विहारीकी अमृत-प्रवाहिणी कविता-तरंगिणीकी हो गयी है। कोई ऐसा आदमी जो विहारीकी कविताको मूलपर नहीं समझ सकता, या जिसने उसकी अन्यान्य टीकाएँ नहीं पढ़ी हैं, वह यदि विद्यावारिधिजीकी टीकाको पढ़कर अपनी राय क़ायम करना चाहे तो यही कहेगा कि—

"बहुत शोर सुनते थे पहलूमें दिलका,
जो चीरा तो एक क़तरए-ख़ूं न निकला !"

"जिस सतसईकी इतनी प्रशंसा सुनते आते हैं, जिसपर इतने कवि विद्वानोंने टीकाएँ लिखी हैं, क्या वह यही सतसई है, जिसकी "अति ललित मधुर मुग्ध टीका" हम विद्यावारिधिजीसे सुन रहे हैं।"

उस पुरुषकी यह धारणा ठीक उसी प्रकारकी होगी जैसे कि कोई पुरुष, पण्डितराजकी गंगालहरीमें—

"सुधातः स्वादीयः सलिलभरमातृप्ति पिबतां,
जनानामानन्दः परिहसति निर्वाणपदवीम् ।"

इत्यादि वचन पढ़कर गंगोत्तरी, हृषीकेश आदि स्थानोंमें गंगाका दर्शन और जलपान न करके "गंगासागर-संगम"पर पहुँचकर गंगोदकके बारेमें अपनी राय क़ायम करे !

अन्य प्राचीन टीकाओंकी मौजूदगीमें इस अपूर्व टीकाकी क्या आवश्यकता थी, इसका कारण स्वयं विद्यावारिधिजीसे सुनिये। कहते हैं—

"परन्तु इन टीकों में पद्यरचना विशेष और गद्यरचना न्यून होनेसे कठिनपर कठिनाई पड़नेसे वे सर्वसाधारणके उपयोगी नहीं हुए हैं, और इसी कारण अतिरसीली होनेसे भी सतसई घर घर नहीं विराजती है, सर्वसाधारण की बुद्धिमें कविवर का आशय प्रगट होजाय इसी निमित्त सर्वसाधारणके उपयोगी भावार्थ प्रकाशिका टीका निर्माण कर साथमें कठिन शब्दोंके अर्थ अलंकारादि लक्षण पर और स्वनिर्मित दोहोंमें लिखकर पुनरुक्तिसे उसका विस्तार नहीं किया है, और विभाव अनुभावादि का उल्लेखमात्र करके उसके समझनेके निमित्त "साहित्य परिचय" नामका एक पृथक् प्रबन्ध लिखा है, भावार्थ और अक्षरार्थ बहुत सरल हो इसपर विशेष दृष्टि रक्खी है,..........."साहित्यपरिचयसे काव्यलक्षण रसनिरूपण नायकाभेद अलंकारादिका ज्ञान पाठकोंको सहजमें होजायगा"...........
"परन्तु भावार्थ अक्षरार्थ जाननेके लिए पाठकों को यह अति उपयोगी होगा ऐसी मुझे दृढ़ आशा है..........." (भूमिका)

यह तो आगे चलकर मालूम होगा कि आपके टीके (?) से कविवरका आशय सर्वसाधारणकी बुद्धिमें किस प्रकार प्रकट हुआ है, अथवा और गुम हुआ है! पर एक आपने बड़ी ही दया की, जो "स्वनिर्मित दोहे लिखकर पुनरुक्तिसे उसका विस्तार नहीं किया"! महाराज! आपकी तो गद्य-हिन्दी ही नहीं समझी जाती, फिर आपके 'स्वनिर्मित' दोहे कौन समझता? न मालूम उनके लिये कितने टीकों (?) की ज़रूरत होती! अब भी आप अच्छे समझे "जो कठिन पर कठिनाई नहीं डाली"! यह वाक्य लिखकर आपने लोगोंके एक बड़े भारी भ्रमको दूर कर दिया। सम्भव था कि कोई यह समझ बैठता कि आप पद्यमें टीका नहीं लिख सकते,

इसलिये गद्यमें लिखी है। सो अब लोग जान गये कि यह बात नहीं, कि आप पद्य नहीं लिख सकते, किन्तु सर्वसाधारणपर दया करके ऐसा नहीं किया। इसके लिये आपको बहुत बहुत धन्यवाद है।

अच्छा, अब ज़रा सावधान होकर, विद्यावारिधिजीका "साहित्य-परिचय" सुन लीजिये। कहते हैं—

"सतसई में साहित्य विषयक जो वर्णन आया है उसको संक्षेपसे वर्णन करते हैं साहित्य दर्पणमें 'वाक्यरसात्मककाव्यम्' और काव्यप्रकाश में "तददोषै शब्दार्थौ सगुणवनलंकृतिः पुनः क्वापीति" और रसरहस्यके कवि कहते हैं।

जगतें अद्भुत सुखसदन, शब्दरु अर्थ कवित्त।

....

......इसमें जगत्से अद्भुत सुख लोकोत्तर चमत्कारका ही नाम काव्य कथन हुआ है,.........'

ज़रा ठहरिये, इतनी जल्दी एक साँस पाठ कर जानेसे सर्वसाधारण न समझ सकेंगे। पहले यह बताइये कि श्रीमान्‌ने यह दो संस्कृत-वाक्य क्यों उद्धृत किये थे? इनसे क्या अपराध हुआ जो आपने इनकी बुलाकर बात तक न पूछी? सर्वसाधारण इसका कुछ अर्थ न समझे! कहीं यह बात प्रकट करनेके लिये ही तो इन्हें तकलीफ़ नहीं दी गयी कि जिससे सर्वसाधारण जान जायँ कि आपकी पहुँच "साहित्यदर्पण" और 'काव्यप्रकाश' तक है? अस्तु, महाराजजी! 'वाक्यरसात्मककाव्यम्' यह वाक्य कौनसे 'साहित्य-दर्पण में है? 'विश्वनाथ' वाले साहित्यदर्पणमें तो "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" यह पाठ है। सम्भव है, आपकी पुस्तकमें वैसा ही पाठ रहा हो, तब 'वाक्यरसात्मककाव्यम्' इस 'समस्त-पद'का अर्थ क्या

होगा ? और "तददोषै शब्दार्थौ सगुणवनलंकृतिः पुनः कापीति ।" * इसमें "तददोषै"—(?) का सम्बन्ध किसके साथ है ? तथा "सगुणवनलकृतिः" (?) क्या चीज़ है ? कृपा करके कुछ बतलाइये तो ? " जिस कवितामें रस सुख लोकोत्तर चमत्कार है वही काव्य कहाता है " आपके इस लोकोत्तर वाक्यसे जाना जाता है कि 'कविता' और 'काव्य' में कुछ भेद ज़रूर है, सो आप ही जानते होंगे।

पाठकगण ! 'साहित्य-परिचय' में आगे चलकर जो दोहे लिखे हैं, वे टीकाकारके अपने तो हैं नहीं, क्योंकि वह स्वयं अपने दोहे न लिखनेका कारण बतला चुके हैं, पर आपने यह भी नहीं लिखा कि वे कहांसे लिये गये हैं। इसके अतिरिक्त जो कुछ है वह प्रायः 'साहित्यदर्पण'के कुछ श्लोकोंका अतिदूषित अनुवाद है। कहीं कहीं आपने अपनी ओरसे भी कुछ कुछ बढ़ाया है। 'साहित्यदर्पण' का नाम लेनेकी आपने ज़रूरत नहीं समझी। ऐसी दशामें यह अच्छा ही हुआ, नाम ले देनेसे साहित्यदर्पणकी कौनसी इज़्ज़त बढ़ जाती ! उसे और लज्जित ही होना पड़ता ! "वाक्यरसात्मकं काव्यम्" की दुर्दशापर ही उसे अफ़सोस है, कि ऐसी दशामें उसे क्यों बदनाम किया गया ! अस्तु। रसोंका कुछ नीरस हाल लिखकर आप फ़र्माते हैं—

" इसके आगे काव्यकी ध्वनि व्यंजना लक्षण (?) का विस्तार होता है परन्तु हम सतसईमात्रका विषय संक्षेपसे दिखाते हैं " (सा० प० पृ० २४)

---

* यह राख, मिश्र-महोदयकी प्रमाद-ज्वालामें जले हुए इस स्वर्गवासी वाक्य की है—

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।"

फिर इसके आगे चलकर ३० वें, पृष्ठ पर लिखते हैं—

"इसके आगे ध्वनि अर्थ लक्ष्य व्यंजनादिके अनेक विषय चलते हैं परन्तु यहां अब प्रयोजनीय अलंकार विषय कहते हैं।"

चलते होंगे, आपके रामको इसके क्या प्रयोजन! उधर न देखिये, अंगूर खट्टे हैं! आप 'सतसईमात्र' का विषय संक्षेपसे दिखाइये। आपने तो ध्वनि आदिका नाम लेकर उनकी याद भी व्यर्थ दिलायी। अब जब कि आप जिक्र छेड़ ही बैठे तो बातपर बात याद आगयी। क्यों महाराज! 'सतसईमात्र' में ध्वनि, व्यञ्जना या लक्षणा का पता नहीं? अर्थात् अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना, शब्दकी ये तीनों शक्तियां, और वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य, ये तीन प्रकारके अर्थ, सतसईमें नहीं है? इसीलिये आपने अपने 'साहित्यपरिचय' में (जो 'सतसईमात्र' का विषय समझानेके लिये लिखा गया है!) इनको स्थान नहीं दिया? फिर उसमें और है क्या? व्रजभाषाके जाननेवाले बड़े बड़े विद्वान् तो कहते हैं कि सतसई अत्युत्कृष्ट काव्य है और काव्यके दो ही उत्तम भेद हैं, जैसा कि साहित्यदर्पणकार लिखते हैं—

"*काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यङ्ग्यञ्चेति द्विधा मतम्* ॥"

आप 'ध्वनि' आदिको 'सतसईमात्र' का विषय ही नहीं बतलाते, इससे उसकी काव्यता भी गयी! आपने अपनी इस प्रतिज्ञाको टीकामें खूब निवाहा है। चाहिये भी ऐसा ही। आदमी जो बात कहे, उसे सांगोपांग पूरी उतार दे। आपकी टीका पढ़नेसे यही प्रतीत होता है कि सतसईमें ध्वनि आदि कुछ नहीं। इस दशामें यदि कोई आपसे कुछ कहने लगे तो आप कह सकते हैं कि, "भई! तुम पहिले मेरी टीका आद्योपान्त पढ़ जाओ। उसमें यदि कहीं भी ध्वनि आदिकी गन्ध तुम्हें मिल जाय, तब मुझसे कहना! सतसईको जैसा मैं समझता हूं वैसी ही उसकी टीका की है,

है. लोगोंकी रायका मैं ज़िम्मेदार नहीं, वह उसे कैसा ही समझा करें"। ठीक है बस हम भी चुप हैं।

अच्छा, अब साहित्य-परिचय सुनिये। २६ पृष्ठपर नायिकाओंका भेद बतलाते हुए विद्यावारिधिजी आज्ञा करते हैं—

"और अधीरा कठोर वचन कहती है यह सबमें लगा लेना।"

बहुत अच्छा, जो आज्ञा, सबमें लगा लेंगे। अर्थात् धीरा कठोर वचन कहती है, अधीरा कठोर वचन कहती है, धीराधीरा कठोर वचन कहती है, कहां तक गिनावें नायिकामात्र कठोर वचन कहती है। कठोरवादिता उनका स्वाभाविक गुण है, वह उनसे किसी प्रकार, किसी अवस्थामें दूर नहीं हो सकता!" क्यों महाराज! इसी प्रकार लगा लें न?

"प्रगल्भा यदि धीरा होती है तो क्रोध छिपाकर बहुत आदर दिखाती है।

आपके इस वाक्यमें भी वह लगा लें? तब तो यों कहना होगा—"प्रगल्भा यदि धीरा होती है तो क्रोध छिपाकर बहुत आदर दिखाती है, कठोर वचन कहती है"! पर यदि कोई इसका अर्थ पूछने लगे तो क्या कहा जाय? कठोर वचन कहकर आदर कैसे दिखाया जाता है? ख़ैर कुछ चिन्ता नहीं, कह देंगे कि विद्यावारिधिजीकी ऐसी ही आज्ञा है—

"*अविद्यावारिधीयन्तु भवति यथान्यासमेवास्तु।*"

\+ \+ \+

"स्वाधीन-भर्तृका" का विलक्षण लक्षण सुनिये—

"जो अपने स्वामीके सदा प्रेममें आधीन रहे यह स्वाधीन-भर्तृका।" (सा० प० पृ० २७)

यह लक्षण किस साहित्यमें लिखा है? ज़रा इस शब्दकी व्युत्पत्तिपर तो ध्यान दीजिये। विश्वनाथजीसे तो पूछिये, वह क्या कहते हैं—

"कान्तो रतिगुणाकृष्टो न जहाति यदान्तिकम् ।
विचित्रविभ्रमासक्ता सा स्यात् स्वाधीनभर्तृका ॥"

अर्थात् रतिगुणाकृष्ट कान्त जिसके पाससे न टले, वह 'स्वाधीनभर्तृका' है । आपकी बोलीमें-'जिसके प्रेमके आधीन(?) सदा स्वामी रहे, वह—(स्वाधीनो भर्त्ता यस्याः सा, 'नद्यृतश्चेति' कप्)—

'प्रोषितभर्तृका' का लक्षण भी सुनने लायक है "जिसका पति कार्यवश परदेश गया हो उसकी कामार्त्त स्त्री प्रोषितभर्तृका कहाती है"। 'उसकी' किसकी ? जिस (पुरुष)का पति कार्यवश परदेश गया हो (वह स्वयं घरपर ही मौजूद हो ?)—उस पुरुषकी स्त्री प्रोषितभर्तृका, अथवा जिस (स्त्री)का पति परदेश गया हो उस (स्त्री)की—(वह स्वयं नहीं किन्तु उसकी स्त्री ! !)कामार्त्त स्त्री-प्रोषितभर्तृका कहाती है ! तीसरी तरह आपकी इस 'उसकी'की खपत हो नहीं सकती !

विद्यावारिधिजी ! यह आप किस लोककी रीतिका वर्णन कर रहे हैं ? इस लोकमें तो पतिका पति, या स्त्रीकी स्त्री होते नहीं !!!

पाठकवृन्द ! "जिसका पति कार्यवश परदेश गया हो, वह कामार्त्ता स्त्री 'प्रोषितभर्तृका' कहाती है ।"—

इस सीधी सी बातको अपनी अपूर्व शब्दस्थापना द्वारा विद्यावारिधिजीने कैसा जटिल बना दिया ! आपको आशा है कि यह विहारीके काव्यका ठीक अर्थ करेंगे !

× × ×

अच्छा, अब " भाव " आदिका भी कुछ कुछ 'भाव' विद्यावारिधिजीसे सुन लीजिये—

"भाव—निर्विकारात्म चित्तमें पहला विकार (विभाव ?) भ्रू नेत्रादिके विकारसे सम्भोगकी इच्छा प्रगट करनी थोड़ा संलक्ष्यका विकार हाव है। खेलादिके अत्यन्त प्रगट विकारका नाम हेला है ।"

वाचक महोदय ! इन लक्षणोंका भाव आप समझे ? विकार और भ्रूनेत्रके बीचों बीच, ब्रैकिटके बरान्डेके अन्दर जो यह 'विभाव देव' विराजमान हैं, यह बेचारे किसके यहाँ महमान हैं ? और यह "खेलादिका अत्यन्त प्रगट विकार" क्या बला है ? साहित्यदर्पणमें तो—

"हेलात्यन्तसमालक्ष्य-विकारःस्यात् स एव तु ।"

अर्थात् जिसमें विकारके चिह्न अतिस्पष्ट प्रतीत होने लगें ऐसा भाव ही "हेला" कहलाता है। इसमें खेल कूदका कहीं नाम भी नहीं। "लीला" का ललित लक्षण सुनिये—

"अङ्ग वेष अलंकार धारणपूर्वक प्रीतियुक्त प्रेमभरे वचन कहकर प्रियकी अनुकृतिका नाम लीला है।"

क्या बात हुई ? 'अङ्ग वेष अलङ्कार धारणपूर्वक' इसका क्या अर्थ हुआ ? 'अङ्गधारणपूर्वक' वेषधारणपूर्वक इत्यादि, यही अर्थ होगा न ? पर 'वेषधारण' 'अलङ्कारधारण' का तो कुछ अर्थ हो भी जायगा, इस 'अङ्गधारण' का क्या होगा ? और 'प्रीतियुक्त प्रेमभरे वचन कहकर'—यहाँ प्रीति और प्रेममें क्या भेद है ? पाठक ! यह अपूर्व लीलामयी व्याख्या साहित्यदर्पणके जिस श्लोककी है, वह यह है—

"अङ्गैर्वेषैरलंकारैः प्रेमभिर्वचनैरपि ।
प्रीतिप्रयोजितैर्लीलां प्रियस्यानुकृतिं विदुः ॥"

\+ \+ \+

अब 'विलास' की बारी (शामत !) आयी—

"इष्टके देखनेसे यान, स्थान, आसनादि तथा मुख नेत्रादिकी विशेष विचित्रताका नाम विलास है।"—

कैसा अच्छा लक्षण है! इष्ट, यान, आसन, स्थान, इन पदोंका अर्थ लिखनेकी आपने ज़रूरत नहीं समझी! "इष्ट" वस्तु अनेक प्रकारकी होती हैं। यथा– धन, विद्या, स्त्री, पुत्र आदि। इसी प्रकार "यान" भी व्योमयान, धूमयान आदि भेदसे अनेक प्रकारका होता है। 'स्थान'के भी कई अर्थ हैं। यथा—कण्ठताल्वादि, गृह आदि। रहा 'आसन'। सो वह भी कुशासन, ऊर्णासन, पीठासन, तथा वीरासन, उष्ट्रासन और सिंहासन आदि अनेक भेदोंमें विभक्त है!

साहित्यदर्पणके जिस श्लोकका यह 'सरस' अनुवाद वारिधिजीने किया है, वह इस प्रकार है—

"यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम् ।
विशेषस्तु विलासः स्यादिष्टसन्दर्शनादिना ॥"

अर्थात् प्रियको देखने आदिसे, (प्रियाके) चलने, खड़े होने, और बैठनेमें, तथा मुखनेत्रादिकी क्रियामें कुछ विशेषता—तबदीली—आजाय इसका नाम "विलास" है।

\+ + +

"मोट्टायित" का लक्षण सुनिये—

"प्रीतमकी कथादिमें भाव रखकर कान आदिके खुजाते जानेका नाम मोट्टायित है।"

अर्थात् विद्यावारिधिजीके मतसे इस भाव (मोट्टायित) में "कान आदिका खुजाते जाना" लाज़मी शर्त है, मोट्टायितका प्रधान लक्षण है! परन्तु सतसईके २५१ वें दोहेकी चोटीपर विद्यावारिधिजीने स्वयं "मोट्टायित हाववर्णन" लिखा है, उसमें इस 'कान खुजाते जाना' का पता नहीं। देखिये—

"सकुचि सरकि पिय निकट तैं, मुलकि कछुक तन तोरि।
कर आँचरकी ओट करि जमुहानी मुख मोरि॥"

इसके अतिरिक्त शिवराम-त्रिपाठिकृत "रस-रत्नहार" में मोट्टायितके उदाहरणमें "नवसाहसाङ्कचरित" का यह सुन्दर श्लोक दिया है—

"चित्रवर्त्तिन्यपि नृपे तत्त्वावेशेन चेतसि।
व्रीडार्धवलितं चक्रे मुखेन्दुमवशैव सा॥"*

* * *

इसमें भी 'कान आदि खुजाते जाना' नहीं आया। विश्वनाथने भी "कर्णकण्डूयनादिकम्" लिखा है, अर्थात् कान खुजाना आदि।

\+ + +

"कुट्टमित" का सिर अनर्थके मूसलसे किस प्रकार कूटा गया है, सो देखिये—

"प्रीतमके केश स्तन अधरादिके स्पर्श करनेसे जो सम्भ्रमसे हाथ पैरका विधूनन है, उसको कुट्टमित कहते हैं।" (२६ पृ०)

"प्रीतमके केश स्तन.................." यह आप क्या कह गये? खूब, "पुंस्त्वेव योषिद्भ्रमः"! आपकी पदविन्यास-चातुरीकी बलिहारी!!

"शिरःकरविधूननम्"—'सिर और हाथका हिलाना' की जगह आप लिखते हैं "हाथ पैरका विधूनन" 'शिरः' का अर्थ आपने "पैर" कर दिया! और 'विधूनन' को ज्योंका त्यों ही

---

* राजाको चित्रमें देखकर चित्तकी तन्मयता से—चित्रहीको नायक समझकर—उसने (नायिकाने) देखते ही लज्जासे एक ओर मुँह फेर लिया!

तन्मयता और लज्जाशीलताके उत्कृष्ट भाव का क्या ही सुन्दर चित्र है!

रहने दिया ! परन्तु यह न सोचा कि "हाथ पैर हिलाना" हिन्दी मुहावरेमें, उद्योग करनेको कहते हैं, और केवल 'हाथ हिलाना' या 'सिर हिलाना' अनिच्छाद्योतक क्रिया है।

\+ + +

अच्छा आगे सुनिए—

"मुग्धा कन्या केवल देखती है, बहुत पूछनेसे कुछ कहती है।"

केवल देखती है ? और कुछ नहीं करती ? सुनती भी नहीं ? और कान भी नहीं खुजाती क्या ? यह 'मुग्धा कन्या' क्या बात ? देखती है, कहती है, इन एकवचनात्मक क्रियाओंसे मालूम होता है कि 'मुग्धा' को आपने कन्याका विशेषण ही माना है, तब तो श्रीमान्के मतमें 'प्रौढा कन्या' भी होती होगी ? इसीलिये तो कन्याके साथ 'मुग्धा' विशेषण लगानेकी ज़रूरत हुई ! पर साहित्यदर्पणके ३ य, परिच्छेदकी १११ वीं, कारिकाकी उत्थानिकामें—"अथ मुग्धाकन्ययोरनुरागेङ्गितानि"—यह लिखा है, जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'मुग्धा' और 'कन्या' भिन्न हैं। क्योंकि 'मुग्धात्व' 'नवोढा' में भी होता है, केवल कन्यामें ही नहीं।

× × ×

दूतीका लक्षण सुनिए—

"………भक्तिमान् (१) तत्त्वज्ञाता (?) स्मृतिमान् (?) मधुरभाषी (?)………दूती होनी चाहिए।"

सो तो ठीक है, पर स्त्रीलिङ्ग 'दूती' शब्दके विशेषणात्मक ये शब्द भी इस प्रकार होने चाहियें—भक्तिमती, तत्त्वज्ञा, या तत्त्वज्ञात्री, स्मृतिमती, मधुरभाषिणी, इत्यादि। आगे जैसी आपकी आज्ञा।

\+ + +

अच्छा, अब सिर्फ़ "विदग्धा (?) अनुप्रास" और "वृत्त्य-नुप्रास"का लक्षण आपके साहित्यपरिचयमेंसे और सुन लीजिये—

"जहां बहुतसे वर्ण एकवार फिर आवैं वह "विदग्धा अनुप्रास है"
"अनेक व्यंजनका एकधा स्वरूपसे वा बारंबार अनेक प्रकार क्रमसे एक व्यंजनका बारबार समभावसे जो वर्तना है उसको वृत्त्यनुप्रास कहते हैं।"

ज़रूर कहते होंगे, पर आपकी स्पेशल ट्रेनकी धड़धड़ाहटमें कुछ समझ नहीं पड़ता कि आप क्या कह रहे हैं,और क्या कह गये!

× × ×

विद्यावारिधिजी भूमिकामें लिखते हैं कि "टीका करते समय हमने कई सतसई सन्मुख रक्खीं।" परन्तु आपकी टीका पढ़कर मालूम होता है कि आपका यह वाक्य या तो उस परिपाटीको देखकर लिखा गया है, जो प्रायः आजकलके टीकाकार, संशो-धक और ग्रन्थ-सम्पादकोंमें पड़ गयी है कि किसी पुस्तककी टीकाके या संशोधन और सम्पादनके समय चाहे उन्होंने एक ही प्रति उस ग्रन्थकी देखी हो, पर अपनी बहुदर्शिता दिखलानेको "यह पुस्तक लिखते या सम्पादन करते समय हमने अनेक पुस्तकें सामने रक्खीं थीं" इत्यादि लिख देते हैं,और यदि बहुतसी पुस्तकें वास्तवमें आपने सम्मुख रक्खीं तो वह सब रस्म अदा करनेके तौरपर सिर्फ़ सामने रक्खी ही रहीं, उनसे लाभ उठाने या उन्हें समझनेकी आपने ज़रा भी कोशिश नहीं की, या समझ ही नहीं सके। अन्यथा सतसईकी यह दुर्दशा न होती। यह पिछली बात (न समझ-सकनेकी) ही कुछ ठीक प्रतीत होती है, क्योंकि सतसईकी अन्य बहुतसी टीकाएँ, चाहे आपने सामने न भी रक्खी हों पर इसमें तो ज़रा सन्देह नहीं कि 'लालचन्द्रिका' आपने ज़रूर सामने रक्खा और उसीको देख देखकर अपनी टीका रची। इस बातका प्रमाण

आपकी टीकामें स्थान स्थानपर मिलता है। प्रत्येक दोहेकी टीकामें "अलङ्कारोंके नाम" और कहीं कहीं जो "दोहे" लिखे गये हैं, यह सब 'लालचन्द्रिका' से ही लिया गया है। कहीं कहींपर उसकी इबारत तक ज्योंकी त्यों नक़ल कर दी है। पर इस बातको आपने कहीं स्वीकार नहीं किया। जो अवश्य कर्त्तव्य था।—

"अन्यवर्णपरावृत्त्या बन्ध-चिह्ननिगूहनैः।
अनाख्यातः सतां मध्ये कविश्चौरो विभाव्यते ॥"(बाणभट्ट)

\+ + +

यद्यपि विद्यावारिधिजीने प्रायः प्रत्येक दोहेकी टीकामें कुछ न कुछ कारस्तानी दिखलायी है, तथापि प्रबन्ध बढ़ जानेके भयसे हम कुछ ही दोहोंकी टीकापर लिखेंगे। हम अपनी इस समालोचनामें सतसईका मूलपाठ वही रक्खेंगे जो विद्यावारिधिजीने अपनी टीकामें रक्खा है। विद्यावारिधिजीने मूलपाठपर भी खूब हाथ साफ़ किया है, जहाँ तहाँ उसके सौष्ठवका मूलोच्छेद कर डाला है। इसलिये सहृदय पाठकोंको यह बात खटकेगी ज़रूर कि ऐसा अशुद्ध पाठ क्यों रक्खा गया। पर हमें यत्र तत्र उसपर भी कुछ कहना है, अतः यही उचित समझा गया। अच्छा, अब जरा टीका भी सुनिये—

१—"मोर मुकुट की चन्द्रिका (?) यों राजत नँदनंद।
मनु शशिशेखरको (?) अकस, किय सेखर शतचंद ॥१॥"

❀ ❀ ❀

"मोरपंखके मुकुट धारण किये उस मोरपंखकी चन्द्राकार रेखासे 'नन्दसुवन' इस प्रकार शोभायमान होते हैं मानों (शशिशेखर) शिवजीके 'मन' (?) की अकस 'वैमनस्यता' (?) विचारकर कृष्णने अपने शिरपर सौ चन्द्रमा धारण किये हैं।"...(पृ०२

'नँदनन्द' का अर्थ आपने 'नन्दसुवन' किया है, इससे तो 'नँदनन्द' ही बहुत सुगम है। यदि 'नन्दको ढोटा' लिख देते तो आपकी व्रजभाषा-प्रवीणता और भी प्रकट हो जाती! 'सुवन' शब्द पुत्रके अर्थमें आज कलकी हिन्दीमें नहीं आता, व्रजभाषामें भी यह शब्द प्रायः पद्यमें ही आता है। इसीका नाम है—"मघवा मूल बिडौजा टीका"!—

मूलमें जो उत्प्रेक्षाव्यञ्जक "मनु" शब्द आया है, उसे आपने दो जगह घसीटा है। एक जगह उसका अर्थ 'शिवजीका मन' कर डाला है। जो एकदम व्यर्थ है। 'शिवजीके मनकी वैमनस्यता' (?) † विचारनेकी क्या आवश्यकता थी? यदि उसे "वैमनस्यता" कह सकें तो वह मुद्दत पहले कार्यमें परिणत हो चुकी थी, जब कि उन्होंने कामको भस्म कर दिया था। "वैमनस्यता" मनमें थोड़े ही छिपी रह गयी थी, और फिर शिवजी तो योगिराज हैं, वह किसीसे मनमें "वैमनस्यता" क्यों रखते? आपने 'मन' 'विचार कर' मूलके किन शब्दोंका अर्थ किया है? 'मनु' 'जनु' 'मनो' 'मानो' ये तो उत्प्रेक्षाव्यञ्जक शब्द हैं! यदि 'मनु' पद "शशिशेखरको" के आगे धरा होता तब आपकी कल्पना या भ्रान्तिके लिये कुछ अवलम्ब हो भी सकता। मूलपाठमें भी आपने दो जगह कतर व्योंत की है। 'ससिसेखरकी अकस' के स्थानमें '·····को अकस' बना डाला। 'अकस' को यदि आप पुंलिङ्ग ही

(नोट) विद्यावारिधिजीके पाठमें चिन्तनीय पदोंपर " " (?) इत्यादि चिह्न सर्वत्र समालोचककी ओरसे समझे जायँ।

† यहाँ भाववाचक एक प्रत्ययकी और कसर रह गयी! 'त्व' और जोड़कर "वैमनस्यतात्व" रखते तो और अधिक सुन्दर हो जाता!

मानें तो भी "......के अकस' ऐसा होना चाहिये था '......को अकस' तो नितान्त अशुद्ध है। 'चन्द्रिकनि' की जगह 'चन्द्रिका' कर दिया। दोनोंमें जो भेद है उसे सहृदय काव्यरसज्ञ आसानीसे समझ सकते हैं। आपके ये पाठान्तर सब प्राचीन टीकाओंके विरुद्ध हैं। आप टीका करने बैठे हैं या मूलको भी बिगाड़ने ? बाज आये ऐसी टीकासे !

× × ×

२—*मकराकृत गोपालके, कुंडल सोहत कान।*

धस्यो मनो हिय घर समर, ड्योढी लसत निशान ॥४॥

"मकरके आकारके कुण्डल श्रीकृष्णके कानमें इस प्रकार शोभित होते हैं, मानों इनके हृदयरूपी भवनमें काम (स्मर) प्रवेश कर गया है "निशानरूपी द्वारपाल" बाहर ड्योढ़ीपर शोभा देते हैं"।........(पृ० ३)

देखा आपने ! कैसा 'निशानरूपी द्वारपाल' ड्यौढ़ीपर बिठलाया है धन्य महात्मन् ! इस अपूर्व अर्थको सुनकर विहारीलालकी आत्मा भी स्वर्गमें फड़क उठी होगी ! जो ख़ास बात इस दोहेमें थी, उसीको आपने धूलमें मिला दिया !

और 'निसान' का "निशान" बनाकर ब्रजभाषाकी शानको बट्टा लगा दिया ! 'शीन' के शड़ाकोंका आपको बहुत शौक़ है !

मकरकी आकृतिवाले कुण्डलोंपर 'उत्प्रेक्षा' है कि मानो स्मरदेव हृदयरूप अपने मन्दिरमें प्रविष्ट हो गये हैं और अपनी ध्वजा 'निशान' बाहर—हृदय-मन्दिरकी ड्यौढ़ीपर—छोड़ गये हैं। कामका नाम 'मनसिज' और 'मकरध्वज' भी है। कामके ये

दो नाम, और कुण्डलोंकी 'मकराकृति' यही इस अपूर्व उत्प्रेक्षाकी जड़ है।※

\+ + +

३—छुटी न शिशुताकी झलक, झलक्यो यौवन अंग।
दीपति देह दुहूँन मिलि, दिपति ताफता रंग ॥१७॥

इसपर 'अति ललित' 'मधुर' टीका करते हुए अन्तमें विद्या-वारिधिजी फ़रमाते हैं—"यह जयपुरी दृश्य है"(पृ० ९) इस बात-को आप पहले भी कविका जीवन-चरित्र लिखते हुए पृष्ठ १२ में कह आये हैं। यथा—

"..............इनके काव्यमें जयपुरके दृश्यके अनेक दोहे पाये जाते हैं, यथा—(फीको) परै न वर फटै रँगो लोह रंग चीर (?) (मनहु ताफता कीन ?) इत्यादि अनेक वार्त्ता मूल ग्रन्थमें देखनेसे मिलैंगी।"

※ "केलि-प्रदीप-लतिका-प्रतियातनाभि-
निष्कञ्चुकाः कुचभुवो वभुरङ्गनानाम्।
कन्दर्प-भूभुजि मनोभवनं प्रविष्टे
सीमन्तिता इव हिरण्मय-वेत्रदण्डाः ॥"

(मङ्खक, श्रीकण्ठचरित, १५। १३)

—केलि-प्रदीपको लोय (लौ) से प्रतिबिम्बित, कञ्चुकी-रहित कामिनी-के कुच, ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो मनोज-भूपतिने मनो-मन्दिरमें प्रवेश किया है, जिसकी सूचना राजभवनके द्वारपर दोनों ओर धरे सोनेके वेत्रदण्ड दे रहे हैं।

उक्त दोहेकी और इस पद्यकी उत्प्रेक्षा में अत्यन्त सादृश्य है—"धस्यौ मनौ हिय-घर समर"—"कन्दर्प-भूभुजि मनो-भवनं प्रविष्टे"—

अबतक जयपुरके द्रष्टव्य पदार्थोंकी सूचीमें, 'रामनिवास बाग़' 'अजायबघर' 'चिड़ियाघर' 'पुस्तकालय' आदि चीज़ें ही प्रसिद्ध थीं। अब विद्यावारिधिजीने एक और "जयपुरी दृश्य"का पता दिया है, जिसका वर्णन आजतक किसी यात्रीने अपनी यात्राके वर्णनमें या वहांके किसी निवासीने कभी नहीं किया था! 'जयपुरविहार'के कर्त्ताने भी इसका उल्लेख अपनी पुस्तकमें नहीं किया। कितनी भारी भूंल की है! आशा है, द्वितीयावृत्तिमें वह इस कमीको पूरा कर देंगे, और जयपुरकी यात्रा करनेवाले अन्य महाशय भी आगेसे इस बातका ध्यान रक्खेंगे। उनमेंसे यदि कोई सज्जन अपनी यात्राका वर्णन किसी पत्रमें प्रकाशित करें तो इस 'जयपुरी दृश्य' को देखकर इसके विषयमें सविस्तर लिखें, जिससे अन्य यात्रियोंको उसके देखनेमें सुगमता हो।

यह सुनकर हमारे पास बैठे हुए एक मित्र बोले कि "इस दृश्यको देखनेके लिये जयपुर जानेकी क्या ज़रूरत है? यह दृश्य तो मुरादाबादमें भी मिल सकता है? इसमें ऐसी कोई चीज नहीं जिसपर Made in Jaypore की मोहर हो और वहीं मिलती हो। इस दोहेके 'उपमेय' और 'उपमान' प्रायः उन सब स्थानोंमें मिल सकते हैं जहाँ कि मानव-सृष्टि बसती है और बज़ाज़ोंकी दुकानें हैं।"

इसपर हमने अपने मित्रसे प्रार्थना की कि—चाहे आपका ही कहना सत्य हो, पर "विप्रतिषेधे परं कार्य्यम्"के अनुसार हम विद्यावारिधिजीहीकी बातको तरजीह देंगे, क्योंकि वह हमसे परे—दूर—हैं, और आप हमारे पास बैठे हैं। पाठकोंको अधिकार है कि वे इन दोनों बातोंमेंसे चाहे जिसको ठीक मानें।

\+ \+ \+

४—करे चाहसों चुटाकिकै, खरे उडोहैं मैन ।
लाज नवाये तरफरत, करत खूंदसी नैन ॥

❀ ❀ ❀

"मैंने (?) अर्थात् कामदेवने चाहसे चुटकाकर उडते वा उठते हुयेसे खडे किये, लज्जाके नवाये पर खुरीसी करते हुए नेत्र तडफडाते हैं। इसमें नेत्रोंको घोडेके समान निरूपित किया है उन्हें "कामरूपी चावुककी चाहसे चावुक मार उठो हैं" परन्तु लाज झुका देती है चुटकी के चावुकका चटाका करके! खुदी खूंदती हुई चाल, अथवा पैरमें नख बढ़ जानेकी चाल······।" (पृ० १५)

सतसईके अन्य टीकाकारोंको तो क्या स्वयं कवि विहारीलालको भी अपने इस दोहेके यह 'अति ललित' मधुर, मुग्ध, अर्थ न सूझे होंगे! उन्होंने भला पैरमें नख—(?) (घोड़के खुर या शफको हिन्दी भाषामें 'सुम' कहते हैं या नख ?)—बढ़ जानेकी यह नयी चाल काहेको देखी होगी? "मैंने अर्थात् कामदेवने" वहुत ठीक, तो क्या इस दोहेके 'देवता'† आप ही हैं? "चाहसे चुटकाकर" का क्या अर्थ? "उड़ते या उठते हुयेसे खड़े किये" का क्या मतलब? क्या कोई पदार्थ बैठता या लेटता हुआ सा भी खड़ा किया जाया करता है? "कामरूपी चावुककी चाहसे चावुक मार उठो है" का कुछ अर्थ भी है? और "चुटकीके चावुकका चटाका" कैसा होता है? यह आप टीका कर रहे हैं, या स्वप्नकी दशामें पड़े बड़बड़ा रहे हैं! इतनेपर भी इस प्रलापका नाम रक्खा है, 'अतिललित मधुर मुग्ध टीका' !!!

हा व्रजभाषे! क्या तू आपनी ऐसी दुर्दशा देखनेको ही अबतक बची हुई थी? तेरे वह सुदिन कहां गये जब सूरदास, विहारी-

---

† देवता= या येनोच्यते सा तस्य देवता।"

लाल, मतिराम और हरिश्चन्द्र आदि जैसे सुकवि अपनी अपनी सुन्दर और नवीन रचानाओंसे तुझे अलंकृत करते थे! एक आजका समय है कि नवीन रचानाओंसे तुझे भूषित करना तो दूर रहा तेरे पूर्व कवियोंके द्वारा प्रदत्त आभूषण भी किस निर्दय-तासे तोड़ मरोड़कर धूलमें मिलाये जा रहे हैं! तेरे जगत्प्रसिद्ध माधुर्य्यमें इन्द्रायन और नीमका तेल मिलाया जा रहा है!

यदि यह दुर्दशा किसी ऐसे वैसे मामूली आदमीकी ओरसे की जाती तो अधिक अफ़सोसकी बात न होती, परन्तु जब हम देखते हैं कि यह कृपा 'विद्वद्वृन्दशिरोमणि' 'विद्यावारिधि' 'व्याख्यानवाचस्पति' जैसी प्रतिष्ठित उपाधियोंसे "सर्वाङ्गविभूषित" व्यक्तिकी तरफ़से की जा रही है तो और भी दुःख होता है। यह हमारे लिये कैसे खेद और लज्जाकी बात है कि भारतसे हज़ारों मील दूर—सात समुद्र पार—रहनेवाले डाक्टर ग्रियर्सन जैसे महा-नुभाव तो व्रजभाषाके माधुर्य और सतसईके अपूर्व गुणोंपर मोहित होकर, उसमें प्रवीणता प्राप्त करके सतसईके सम्पादनमें,उसके शुद्ध संस्करणकेलिये घोर परिश्रम करते हुए अपने नेत्रोंकी ज्योतितक क्षीण कर बैठे (जैसाकि उन्होंने स्वयं, और विहारी-विहारकी भूमिकामें स्वर्गीय व्यासजीने लिखा है) और एक हम हैं कि अपने देशकी मातृ-भाषाओंको अलङ्कृत और परिष्कृत करना तो दूर रहा उलटा उनकी मिट्टी पलीद कर रहे हैं! हमारी अपनी भाषाएँ ही हमारेलिये चीनी और हिब्रू भाषा बन रही हैं। अफ़सोस! हमारी दशापर किसी उर्दू-कविकी यह उक्ति कैसी चरितार्थ हो रही है—

"एक हम हैं कि लिया अपनी भी सूरतको बिगाड़।
एक वो हैं जिन्हें तसवीर बना आती है।"

* * *

पाठकवृन्द ! ऊपरके दोहेका साफ़ और सीधा मतलब यह है कि—

कामने—(कामरूपी चाबुकसवारने)—प्रेमकी चाबुक मारकर ऊँचे उठा दिये और लज्जाने—(लज्जारूपी बागने) नीचेको झुका दिये, इस प्रकार तड़फड़ाते हुए, नेत्ररूपी घोड़े, मानो खूंदसी कर रहे हैं।

'चुटकिकै'—कोड़ा मारकर। 'खरे'—बहुत या ख़ूब। 'खूँद करना,'—लघुद्रुत-गतिसे ज़मीनको काटते हुए चलना, जहाँसे पैर उठाया है फिर वहीं रखना, इत्यादि खूंद करनेका अर्थ है, जिसे इधरको ग्रामीण भाषामें "खौरूखोदना" भी कहते हैं। जब बछेरेको 'औंधी' में फेरते वक्त़ चाबुकसवार उसके चाबुक या कोड़ा मारता है तो वह ऊपरको उठ जाता—अलफ़ हो जाता—है, और भागना चाहता है, परन्तु बागें खिंची रहनेके कारण भाग नहीं सकता, झुककर वहीं आ रहता है। घोड़ेकी इस दशाकी उपमा कविने 'चाहका चाबुक खाए हुए, और 'लाज' की बागसे खिंचे हुए, नेत्रोंसे दी है।

\+ \+ \+

५—"*यदपि चवायनी चो (ची) कनी चलति चहूं दिश सैन।*
तदपि न छांडत दुहुंनके हँसी रसीले नैन ॥ ६५ ॥

* * *

"यद्यपि चबाव करनेमें चिकनी चुटपटी चतुर है, यद्यपि चारों ओर उंगली उठा उठाकर लोगोंकी सैन चलती है, तौभी दोनोंके रसीले नेत्र हँसी नहीं छोड़ते तीसरी विभावना।" (पृ० २६)

चबाव करनेमें चिकनी चुटपटी (?) चतुर कौन है ? इन विशेषणोंका कोई विशेष्य भी है ? यदि ये विशेषण नायिकाके मान

लिये जायँ तब 'तीसरी विभावना' में यह क्या काम देंगे? इनसे तीसरी विभावनाका भान कैसे हो जायगा?

"कार्योत्पत्तिस्तृतीया स्यात्सत्यपि प्रतिबन्धके"।

या— "प्रतिबन्धकके होतहूँ कारज पूरन मान"।

यह 'तीसरी विभावना'का लक्षण है। अर्थात् प्रतिबन्धक (कारण) के होते हुए भी कार्योत्पत्ति होना, तीसरी विभावना कहलाती है। नायिकाका "चबावमें चिकनी चुटपटी चतुर होना" रसीले नेत्रोंसे हँसी छुड़ाने या हँसी रोकनेका साधक बाधक कुछ भी नहीं। और ये 'चुटपटी' 'चतुर' 'उंगली उठा उठाकर' मूलके किन पदों का अर्थ है? जिस 'लालचन्द्रिका' से आपने 'तीजी या तीसरी विभावना' नक़ल की है, वहींसे यदि इसका अर्थ भी समझ लेते तो यह सीधा सादा दोहा इस तरह 'चुटपटी' 'चतुर' की लपेटमें आकर गोरखधन्धा न बन जाता! पर समझनेकी तो आपने क़सम खायी है। चाहे दोहेका साधारण अर्थ भी न हो सके, परन्तु अलङ्कारका नाम आप ज़रूर लिख देते हैं, जिससे कोई समझे कि आप बड़े आलङ्कारिक हैं!

उक्त दोहेकी 'लालचन्द्रिका' इस प्रकार है—

"सखी का बचन सखीसे, जो भी निन्दा भरी चिकनी चलती हैं चारों ओरसे सैन—कहें आँखका इशारा, तो भी नहीं छोड़ते हैं दोनोंके हाँसी, अनुराग भरे नैन·······तीजी विभावना-लङ्कार,·····" इत्यादि।

\+ \+ \+

६—ऊँची चितै सराहियत गिरह कबूतर लेत।

द्रग झलकित मुलकित वदन तनु पुलकित कहिदेत ॥७३॥

* * *

इसके मूलपर भी दो जगह हाथ साफ़ किया है। 'ऊँचे चितै' तथा 'किहि हेत', की जगह 'ऊँची चितै' और 'कहि देत' न जाने किस अभिप्रायसे बनाया गया है! अर्थ और भी विलक्षण है। फ़र्माते हैं—

"ऊँचे देखकर सराहा जाता है, कबूतर गिरह लेता है किस कारण नेत्र झलकते मुख मुलकता (?) और शरीर पुलकित होता है।"........(पृ० २८)

देखिये न, किस तरह ढेलेसे लुढ़काये हैं ! "ऊँचे देखकर सराहा जाता है" कौन ? कुछ पता नहीं ! 'कबूतर गिरह लेता है' लेने दीजिये, आपका कुछ हर्ज ? यों तो चील मँडराती है, बाज़ झपटता है, कौवा उड़ता है, तोता कुतरता है, आप टीका लिखते हैं, इत्यादि बहुतसी बातें हुआ करती हैं। आप अपना मतलब कहिये ! "झलकता, मुलकता, पुलकता,"की बहार भी देखने लायक़ है "गौरश्वः पुरुषो हस्ती" इत्यादि निराकाङ्क्ष पदसमूहकी तरह इस टीकाके ये पद आकाङ्क्षारहित होनेसे निरे निरर्थक हैं। इस दोहेकी लालचन्द्रिका इस प्रकार है—

"सखीका वचन नायिकासे। ऊपर देखके सराहते हैं सब, गिरहबाज कबूतर, जो उड़नेमें बाजी करता है, और तेरी आँखें डबडबाती हैं, प्रसन्न मुख है, और शरीरमें रोमांच हुए, सो किसलिये ? तात्पर्य यह कि नायकके (उड़ते) कबूतर देख (उसके सम्बन्धसे) नायकका स्वरूप नायिकाके मनमें आया, जिससे सात्त्विक भाव हुआ। हेतु अलङ्कार स्पष्ट है।"

\+ + +

७—टुनिहाई सब टोलमें रही जु सौति कहाय।
सुतौ ऐंच पिय आप त्यौं, करी अदोखिल आय ॥१२४॥

* * *

"जो टोना करनेवाली सब सखियोंके समूहमें तेरी सौति (?) बाज (?) रही थी, सो तैंने नायकको वश कर वह सौत बेछूत करदी लेखालङ्कार (?), जो सौतोंका वशीभूत करना कर्म दोषमय था टोनाके पदसे यह गुण हुआ, जैसे टुट कहेरी (?) भूतकी छूत दूर करै तैसे इसने सौतसे दूरकर निज वश किया।"

(पृ० ४६)

इसमें कुछ पदोंको छोड़कर और दो एक पद बदलकर लेखालङ्कार (?)से ऊपरकी इबारत, लालचन्द्रिकासे नक़ल की गयी है। ख़ैर, और तो पीछे देखा जायगा, पहले एक बात पूछ लें। क्यों विद्यावारिधिजी! यह "लेखालङ्कार" कौनसे साहित्यमें लिखा है? यदि आप लल्लूलालजीका नाम लेकर लालचन्द्रिकाके हवाले-से छूटना चाहें तो भी नहीं बनता। लल्लूलालजीकी ऐसी अशुद्धि क्षन्तव्य हो सकती है, क्योंकि वह संस्कृतके पण्डित नहीं थे, जैसा कि व्यासजीने 'विहारीविहार'की भूमिकामें सिद्ध किया है। परन्तु आपके श्रीनामके साथ तो 'विद्वद्वृन्दशिरोमणि' 'विद्यावारिधि' जैसी उपाधियाँ हैं, जो महत्त्वमें 'महामहोपाध्याय'से भी बढ़कर हैं। फिर आप जो बार बार 'काकोक्ति' (?) 'लेखालङ्कार' 'प्रवत्सत पतिका' इत्यादि महाभ्रष्ट पद लिख रहे हैं, इसका क्या कारण समझा जाय? क्या कविताका ठीक अर्थ कर सकना और शब्दोंको शुद्ध लिखना, उन विद्याओंके अन्तर्गत नहीं है, जिनके कि आप 'वारिधि' हैं? और महाराजकी जय रहे, आपने तो भूमिकामें प्रतिज्ञा की थी कि—"भावार्थ और अक्षरार्थ बहुत सरल हो, इसपर विशेष दृष्टि रक्खी गयी है"—फिर यह क्या बात है कि इस प्रतिज्ञाका उल्लङ्घन आप पद पदपर कर रहे हैं! आप दृष्टि नहीं रख सके, वह प्रायः झपक गयी है। ठीक है, आख़िर मनुष्य 'अनिमिष'तो नहीं है, पलक लग ही जाती है।

आपके यह परिष्कार काठिन्यमें "रसगङ्गाधर"की पंक्तियोंसे कुछ कम नहीं हैं। कहीं यह 'ग्रन्थग्रन्थियाँ' श्रीहर्षकी तरह आपने जानबूझकर ही तो पाठकोंको छकानेके लिये नहीं लगा दी हैं ? यदि यही बात है तो श्रीहर्षके समान इसकी सूचना भी आपको दे देनी चाहिये थी। अस्तु। अब एक काम कीजिये, अपनी टीकामें आई हुई ऐसी ऐसी कठिन पङ्क्तिओंपर एक टीका-टिप्पणी स्वयं ही लिख छोड़िये, अन्यथा सूरदासके कूटपदोंकी तरह इनका अर्थ समझनेमें लोगोंको बड़ी कठिनाई होगी। फिर वह किसके पास पूछने जायँगे ? इसलिये इस मुश्किलको स्वयं ही हल करते जाइये ! टीका तो न जानें आप कब करेंगे, हमें अपनी इन ऊपरकी पंक्तियोंका ज़रा अर्थ ही समझा दीजिये। हाँ महाराज ! "सौतोंका वशीभूत करना कर्म दोषमय था" इसका क्या मतलब है ? यह कौनसी विद्यामें लिखा है कि "वशीभूत करना" कर्म दोषमय है ? जबकि गुरुका शिष्यको, स्वामीका सेवकको, राजाका प्रजाको, प्रेमपात्रका अपने प्रेमीको, "वशीभूत" या अपने क़ाबू में करना, कोई दोष नहीं, जुर्म नहीं, किसी धर्मशास्त्र या क़ानूनमें इसकेलिये दण्डविधान नहीं लिखा, (यदि हो तो पता दीजिये, आप विद्यावारिधि हैं) फिर बेचारी 'सौतोंने' आपका क्या बिगाड़ा है, जो उनके वशीभूत कर्मको विना कारण बतलाये, आप दोषमय बता रहे हैं ! आप जैसे धार्मिकोपदेष्टाको ऐसा पक्षपात शोभा नहीं देता। कहीं आपने अपनी यह टीका एशियाटिक सोसाइटी (बङ्गाल) में तो नहीं भेज दी ? वहाँ यदि वह कहीं वायसरायकी लेजिसलेटिव कौन्सिलके किसी मेम्बरकी नज़र पड़ गयी, तो ऐसा न हो कि आपके उद्भावित इस नये 'दोषमय' कर्मके मुताल्लिक़ ताज़ीरात-हिन्दमें एक नयी दफ़ा बढ़ानेके लिये (कौंसिलमें) प्रस्ताव होने

लगें ! इससे अगली बात और भी विचित्र है "टोना के पदसे वह गुण हुआ"!! ग़ज़ब हुआ ! महाराज ग़ज़ब, यह क्या बात होगयी ! जो कर्म अभी अभी "दोषमय" था वह सिर्फ़ टोनाके पदसे ख़ालिस गुण (गुणमय भी नहीं ?) कैसे हो गया ? इस रसायनविद्या—इस कैमिस्ट्री—को आजकलके मन्दमति मनुष्य आपके अनल्प अनुग्रह विना नहीं समझ सकेंगे ! देखिये न, कैसी अद्भुत बात हुई ! टोनाके पदमात्रसे ही वह—दोषमय कर्म—'गुण' हो गया ! टोना करनेकी भी ज़रूरत न पड़ी ! धन्य हो, आपका जादूरक़म क़लम भी ऐसे ऐसे करिश्मे दिखलाता है कि देखनेवाले दंग रह जायँ !

"जैसे टुट कहेरी (?) भूतकी छूत दूर करे तैसे इसने सौतसे दूर कर निजवश किया"

"टुट कहेरी" कैसा फ़सीह मुहावरा है ! ख़ास 'दीनदारपुरी' है ! जी हाँ, फ़रमाइए "......भूतकी छूत दूर करे" भूतको नहीं, किन्तु उसकी छूतको दूर करे। क्या मतलब, जब किसीको भूत चढ़कर उतर जाय, पीछेसे जो उसकी छूत लगी रह जाय उसे दूर करे; इत्यर्थः। अथवा यों समझिये, जिस प्रकार चाण्डालादि किसी अस्पृश्य पदार्थके स्पर्श हो जानेपर स्नानादिद्वारा उसकी छूत दूर की जाती है, ठीक उसी प्रकारसे ! "तैसे इसने" इसने किसने ? साफ़ साफ़ कहिये न ? "सौतसे दूरकर" किसे दूरकर ? साक्षात् किसी पदार्थको या उसकी छूतमात्रको ? "निजवश किया" आपने भी पति (प्रतीयमान)को भूतकी उपमा देकर बड़ा भारी काम किया ! 'उपमालङ्कार'को कालिदास और विहारीलालसे छीनकर 'निजवश किया' ! थोड़ी बात नहीं ! ठीक ही हुआ, विहारीलालजीने 'चाह'को "चुरैल"(३०६ दो०) ठहराया है, आपने 'चाहनेवाले'को भूत बना दिया ! इसी प्रकार कल कोई

दूसरे टीकाकार उठेंगे वह नायकको प्रेत, पिशाच, राक्षस, इत्यादिकी उपमा देंगे, फिर यदि किसीने 'साहित्य-परिचय' लिखा तो वह नायकके शठ, दक्षिण, आदि भेदोंके साथ भूत, प्रेत आदिको भी शामिल कर देगा ! क्यों न हो, तरक़्क़ीका ज़माना है !

प्रिय पाठकगण ! इस बीभत्स व्यापार—भूत प्रेत और छूत छात आदि—की विहारीके उक्त दोहेमें गन्ध भी तो नहीं, यह सब-कुछ टीकाकारके दिमाग़की उपज है। दोहेका भाव यह है—

नवोढ़ा नायिकाके रूपादि गुणोंकी प्रशंसा करती हुई सखी, उससे कहती है कि तेरे आनेसे पहले नायक जिस तेरी सौत—नायिका—के वशमें था, वह 'टुनिहाई'—टोना करनेवाली–प्रसिद्ध थी, कि इसने नायकपर जादू करके उसे इस प्रकार अपने वशमें कर रक्खा है, सो तैंने आते ही अपने लोकोत्तर रूपादि गुणोंसे, नायकको अपनी ओर खींचकर, अपनी उस सौतको दोषरहित कर दिया, अर्थात् उसे इस इलज़ामसे बरी कर दिया कि वह टोना करनेवाली है। क्योंकि यदि वह जादूगरनी होती तो नायक उससे छूटकर तेरे वशमें न हो सकता, इससे जाना गया कि जादूसे नहीं, किन्तु सौन्दर्य्यादि गुणोंसे ही उसने नायकको अपने अधीन कर रक्खा था, अब उससे अधिक रूपवती होनेके कारण नायकको तैंने अपनी ओर खींच लिया। इसलिये—

"लेशः स्याद्दोषगुणयोर्गुणदोषत्वकल्पनम्"

इस साहित्य-लक्षणके अनुसार यहां "लेशालङ्कार" है, (जिसे विद्यावारिधिजीने "लेखालङ्कार" लिखा है !) अर्थात् जहाँ गुणके स्थानमें दोष और दोषके स्थानमें गुणकी कल्पना हो जाय, वहां लेशालङ्कार होता है। जैसे यहां टोना करने रूप दोषके स्थानमें रूपवती होने रूप गुणकी कल्पना की गयी। नायकका वशमें होना

टोनाके प्रभावसे नहीं था, किन्तु सौन्दर्य्यादि गुणोंके कारण था, यह भाव।

+ + +

८—छप्यो* नेह कागज† हिये भई लखाइ न टांक।
विरहतचे उघरयो सु अब सेहुँडको सो आंक ॥१२७॥

"जो कागज रूपी–प्रीति निर्मल मनमें छिपी थी और थोड़ी भी प्रसिद्ध न हुई सो अब थूहरके दूधके लिखे अक्षरसी विरहकी आगसे सिककर खुली। पूर्णोपमा थूहरके दूधके लिखे अक्षर आगपर सेकनेसे चमकते हैं"— (पृ० ४७)

बस रहने भी दो। क्यों इस काव्यकी दुर्दशापर कमर कसी है! यह काम आपके बसका नहीं है, जो काम आदमीसे न होसके उसमें हाथ ही क्यों डाले! 'खट्टे अंगूर' और 'टेढ़ी खीर'से दूर ही रहना अच्छा है! आपको यह सम्मति किस भले आदमीने दी थी कि आप सतसईको हाथ लगावें? आपकी इस टीकासे तो यह ग़रीब वैसे ही अच्छी थी, यह टीका तो इसकेलिये स्याहीका टीका होगया! जिसकी बातें ही आपकी समझमें नहीं आतीं उसके दुभाषिया–मुतरज्जिम—आप क्यों बन गये?

---

* 'छप्यो' के स्थानमें "छतो" पाठ चाहिये। यही, लालचन्द्रिका, हरिप्रकाश, विहारीविहार तथा कृष्णदत्तकी टीकामें है। 'छप्यो' तो यहां नितान्त अयुक्त है, क्योंकि 'नेह' का छिपा रहना तो 'भई लखाइ न टाँक', इससे ही सिद्ध है, फिर 'छप्यो' कहनेकी क्या ज़रूरत है? "नेह छतो" का अर्थ है—प्रीति थी।

† यहां फ़ारसी उर्दू का 'काग़ज़' नहीं चाहिये, किन्तु व्रजभाषा का "कागद" चाहिये।

"जो कागजरूपी प्रीति निर्मल मनमें छिपी थी"—यह देखिये कैसा विलक्षण भाष्य है ! क्यों महाराज ! सेहुँडके दूधसे लिखनेसे 'काग़ज़' छिप जाता है ? वह ज़रा भी नहीं दीखता ! और 'अक्षर' दीखते रहते होंगे ? तभी तो श्रीमान्ने 'छिपी हुई प्रीति'को 'काग़ज़' ठहराया है ! इसपर तुर्रा यह है कि इस प्रकार रूपकका रूप बिगाड़कर और उपमाका उपमर्द करके आप लिखते हैं–"पूर्णोपमा" धन्य आपकी पूर्णोपमा ! किसीको अलंकारशास्त्र पढ़ना हो तो आपसे पढ़े ! इस दशामें इसे 'पूर्णोपमा' कहना ऐसाही है जैसे कोई किसी 'मृगनयनी'की एक आँख फोड़कर उसे चिढ़ानेके लिये 'मृगाक्षी' कहे। इस दोहेका स्पष्ट अर्थ यह है—

हृदयरूप काग़ज़पर प्रीति (अङ्कित) थी, जो (संयोगदशामें) ज़रा भी (किसीपर) प्रसिद्ध न हुई थी, सो अब विरहकी आँचसे सिकनेपर सेहुँडके दूधसे लिखे हुए अक्षरकी तरह प्रकट होगयी—चमकने लगी—सबपर खुल गयी। दोहेमें "कागद-हियें" यह 'समस्त रूपक' है—

"उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते।
यथा बाहु-लता पाणि-पद्मं चरण-पल्लवः" ॥ (काव्यादर्श)

अथवा—"उपमान रु उपमेयमें भेद परै न लखाय।
तासों रूपक कहत हैं सकल सुकवि समुदाय॥"

अर्थात् जहाँ उपमेय और उपमानमें अभेद-प्रतीति हो, ऐसी उपमाको ही 'रूपक' कहते हैं—जैसे "बाहु-लता" "चरण-पल्लवः" इत्यादि। या जैसे–'कागद-हियें' "लाज लगाम" (२६९ दो०)' 'दीपक-देह' (३२७ दो०) इत्यादिमें।

विद्यावारिधिजीने समझा होगा "कागद-हियें" ये दो पृथक् पद हैं, इनका आपसमें कुछ सम्बन्ध तो है नहीं, बस झट 'कागद'का

कान पकड़के 'नेह'के साथ नत्थी कर दिया ! 'हिया' बेचारा हाय हाय करता और पुकारता ही रह गया—"(मैं कहता रह गया ज़ालिम ! मेरा दिल है मेरा दिल है !)"—कि दयानिधे ! यह आप क्या करते हैं ? मेरे इस चिरसंगी सखा (कागद) को कहां लिये जाते हैं ! विहारीलालजीने तो इसे मेरे साथ अभेदरूपसे रक्खा है, यदि मेरा विश्वास न हो तो प्राचीन टीकाकारोंसे. पूछ देखिये। हम दोनों एक हैं, अभिन्नहृदय हैं, हममें भेद न डालिये, हमें पृथक् न कीजिये, भगवन् ! दया कीजिये, इससे दूर होते मैं फटा जाता हूँ ।

उधर "नेह" ने भी इस विभागपर नाराज़गी ज़ाहिर करके कहा कि रहने दीजिये, मुझे 'कागद' नहीं चाहिये, मैं "सेहुँडके" आँककी समतासे ही ख़ुश हूँ। कवि-विधाताने मुझे उसीके सदृश बनाया है । और अबतक जिस (कागद) के यहाँ मैं अज्ञातवासकी दशामें छिपा रहा, अब प्रकट होते समय उसीकी बराबरीका दावा करते हुए मुझे लज्जा आती है । सो मैं "कागजरूपी प्रीति" कहलाना नहीं चाहता, माफ़ कीजिये ।

परन्तु वंग-विच्छेद करनेवाले 'माई लार्ड कर्ज़न'के समान हमारे 'विद्वद्वृन्दशिरोमणि' विद्यावारिधिने उनकी इस करुणोक्तिपर ध्यान न देकर कहा कि—"चुप रहो, हम नहीं जानते, विहारीलालने तुम्हें कहीं और किसीके साथ रक्खा हो, न हमें किसीसे कुछ पूछनेकी जरूरत है, हम स्वयं 'विद्यावारिधि' हैं । पृथक् होनेमें भले ही तुम्हारा अर्थनाश क्या सर्वनाश हो जाय, कुछ परवा नहीं, हमारी आज्ञा तुम्हें माननीही पड़ेगी" । बहुत कहने सुननेपर 'हृदय'का दिल रखनेके तौरपर उससे कहा कि "कागद"के बदले हमने तुम्हें 'निर्मलता' प्रदान की । नेहका अपील डिसमिस।

क्योंकि उससे कुछ छीना नहीं गया, बल्कि और काग़ज़ का करेन्सी नोट दिया गया है !

इस प्रकार इस 'काग़ज़-केसका ख़ात्मा' हुआ !

श्रीपण्डित परमानन्द कविने 'शृङ्गारसप्तशती' में इस दोहेका दोहा-छन्दमें ही कैसा अच्छा अनुवाद किया है। सहृदय संस्कृतज्ञ पाठकोंके विनोदार्थ उद्धृत है—

"प्रेम हृदय-पत्रानुगतमलक्षितं यदुवास ।
* तद्वज्राक्षरमिव तनौ विरहाग्निना बभास ।"

× × ×

६—उठि ठक ठक एतो कहा पावसके अनुसार (?) ।
जान परैगी देखि यौं दामिनि घन अँधियार ॥१५६॥

❀ ❀ ❀

"उठ वर्षाके समय नायकके पास चलनेमें इतनी अडचड क्यों है, वहाँ ऐसी विदित होगी कि, मानो बिजली बादलको लिये अंधकार में है । भ्रांतालङ्कार"। (पृष्ठ ५६)

न मालूम कौनसी अद्भुत पोथी आपके हाथ लग गयी है, जिसमें इस प्रकारके विचित्र पाठान्तर भरे पड़े हैं ! जिस प्रकार टीका करनेमें आप मनमानी करते हैं, किसी टीकाकारकी नहीं सुनते, इसी प्रकार मूल-कवितामें भी स्वयं 'इसलाह' कर देते हैं। और न हुआ तो यहां 'अभिसार' का "अनुसार" (?) ही कर दिया ! और उसका अर्थ किया है "........'समय'! न जाने किस कोशके अनुसार 'अनुसार' का अर्थ "....'समय' किया गया है !

---

* (सीहुण्डो वज्रः स्नुक् स्त्री स्नुही गुडेत्यमरः)

'भ्रान्ति'या'भ्रान्तिमान्'की जगह आप लिखते हैं "भ्रान्तालङ्कार"(?) क्यों न हो, यह भी तो 'लेखालङ्कार' का लँगोटिया यार, और 'काकोक्ति' का काका है! अस्तु।

'नायकके पास चलनेमें' इतना अर्थ अब किन पदोंका है? क्योंकि जिस "अभिसार" का यह अर्थ था, उसका तो आपने "अनुसार" बना डाला!

"वहाँ ऐसी विदित होगी"—वहाँ कहाँ? नायकके पास न? बहुत ख़ूब, और कौन विदित होगी? कर्त्ता ग़ायब! "...कि मानो बिजली बादलको लिये अन्धकार में है।"

इसके आगे हमारे 'संभ्रान्त' अलङ्कारशास्त्रीजी लिखते हैं—'भ्रांतालंकार (?)' ख़ैर 'भ्रान्ति' न सही 'भ्रांता' (?) ही सही, "काकोक्ति" वालेके लिये तो यह कोई बड़ी बात नहीं। परन्तु 'मानो' * लगनेसे तो यह ख़ासी सोलह आना "उत्प्रेक्षा" हो गयी! "भ्रान्ति" कहाँ रही? किसी साहित्यग्रन्थमें 'भ्रान्ति' का लक्षण देखकर अपने उपर्युक्त वाक्यमें ज़रा लक्षण-समन्वय तो कीजिये कि इस दशामें यह 'उत्प्रेक्षा' है या "भ्रान्ति" है। ख़ैरजी, अलंकार पड़ें भाड़में, यहां तो बेचारी कविताके कपड़े ही फाड़े जा रहे हैं। उसका शरीर ही अनर्थ-वज्रप्रहारोंसे क्षतविक्षत किया जा रहा है। भला जिसका जिस्म ही जख्मोंसे चकनाचूर हो रहा हो, अलंकार क्या उसकी ख़ाक शोभा बढ़ायेंगे। उसे तो वे और भार प्रतीत होंगे, घावोंमें चुभेंगे; ग़रीबकी जान बच जाय यही ग़नीमत है!!

---

* "मन्ये शंके ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः॥" (दण्डी)

इस लक्षणके अनुसार संस्कृतके 'मन्ये, शंके' इत्यादि शब्दोंकी तरह हिन्दीमें मानो, जानो, इत्यादि शब्द उत्प्रेक्षाव्यञ्जक हैं।

जी हाँ फ़र्माइये, कैसी विदित होगी—"मानो बिजली बादलको लिये अंधकारमें है"—यहाँ 'बिजली' तो नायिकाको समझें, और 'बादल' नायकको, तथा 'अन्धकार' नायकके मकान या संकेत-स्थानको ! मालूम होता है, नायक कहीं तहख़ानेमें या काजलकी कोठरीमें काला बादल बना छिपा बैठा है ! तभी तो वहाँ अंधकारकी प्रतीति या भ्रान्ति हो सकेगी ! अबतक तो यही सुनते थे कि बादलमें बिजली रहती है, और काले बादल में वह ख़ूब चमकती है, परन्तु अब आपसे मालूम हुआ कि बादलमें रहना और चमकना क्या, वह तो बादलको बग़लमें दबाकर अंधकारमें जा छिपती है !

अच्छा, अब लल्लूलालजीकी ज़बानी उनकी भाषामें इसका अर्थ सुन लीजिये—

"सखीका बचन नायिकासे—उठ बखेड़ा इतना क्या है, बरखाके चलनेमें, नायकके पास, जानी जायगी दिखाई देनेसे ऐसे कि बिजली बादल कालेके अंधेरेमें है......."

मतलब यह कि मार्गमें कोई न देखले इसलिये कृष्णाभिसारिका-का वेष बनाने इत्यादि बखेड़ेमें पड़नेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि यदि किसीने मार्गमें देख भी लिया तो वह पहचान न सकेगा कि यह नायिका जा रही है, किन्तु उसे भ्रान्ति होगी कि वर्षाके काले बादलमें यह बिजली चमक रही है !

पाठकगण ! इस आशयकी गन्ध भी वारिधिजीकी टीकामें है ?

\+ \+ \+

२०—*कहा लडैते द्रग करे (?) परे लाल बेहाल ।* *

कहुँ मुरली कहुँ पीत पट कहुँ मुकुट बनमाल ॥ २२७॥

* * *

* इस दोहेकी व्याख्या पहले भी। (पृ० १०७ से १०८ पर) आचुकी है।

"हे लाड़ले! ऐसे क्या तुमने अपने नेत्र किये हैं जो तुम बेहाल पड़े हो कहीं मुरली, कहीं पीला वस्त्र, कहीं मुकुट, कहीं वनमाला पड़ी है; चलकर तो देख। व्याजस्तुति।" (पृ० ७९)

व्याजस्तुति काहेको इसे तो "व्याजछुरी" कहना चाहिये! अर्थके बहाने कविताके कमनीय गलेपर यह कुन्द छुरी फेरी जा रही है, जिसके तले वह बेचारी बेहाल पड़ी हुई छटपटा रही है! अर्थ, भाव, अलङ्कार, ये सब एक एक करके इस कठिन अवस्थामें इसका साथ छोड़ गये हैं! निःसहायावस्थामें पड़ी पैर पीट रही है! दम तोड़ रही है! सच कहा है किसीने :—

"कौन होता है बुरे वक्तकी हालतका शरीक।
मरते दम आँखको देखा है कि फिर जाती है॥"

* * *

विहारीके रसिक प्रेमियो! देखते हो तुम्हारी प्यारी कविताका क़तलेआम किस तरह खुले मैदान हो रहा है! विहारीकी पीयूषरसवर्षिणी कविता-मेघमालाको यह आँधीके प्रचण्ड झोंके किस प्रकार छिन्न भिन्न करके उड़ा रहे हैं!! इस लतिकाको अनर्थकी प्रचण्ड ज्वाला किस तरह जला रही है!!! हो सके तो इसके प्राण बचालो; यह चली!

हाय कितना सरल और सीधा दोहा था!

"न इतने पर भी जो समझे तो उस बुतसे खुदा समझे"

सखी, नायिकासे, नयनोंकी चोट खाये हुए कृष्णकी दयनीय दशा सुनाकर लड़ैते नेत्रोंकी शिकायत करती हुई सुध लेनेकी प्रार्थना कर रही है—कि तैने अपने नेत्र कैसे लड़ैते—लड़नेवाले—किये हैं, जिनकी चोट खाकर लाल (कृष्ण) बेहाल पड़े हैं। कहीं

मुरली पड़ी है, कहीं पीताम्बर, कहीं मुकुट और कहीं वनमाला पड़ी है, उन्हें कुछ सुध नहीं।

'लड़ैते' शब्दका अर्थ नेत्रोंहीका विशेषण मानकर हरिप्रसाद तथा लल्लूलालजीने 'लाड़ले' किया है, परन्तु यहां 'लड़ैते'का अर्थ यदि लड़नेवाले किया जाय तो और भी ठीक हो। 'लठैत'— 'डकैत'की तरह हिन्दीमें 'लड़ैत' आता भी है, जैसे–कहा जाता है कि अमुक आदमी बड़ा 'लड़ैत' है। आँखें लड़ाना, हिन्दी और उर्दूमें मुहावरा है। उर्दूके प्रसिद्ध कवि 'मोमिन' का शेर है—

"दिल गया दमपर बनी 'आँखें लड़ीं' कहती हैं हाल,
बेक़रारी आहोज़ारी अश्कबारी आपकी।"

* * *

विद्यावारिधिजीने 'लड़ैते'को सम्बोधन समझकर 'हे लाड़ले !' बना दिया, और तो मज़ा देखिये, कहते हैं—"ऐसे क्या तुमने अपने नेत्र किये हैं जो तुम बेहाल पड़े हो"—यह तो आप कहीं लिखते ही नहीं कि 'किसका वचन किससे' तथापि 'हे लाड़ले' और 'पड़े हो' इन पदोंसे पता चलता है, कि सखी श्रीकृष्णसे कह रही है। ऐसा मालूम होता है कि श्रीकृष्णकी आँखें बड़े ज़ोरसे दुखने आ गयी हैं, उनकी प्रबल पीड़ासे वह व्याकुल हैं, उन्हें अपने मुरली, मुकुट और कपड़े लत्तेकी कुछ सुध नहीं, अचेत पड़े हैं, आँखोंकी तीव्र पीड़ा ऐसी ही होती है। उसमें कुछ होश नहीं रहता। शायद श्रीकृष्णने कुछ कुपथ्य भी कर लिया है, इससे पीड़ा और भी बढ़ गयी है, तभी तो सखी उन्हें समझा रही और धमका रही है, कि 'तुमने अपने नेत्रोंकी यह क्या दशा कर ली ! जिससे इस तरह बेहाल पड़े हो, सिर पैरकी कुछ ख़बर नहीं !' लाड़में आकर— (हे लाड़ले ! इस हेतुगर्भ विशेषणका अर्थ !)— तुम दिन दिन

बिगड़ते ही जाते हो ! 'चलकर तो देख'—अब तो सखी क्रोधसे पागल हो गयी जान पड़ती है, 'तुम'से 'तूतड़ाँग'पर उतर आयी !—"हज़रतसे आप, आपसे तुम, तुमसे तू हुए !"—"चलकर तो देख' न जानें कहां लिये जाती है, और क्या दिखाना चाहती है ! कदाचित् 'वनमाला' और पीताम्बर दिखाना चाहती हो, परन्तु नेत्ररोगमें तो ऐसी चीज़ोंसे बचना चाहिये, जैसा कि 'विवृतोक्ति' अलङ्कारके उदाहरणमें किसीका यह अपूर्व पद्य है—

"सुभ्रु ! त्वं कुपितेत्यपास्तमशनं त्यक्ताः कथा योषितां,
दूरादेव विवर्जिताः सुरभयः स्रग्गन्धधूपादयः ।
कोपं रागिणि मुञ्च मय्यवनते दृष्टे प्रसीदाधुना,
सत्यं त्वद्विरहाद् भवन्ति दयिते ! सर्वा ममान्धा दिशः ॥"

* * *

और फिर वह बेचारे तो स्वयं बेहाल पड़े हैं, उनमें चलकर देखनेकी हालियत कहाँ ! देखा ! कैसी गुस्ताख़ (सखी) है ! कोई पागल हुई है ? हट परे दूर हो, आई वहांसे ! इलाज मालजा गया, दम दिलासा गयी, बेहालीमें उन्हें एक जगह पड़ा भी नहीं रहने देती, जब होश होगा आप जाकर देख लेंगे !!

× × ×

११—*यों दल मिलियत* निरदई † दइ कुसुमसे गात ।*
कर घर देखो धरधरा अजौं न उरको जात ॥ २२८ ॥

* * *

* मलियत । † "दई" ऐसा पाठ चाहिये ।

"हे भगवन् ! यह निर्दयी होकर फूलोंसे गातको ऐसे दलकर मलते हैं, हाथ रखकर देखो मेरी छातीका धड़कना अब तक नहीं जाता, नायिकाकी सखीका नायकसे उरहना । विषमालङ्कार ॥"

(पृ० ७९)

नहीं मालूम पड़ता कि कौन किससे कह रहा है, और क्या कह रहा है ! यदि "हे भगवन् (?) से '.....'नहीं जाता' तककी इबारतपर ध्यान देते हैं तब तो ऐसा जान पड़ता है कि नायकके सामने ही नायिका अपनी सखियोंसे नायककी शिकायत कर रही है कि-"यह-(यह-जो हज़रत सामने खड़े हैं !)—मेरे फूलोंसे गातको निर्दय होकर ऐसे दलकर मलते हैं कि बस कुछ न पूछो, तुम हाथ रखकर देखो, मेरी छातीका धड़कना अबतक बन्द नहीं होता ।"

पर जब सोचते हैं कि नायिका तो क्या सामान्य वनिता भी इस प्रकार लज्जाको तिलाञ्जलि देकर सबके सामने इस तरह न कहेगी, और साथ ही जब टीकाकारके इस वाक्य-"नायिकाकी सखीका नायकसे उरहना (?)"को देखते हैं, तो और ही सन्देहमें पड़ जाते हैं, कि यह बात क्या है । यह ठीक है, हमने माना कि "नायिका (?)की सखी नायक को उरहना (?) या उलाहना दे रही है ।" तब इसकी(उलाहना देनेवाली की)छाती क्यों धड़क रही है ? क्योंकि गात तो नायिकाका मला गया है न ! इसे तो किसीने कुछ नहीं कहा ! और यदि नायिकाका गात मला जानेसे ही इसकी यह दशा हो गयी है तो फिर 'विषमालंकार' कैसा ? तब तो ख़ासा "असङ्गति" अलङ्कार न होगा ? कुवलयानन्दके इस लक्षण और उदाहरणके अनुसार—

"विरुद्धं भिन्नदेशत्वं कार्यहेत्वोरसङ्गतिः ।
विषं जलधरैः पीतं मूर्च्छिताः पथिकाङ्गनाः ॥"

❀ ❀ ❀

विहारी का यह दोहा भी 'असङ्गति' अलङ्कारका उत्तम उदाहरण है—

"तू मोहन मन गड़ि रही गाढ़ी गड़नि गुवालि ।
उठै सदा नटसाल लौं सौतिनके उर सालि ॥३२४॥"

ओह, इस बखेड़ेमें पड़नेकी क्या ज़रूरत हैं ! जो विद्या-वारिधिजी कहते हैं वही सही, इस दशामें भी मानलो कि यहां 'असङ्गति' नहीं, 'विषमालङ्कार' ही है—

"मान लीजे शेख़ जो दावा करे,
इक बुजुर्गेदीं को हम झुटलाएं क्या" ! (हाली)

रही 'उरहना देनेवाली' की धड़कन, सो हो सकता है कि वह दौड़कर आयी हो, इसलिये दम चढ़ आया हो और छाती धड़कने लगी हो ! इति सर्वं रमणीयम् ।

\+ + +

१२—चलत घरै (?) घर घर तऊ, घरी न घर ठहराति ।
समुझि उही घरको चलैं, भूलि उही घर जाति ॥२४६॥

"अपने घरकी कोठरी कोठरीमें घूमती है, तौ भी घरमें घड़ी भर नहीं ठहरती जानकर भी उसी घरको जाती है, भूलकर भी उसी घरको जाती है..." (पृ० ८५)

यदि कोठरियोंकी संख्या और उनकी लम्बाई चौड़ाई भी लिख देते तो और अच्छा होता ! और यह भी लिखनेसे रह गया

कि कोठरी कोठरीमें वह क्या ढूंढनेके लिये घूमती है ! और जल्दी जल्दी घूमती है या आहिस्ता आहिस्ता ! क्या उसके घरमें कोई बड़ा बरांडा, दालान या कमरा घूमनेके लिये नहीं था ? और यह और भी विचित्र बात है कि अपने ही घरकी कोठरी कोठरीमें घूमती है, तो भी घरमें घड़ी भर भी नहीं ठहरती ! जबकि वह घरमें घड़ीभर नहीं ठहरती तो "कोठरी कोठरीमें" किस वक्त घूमती है ? आखिर घूमनेमें कुछ देर तो लगती ही होगी ! मालूम होता है, घरमें दो एक छोटी छोटी कोठरियां होंगी, उनकी परिक्रमा जल्द जल्द दो चार मिनटमें करके वह चल देती है ! क्यों महाराज ! यही बात है या कुछ और ?

पाठकगण ! इन तिलिस्मी 'कोठरियों' का दोहेमें कहीं पता भी नहीं। न मालूम विद्यावारिधिजीने यह बेबुनियाद इमारत कहांसे खड़ी करदी ! तभी तो वह ठहर न सकी, धमसे नीचे गिर गयी ! "घैर" इस निन्दार्थक शब्दका "घरै" बना दिया ! कुछ तो चाहिये था !

दोहेका अर्थ है कि—नायिका यह जानकर भी कि घर घर इसकी चर्चा और निन्दा होती है, उसीके—नायकके—घरको जाती है, और जब प्रेमोन्मादमें लोकचर्चा और निन्दाको भूल जाती है, तब भी उसीके घर जाती है। सब कुछ भूलकर भी उसका घर नहीं भूलती ! "दीवाना बकारे-खेश हुशियार"

\+ + +

१३–द्वैजसुधादीधितिकला, यह लखि दीठि लगाय।
मनो आकाश अगस्तिया एकै कली लखाय ॥२५०॥

❀ ❀ ❀

"दोयजके चन्द्रमाकी अमृतभरी क़लाको जान दृष्टि लगाकर देख, जैसे आकाशरूपी अगस्तके वृक्षमें एकही क़ली दिखाई दे रही है [दीधिति चन्द्रमा] 'मुग्धाहाव' पर्यायोक्ति और 'उत्प्रेक्षालङ्कार'।
(पृ० ८६)

शिव ! शिव !! यह देखिये "सुधादीधिति"—चन्द्रमाके-दो टूक कर दिये ! हा दैव ! विहारीके काव्य-चन्द्रको यह कैसा अकाल-ग्रहण लग गया !

आजसे कोई चौदह सौ साल पहले अरबमें एक बार हज़रत मुहम्मद साहबने चाँदके दो टुकड़े किये थे, वह घटना अबतक उनके "मोअज़िज़ों"में 'शक्कुल्क़मर'के नामसे प्रसिद्ध है। या अब इतने दिनों पीछे भारतवर्षमें विद्यावारिधिजीने यह "शक्कुल्-सुधादीधिति" (?) का करिश्मा दिखलाया है !!

चन्द्रार्थक "सुधादीधिति" इस समस्त पदमेंसे 'सुधा' निकाल-कर एक ओर फेंक दी, और दीधितिको एक तरफ़ डाल दिया ! और नया तमाशा देखिये 'दीधिति'का अर्थ करते हैं आप "चन्द्रमा"!!! जय विद्यावारिधे ! धन्य विद्वद्वृन्दशिरोमणे ! यह अपूर्व अर्थ करके तो आपने अपनी संस्कृतज्ञताकी पराकाष्ठा और विद्यावारि-धिताकी थाह दिखा दी !

सच है, 'तुलसी आह गरीबकी कभी न खाली जाय" आपने तो विहारीकी कविताको ख़राब किया ही है, पर याद रखिये आपकी यह टीका ही आपकी 'विद्यावारिधिता'के लिये 'अगस्त्य मुनि' हो गयी ! आपका यह उद्योग 'विषमालङ्कार'का लम्बायमान उदाहरण बन गया ! भलेमानुषो ! यदि कविताका अर्थ समझमें नहीं आता तो यह भी कोई बड़ी बात है कि "दीधिति" किसे कहते हैं ! 'अमरकोश' पढ़नेवाला विद्यार्थी भी

जानता है कि 'दीधिति' चन्द्रमाको नहीं, 'किरण' को कहते हैं, (किरण चाहे चन्द्रमाकी हो या सूर्य्यकी)। चन्द्रमाका नाम 'शीतदीधिति' है, 'सुधादीधिति' है। इसी प्रकार 'सूर्य्य'का नाम "तिग्मदीधिति" है। किसी कोश या काव्यमें केवल 'दीधिति' चन्द्रमाका नाम नहीं आया। आप चाहे किसी भी संस्कृतके विद्वान्से पूछ देखिये। न मालूम आपको यह धोखा किसने दिया! कहीं लल्लूलालजीके बहकानेमें तो नहीं आगये! कुछ लक्षण तो ऐसेही प्रतीत होते हैं, अच्छा तो ज़रा ठहरिये, 'लालचन्द्रिका' देख लें—

"मुग्धाहाव वर्णन·······'सखीका वचन नायकासे'। दीधिति चन्द्रमा। दूजके चन्द्रमाकी कलाको अमृत जान तू यह देख दृष्टि लगाकर मानो आकाशरूपी अगस्तके वृक्षमें एकही कली दिखाई देती है, प्रतीप, पर्यायोक्ति, और उत्प्रेक्षालङ्कार·······"

यह जो कहिये, आप लालचन्द्रिकाकी नक़ल किये बैठे हैं! लल्लूलालजीने प्रारम्भमें "दीधिति चन्द्रमा" लिखा है, आपने उसे अन्तमें स्थापित करके उसके इधर उधर ब्रैकेटका 'परिवेष' बना दिया है, कुछ तो भिन्नता और विशेषता चाहिये थी! टुकड़े करके भी सन्तोष न हुआ! वेचारेके ऊपर और ब्रैकेटका परिवेष (घेरा) भी लगा दिया।

'सुधादीधिति'में के सुधाका अर्थ लल्लूलालजीने सिर्फ 'अमृत' करके उसे 'कला' का विशेषण बनाया। आपने उसे 'अमृतभरी' कर दिया! लल्लूलालजीके इस वाक्यमें—'कलाको अमृत जान'—'जान' यह विधि या समापिका क्रिया जान पड़ती है, परन्तु आपने उसे 'कलाको' के आगे रखकर सम्बोधनकासा रूप देदिया, अर्थात् "ऐ जान! (बाज़ारी मुहावरा!) दृष्टि लगाकर देख।"

इस दशामें ऐसा अर्थ करनेके सिवा दूसरी गति नहीं है। यदि 'जान' और 'दृष्टि'के बीचमें "और" शब्द होता तो भी कुछ बात थी। लालचन्द्रिकाके 'प्रतीप'को न जाने आपने क्यों छोड़ दिया! जब आदमी नक़ल करे तो पूरीही करे! और आपका यह 'मुग्धा हाव' अपने प्रयोक्ताके मुग्धत्वकी ड्योंढ़ी अलग पीट रहा है! विद्या-वारिधिजी! 'मुग्धाहाव' नहीं, "मौग्ध्य हाव" कहिये। अन्यथा 'मुग्धाहाव'के साथ 'मध्याहाव' और "प्रौढाहाव" आदि भी मानने पड़ेंगे, समझे जनाब!

'हावों' का हाल लिखते हुए 'साहित्यपरिचय'के २९ वें, पृष्ठपर आपने स्वयं 'मौग्ध्य' लिखा है, और नहीं तो उसे ही देख लीजिये। पर आपको इससे क्या, वहां साहित्यदर्पणमें 'मौग्ध्य' देखा वह नक़ल कर दिया, यहां 'मुग्धाहाव' देखा, वैसा लिख दिया! नक़लमें अक़लको क्या दख़ल! लल्लूलालजी यदि भूलसे 'सुधादीधिति'का पदच्छेद करके 'सुधा' को 'कला' में मिला गये और 'दीधिति' का अर्थ 'चन्द्रमा' कर गये, तो इसका कारण था, वह बेचारे संस्कृतके विद्वान् नहीं थे, उनसे ऐसी अशुद्धि हो जाना सम्भव और क्षन्तव्य है, परन्तु आपको तो अपनी "विद्वद्वृन्दशिरोमणि" "विद्यावारिधि"की उपाधियोंका ध्यान रखना चाहिये था, ये बेचारी अपने जीमें क्या कहती होंगी, अपने कर्मोंको कोसती होंगी!

महाराज! शब्दोंका दुष्प्रयोग बुरा होता है, इससे बचना चाहिये। क्या आपने आचार्य्य दण्डीका यह श्लोक नहीं सुना?—

"गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति॥"

\+ \+ \+

१४—*चितवन भोरे भायकी गोरे मुख मुसक्यान ।*
लगनि लटकि आली गरे चित खटकत नित आन ॥३१२॥

"उसका भोरे भायसे देखना और गोरे मुखकी मुसकान लगना लगाना लटकके सखीके गरे यह वात नित्य मेरे शरीरमें आन कर खटकती है"। 'स्वभावोक्ति' (पृ० १०६)

यहां 'भोरे' 'भाय' 'गरे' इन्हें आपने यथास्थित ही रहने दिया है। व्रजभाषासे आपको ख़ास प्रेम है, 'तिया' 'पिया, 'उरहना' इत्यादि शव्द वेअख़्त्यार जहाँ तहाँ आपके जादूरक़म क़लमसे टपक पड़े हैं!

"लगना लगाना लटकके सखीके गरे यह वात नित्य मेरे शरीरमें आनकर खटकती है!"—

ज़रूर खटकती होगी, हमारे कानोंमें भी आपके यह शब्द खटक रहे हैं।

"लगना लगाना लटकके" कैसी अच्छी लटपटपंछीकी पूंछ है!

जी हां, क्या होता है!........"बात नित्य शरीरमें आनकर खटकती है"। किसके शरीरमें खटकती है, यह तो आपसे पूछना ही फ़ज़ूल है, इसका पता तो आप देंगे ही नहीं। अबतक "वात चित्तमें खटकती है" "मनमें खटकती है" यह सुना करते थे, अब आपसे मालूम हुआ कि वह शरीरमें भी खटकती है। यह मालूम न हुआ कि वह सारे शरीरमें आनकर खटकती है या हाथ, पैर, सिर, आदि किसी एक अंगमें ? सब पुरानी बातोंमें फेरफार हो रहा है, विद्यावारिधिजीने सोचा कि शब्दोंके अर्थों और मुहावरोंमें भी तबदीली होनी चाहिये। इसकी 'इसलाह' का काम उन्होंने ख़ुद अपने हाथमें लिया है। अब आगेको 'चित्त' का अर्थ 'शरीर'

करना होगा, यह बात 'जीमें खटकती है' की जगह—शरीरमें खटकती है,—कहना होगा, इस बातको सब नोट करलें।

है भी तो ठीक, चित्तमें इतनी सामर्थ्य कहां, जो इस नित्यके खटकेको सह सके! अबतक जो हुआ सो हुआ, अब उसे छुट्टी मिलनी चाहिये, और यह काम शरीरके सपुर्द होना चाहिये।

एक बात और है। कोई चीज़ चित्तमें खटक भी कैसे सकती है? यदि कोई किसीके ढेला या कंकर मारता है तो वह शरीरमें ही तो जाकर लगता है और खटकता है, चित्तसे क्या वास्ता?

न जाने बिहारीलालजी 'चित खटकत' कैसे लिख गये! यही क्यों, इससे अगले दोहेमें भी तो उन्होंने यही कहा है—

"छणमें छणमें 'खटकत सुहिय' खरी भीरमें जात।
कहीं जु चलि बिनही चितैं ओठन ही में बात॥ ३१३॥"

"छण छणमें वह बाला मेरे मनमें खटकती है, बड़ी भीर में जाते हुए वह देखकर होठों ही में बात कह कर चली।
"स्मृति"— (पृ० १०६)

ऐसा मालूम होता है कि पुनरुक्तिसे बचनेके लिये विद्यावारिधिजीने इस दूसरे दोहेकी टीकामें—"मेरे मनमें खटकती है" लिख दिया है। "शरीरमें खटकती है" तो पहले आ ही चुका था। सबही बातोंका ध्यान रखना पड़ता है! अथवा यह बात होगी कि नित्यके खटकनेसे शरीर जर्जर हो गया, उसमें छिद्र हो गये। अतः उन छिद्रोंमें होकर बात अब मनमें खटकने लगी! जिस प्रकार घड़ेमें बार बार कंकर मारनेसे जब छेद हो जाते हैं तो घड़ेके अन्दरकी चीज़पर कंकर जा लगता है। इस प्रकार इस विरोधका परिहार हो सकता है!

\+ + +

१५—अपनी गरज न बोलियत, कहा निहोरो तोहि ।
तू प्यारो मो जीयको मोजी, प्यारो मोहि ॥ ३५१ ॥

* * *

"अपनी गरजसे बोलते हैं इसमें मरा क्या निहोरा है तुम मेरे जीके प्यारे हो और तुम्हें मेरा जी प्यारा है। काव्यलिंग।"
(पृ० ११८)

मूलपाठमें काट छाँट किये बिना श्रीमान्‌को सब्र नहीं आता। यह कुटेव छूटनी कठिन है। यहां 'गरजनि'का पदच्छेद करके और 'इकार' उड़ाकर 'गरज न' ही गढ़ दिया! तथा ४थे, चरणमें 'मो जिय' को 'मोजी', बनाकर कामा लगा दिया! 'मोजी'के आगे-का यह 'कामा' शायद 'जिय'के 'यकार'की यादगार है!

'कहा निहोरो तोहि'का अर्थ करते हैं—"इसमें मरा क्या निहोरा है" यह 'मरा' स्त्रियोंकी गाली है। स्त्रियाँ प्रायः 'जला' 'मरा' बोला करती हैं। विद्यावारिधिजीने इसे यहाँ शायद इसलिये रक्खा है जिससे यह पता चल जाय कि यह किसका वचन है। क्योंकि वैसे तो किसी दोहेके अर्थमें आप यह लिखते ही नहीं कि कौन किससे कह रहा है. सिर्फ क्रियाओं और मुहावरों द्वारा ही वक्ताका पता चलाया जा सकता है, वह भी यदि भाग्यसे कहीं आगये तो। सो इस 'मरा' से मालूम हुआ कि नायिका नायकसे कह रही है कि—"तुम मेरे जी को प्यारे हो और तुम्हें मेरा जी प्यारा है —"

बहुत ठीक है, ऐसा होनाही चाहिये, इसमें किसीका क्या निहोरा है। ऐसा कौन निष्ठुर होगा जो जीसे प्यार करनेवालेको प्यार न करे; या उससे न बोले, यह तो एक बहुत मामूली और मोटी बात है। फिर न मालूम कवि विहारीलालजीको यह क्या सूझी कि

वह ऐसी साधारण बातकेलिये भी दोहा बनाने बैठ गये ! क्या ऐसी ऐसी अस्म बातोंकेलिये भी काव्य बनाया जाया करता है ? इसमें—(आपके काव्यलक्षणानुसार)—कौनसा "......रस सुख लोकोत्तर चमत्कार..." है कि इसे इस दशामें काव्य कहा जाय ? यह भी कोई बात नहीं, कि किसीसे बोलनेकेलिये इसीकी जरूरत हो कि वह बोलनेवालेको जीसे चाहता है। उदासीनताकी दशामें और भले आदमियोंमें दुश्मनीकी हालतमें भी, आपसमें बोल चाल बन्द नहीं होती। इसके अतिरिक्त बोलनेवालीका यह कहना कि मैं 'अपनी गरजसे बोलती हूं' इस दशामें व्यर्थ है, क्योंकि जब एक दूसरेको बराबर जीसे चाहते हैं तो बोलनेमें दोनों की 'ग़र्ज़े-मुश्तर्का' हुई, इसमें एककी ग़रज़ बतलाना सरासर ख़िलाफ़ क़ानून है। चाहे आप इस बातको किसी वकीलसे पूछ देखिये। दोहेकी यह दुर्दशा करके भी आप फ़र्माते हैं—"काव्यलिङ्ग"। विद्यावारिधिजी ! इसमें तो आपने काव्यत्वकी एक बूंद भी नहीं छोड़ी, यह तो सूखे छिलके रह गये ! अब इन कोरे शब्दोंमें आप कहां काव्यका लिंग ढूंढ रहे हैं ? कृपा कीजिये, काव्य वाव्यका नाम लेकर सहृदय काव्य-रसिकोंके साथ मज़ाक़ न कीजिये, कविताके ज़ख्मोंपर नमक न छिड़किये। आपकी टीकाकी प्रचण्ड-ज्वालाने काव्य-लतिका भस्म कर डाली। अब यहां 'काव्यलिंग' कहां है ! हाय ग़ालिब ! तुमने यह शेर इसी मौक़ेके लिये तो नहीं कहा था !—

"जला है जिस्म जहां दिल भी जल गया होगा;
कुरेदते हो जो अब राख जुस्तजू क्या है ?"

सहृदय पाठकगण ! आपने देखा, विहारीकी इस अत्युत्कृष्ट उक्तिको किस प्रकार जलाकर राख किया है !

यहां रोषभावकी शान्ति और औत्सुक्य भावके उदय होनेपर कलहान्तरिताकी अथवा प्रणयकुपित नायकको मनाती हुई नायिका-की उक्ति है। अभिप्राय यह है कि—मैं अपनी ग़रज़से बोलती हूं, कुछ तुझपर अहसान नहीं करती। जो मुझे अपना 'जी' प्यारा न होता और जीको तू प्यारा न होता तो तेरी ऐसी करतूतोंको देख-कर भी क्यों तुझसे बोलती! तुझसे बोले बिना 'जी'से रहा नहीं जाता—उसकी ख़ातिर सब बातोंको भूलकर बोलना ही पड़ता है। जान बड़ी प्यारी चीज़ है, उसके लिये सब उपाय करने पड़ते हैं।

इसी दोहेके अर्थवाली एक गाथा "गाथासप्तशती" में है—

"बालअ तमाहि अहिअं णिअअं विअ वल्लहं महं जीअम्।
तं तइ विणा ण होइ त्ति तेण कुविअं पसाएमि" ॥ ३१५ ॥

"(बालक! त्वत्तोऽधिकं निजकमेव वल्लभं मम जीवितम्।
तत् त्वया विना न भवतीति तेन कुपितं प्रसादयामि॥)"

अर्थ—हे बालक—परपीड़ानभिज्ञ! तुझसे ज़्यादा मुझे अपनी ही जान प्यारी है, वह तेरे बिना नहीं बचेगी, इसलिये तुझ रूठे-हुएको मना रही हूं।

दोहे और गाथाके भावमें कितना सादृश्य है!

\+ \+ \+

१६—औंधाई सीसी सुलखि, विरहबरी बिललात।
बीचै सूख गुलाब गो छींटो छुई न गात ॥ ३८२ ॥

"हे प्रीतम! एक सखीने जो उलट कर सीसी उसके शिरपर डाली अर्थात् विरहसे विकल हो विल्लाते हुए सीसी लुढ़काली (?) बीचमें ही गुलाब सूख गया उसके शरीर में छींट भी न लगी। अयुक्तालंकार।" (पृ० १२८)

आपने भी अर्थज्ञानके विरहसे विकल हो 'विल्लाते' (?) हुए विहारीके काव्यामृतसे भरे कटोरेको इसप्रकार 'लुढ़काला' (?) है कि काव्यप्रेमियोंतक उसकी एक छींट भी न पहुंच सकी, सबका सब काव्यरस बीचमें ही सूख गया, या धूलमें मिल गया। काव्यामृत-पिपासु देखते ही रह गये !

विद्यावारिधे ! यह आप क्या कह रहे हैं ? ज़रा सोचिये तो सही ! 'हे प्रीतम !' कहकर नायकको कौन सम्बोधित कर रही है ! नायिका स्वयं तो कह नहीं रही, क्योंकि 'उसके शरीरपर तो "सीसी 'लुढ़काली' (?) गयी है।" सखी नायिकाका विरह नायकसे निवेदन कर रही है, पर सखी नायकको 'हे प्रीतम !' नहीं कहा करती । सम्बोधनके इस अनौचित्यपर आपने ध्यान नहीं दिया ! और—"अर्थात् विरहसे विकल हो विल्लाते हुए सीसी लुढ़काली"–इसका क्या मतलब है? क्या 'सीसी लुढ़कालने वाली'(?) स्वयं विरहसे विकल हो विल्ला (?) रही है ? उसकी ऐसी दशा क्यों है ? उसे किसका विरह है ? फिर उसने वह 'सीसी' अपने ही ऊपर न 'लुढ़कालकर' किसी दूसरीके ऊपर क्यों लुढ़काली ! विरहकी विकलता ही जो ठहरी ! बेचारी 'लुढ़कालना' अपने ऊपर चाहती होगी, जल्दीमें घबराकर औरके ऊपर लुढ़का दिया। पर बीचमें ही गुलाब क्यों सूख गया, इसका कोई कारण ऐसी दशामें प्रतीत नहीं होता। यह 'अयुक्त' बात हुई, इसीलिये शायद आपने यहाँ—"अयुक्तालंकार"—लिखा है।

साहित्य-शास्त्रमें 'अत्युक्ति' और "अतिशयोक्ति" अलङ्कार तो हैं, पर यह "अयुक्तालंकार" आजतक न सुना था ! लल्लूलाल-जीने तो 'अत्युक्ति'में की 'इ'कार उड़ाकर उसे 'अत्युक्तालंकार' बनाया और श्रीमान् विद्यावारिधिजीने उसमेंसे 'तकार'की मिला-वटको भी निकाल बाहर किया और एक ख़ासा नये ढँगका

'अयुक्तालंकार' गढ़कर सतसईके गले मढ़ दिया! पुराने 'ओल्ड-फ़ैशनके' अलङ्कार आजकलकी सुशिक्षित सोसायटीमें रद्दी और भद्दे हो गये, इसीलिये हमारे विद्यावारिधिजी—'लेखालङ्कार' 'काकोक्ति' 'भ्रान्तालङ्कार' 'अयुक्तालङ्कार'—इत्यादि न्यूफ़ैशनके नये नये अलंकारोंसे श्रीमती सतसईको "सर्वाङ्गभूषित" कर रहे हैं!

दोहेका साफ़ अर्थ यह है कि—नायिकाको विरहाग्निसे जलती और विलाप करतीहुई छटपटाती देखकर, तापशान्तिके लिये (सखीने) उसके ऊपर गुलाबकी शीशी उलटी की, परन्तु शरीरसे जो विरहाग्निकी लपटें निकल रही थीं, उनसे गुलाबजल बीचहीमें सूख गया, शरीरतक एक भी बूंद न पहुंची!

विरहतापका वर्णन विहारीलालने जिस अपूर्वता, अधिकता और अतिशयोक्तिसे अपने काव्यमें किया है, वह बड़ा ही विचित्र है। इस विषयमें वह सबको मात कर गये हैं। *

+ + +

१७—*विरहबरी लख जोगननु, कह्यो सो उहि कै बार।*

अरी आव भज भीतरे, बरसत आज अंगार ॥३८५॥

"विरहबरीने पटबीजनों को देखकर कै बार यह बात सखीसे कही "अरी आउ भजिया" (?) आज अँगारे भीतर ही बरसते हैं।"

(पृष्ठ १२९)

---

* अन्य कवियोंकी इस विषयकी उक्तियोंके साथ 'विहारीका विरहवर्णन' (भूमिकाके १६० पृष्ठसे २१२ तक) पाठक पढ़ ही चुके हैं।

महाराज ! दया कीजिये, विहारीकी कवितापर यह अनर्थके अंगारे न बरसाइये, इसे जलाकर आपके हाथ क्या आजायगा ? अर्थ न हुआ करे तो मूलको तो न बिगाड़ा करो ! 'लखि' का 'लख' 'जींगनितु' का 'जोगनतु' और 'भजि' का 'भज' आपने किसके कहनेसे किया है ? और कृपानिधान ! मेह और ओलोंकी तरह अँगार भी यदि बरसें तो बाहर ही बरसें। (पटे हुए) मकानोंके भीतर नहीं। यहां आपको 'भ्रान्ति' हो गयी। "भीतरै" का सम्बन्ध "अरी आव भजि" के साथ है। 'बरसत' के साथ नहीं ! समझे हुज़ूर ! पुरनूर !

कृष्णकविने जो इस दोहेपर कवित्त लिखा है उसका यह अन्तिम चरण देखिये कैसा अच्छा है.............

"नीचेतें उठाय नारि डीठि परे जींगना सु,
आगि आगि आगि कै कै भाज गई भौनमें ॥"

× × ×

१८—*कहे जु वचन वियोगिनी, बिरहाविकल अकुलाय।*
किये न को अंसुआंसहित सोवत (?) बोल सुनाय ॥३६४॥

❀ ❀ ❀

"उस वियोगिनीने जो विरहसे व्याकुल हो" चिल्लाकर वचन कहे हैं उनको सोने को जातेमें सुनाकर किसको आँसू सहित नहीं किया अर्थात् उसके शयन समय उसके दुःखकी कथा को सुनकर सब रोने लगते हैं" (पृ० १३१)

आपके श्रीमुखसे भी विहारीके काव्यकी दुर्दशाको सुनकर सब सहृदय रोने लगते हैं !

मूलके "सुवा सु बोल सुनाय" को श्रीमान्ने "सोवत (?) बोल सुनाय" बना दिया ! इतनेपर भी दावा है कि.........

'कटोरेमें कीचड़ नहीं मिलायी गयी।' 'अकुलाय-'घबराकर-'का अर्थ आप '—चिल्ला कर'—करते हैं!

उस वियोगिनीने ....तो खैर 'चिल्लाकर' या घबराकर वचन कहे हैं,—पर "उनको सोनेको जातेमें सुना कर—" किसने सुनाकर? उस वियोगिनीने ही सुनाकर या किसी औरने! और—('उनको सोनेको जातेमें सुनाकर'—क्या अच्छी इबारत है!)—'किनको' सुनाकर? उन्हीं वचनोंको जो दिनमें 'चिल्ला-चिल्ला कर' कहे थे? मालूम होता है, वह 'वियोगिनी' दिनमें (या जागते में!) (लखनऊके मरसिया पढ़नेवालोंकी तरह) खूब चिल्ला चिल्लाकर जिन वचनोंका अभ्यास करती है, उनको ही 'सोनेको जातेमें' सुनाकर सबको रुलाती है! उसके शयनके समय उसके दुःखकी कथा सुननेको, रोनेवालोंकी एक मजलिस लगती है! रोज़ रातको दुःखकी कथा बैठती है!!

"जमा करते हो क्यों रक़ीबोंको
इक तमाशा हुआ, गिला न हुआ!"

यहां विद्यावारिधिजीके हाथसे 'अलंकार' न जाने कैसे छूट गया! आश्चर्य्य है! इस बातको तो वह भूलनेवाले न थे! कविता-की अन्त्येष्टि करके भी वह उसके शरीरसे अलङ्कार तो उतारा नहीं करते थे! यह आज नयी बात कैसे हो गयी! फिर क्या—'कहे जु वचन वियोगिनी'—इस कविताके पास कोई भी 'अलङ्कार' नहीं था! जिस बिहारीकी प्रत्येक कविताके पास एक एक छोड़ कई कई अलङ्कार हैं, अलङ्कारोंकी "संसृष्टि" है, उसकी यह कविता अलङ्कारशून्य कैसे रह गयी! राजाके घर मोतियोंका काल कैसे पड़ गया!

हरिकवि और लल्लूलाल कवि तो कहते हैं कि इस कविताके

पास भी एक अलङ्कार था, जो उन्होंने अपनी आँखों देखा था! वह कहां गया ? किसने छीन लिया ?

देखिये, हरिकवि इसके विषयमें क्या कहते हैं, उन्हींकी ज़बानी सुनिए—

"कहे जु इति। सखी सों सखी। एकान्तमें कहे जो वचन वियोगिनीने। विरह सों विकल 'दुखी होय कैं अकुलायकैं, जो बचन वियोगिनीने कहे। कौनकों आंसू सहित नहिं किये, किये हो, यह अर्थ काकुस्वरसों। 'सुवाने सुबोल सुनाय'—सुवाने सु कहिए वे ही बोल सुनाय। ताहि बोल कौं सुनाय कैं। सुवाको बोल कारन, आँसू कारज। हेत्वलङ्कार॥" (हरिप्रकाश टीका)

और भी आपने सुना ? हरिजी कहते हैं कि वियोगिनीने तो 'सोनेके (या चांदीके ?) जातेमें' दुःखकी कथा किन्हीं सबको नहीं सुनायी थी, वह बेचारी तो एकान्तमें बैठकर चुपकेसे रोयी थी ! विरहकी विकलतामें घबराकर, बेअख़्तियार उसके दुखी दिलसे कुछ वचन निकल गये, उसने अपने 'शयन समय' किसीको रुलानेके लिये दुःखकी कथा नहीं कही थी ! पर बदक़िस्मतीसे वहाँ (एकान्त स्थानमें) पिंजरेमें बैठे 'गङ्गाराम' सुन रहे थे, उन हज़रतने वे सुने हुए वचन दोहराकर सबके सामने भांडा फोड़ दिया ! और विद्यावारिधिजीने व्यर्थ ही बेचारी वियोगिनीपर सबके सामने निर्लज्जतासे दुखड़ा रोनेका इलज़ाम लगा दिया !

"क़ाबिले-अफ़सोस है, उस शख़्स की रुसवाई भी,
परदे ही परदेमें जो कम्बख़्त रुसवा होगया।"

\+ + +

१६—कोटि यतन कोऊ करो, तनुकी तपति न जाय।
जैं। लगि भीजै चीरलों रहै न यों (?) लपटाय*॥४०८॥

* * *

"प्यारी कोटि यतन करो परन्तु प्यारेके तनुकी तपन नहीं जायगी जबतक भीजे चीरके समान तुम्हारे शरीरमें लिपट कर न रहै। पूर्णोपमा—नायक उपमा (?) चीर उपमेय लौं वाचक लिपटना धर्म॥" (पृ० १३६)

अफ़सोस! बड़ा सख़्त मर्ज़ है! असाध्य रोग है!! "प्यारी कोटि यतन करो परन्तु प्यारे की तनुकी तपन नहीं जायगी"—क्यों महाराज! फिर यह 'तपन' कैसे जायगी? किसी डाक्टरको बुलाया जाय? या यूनानी हकीमको! या आपकी उस 'टुट-कहेरी' से भूतकी छूत दूर करायी जाय? कुछ तो बतलाइये! आपकी रायमें 'प्यारी' और 'प्यारे' के बशका तो रोग है नहीं? 'प्यारी' 'करोड़ उपाय करो'—उसके किये तो कुछ होगा नहीं? यह 'तपन' कैसी है? कहीं ज्येष्ठ आषाढ़की गरम लुएं तो नहीं लग गयीं?

---

* दोहेका शुद्ध पाठ इस प्रकार है—

"कोटि [रि] जतन कोऊ करो तनकी तपति न जाय।
जौ लौं भीजे चीर लौं रहै न प्यौ लपटाय॥"

विद्यावारिधिजीने कई शब्दोंको बदल दिया है। ख़ैर, और जो कुछ किया है वह किया ही है, "प्यौ" का 'यों' (?) न जाने क्यों किया है! शायद इससे शरीरमें लिपटनेका प्रकार विवक्षित है!

"मैंने कहा कि रन्जो ग़म मिटते हैं किस तरह कहो,
सीना लगाके सीनेसे उसने बतादिया कि यों"।

'कोऊ' का अर्थ किया है 'प्यारी' और 'यों' (?) का प्यारे!

हाँ, आपने यह क्या फ़र्माया—"जब तक भीजे चीरके समान तुम्हारे शरीरमें लिपटकर न रहै"—आपके, इस 'प्रयोग' (नुसखे) की विधि कुछ समझमें नहीं आयी ? यह 'भीजे चीर के समान' 'तुम्हारे'—पद—वाच्य कौन हैं ? और इसके 'शरीर' में लिपटकर, कौन न रहे ? "पूर्णोपमा" (?) या बाबाजीकी 'विभूति' (?) आपका निर्दिष्ट यह 'तनुतपनोपशमन' उपाय तो 'लटकमेलक' के 'जन्तुकेतु' के इस प्रयोगको भी मात कर रहा है ! रोग, निदान, औषध और वैद्य, सबही विलक्षण हैं !—

"यस्य कस्य तरोर्मूलं येन केनापि पेषयेत् ।
यस्मै कस्मै प्रदातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति ॥"

❀ ❀ ❀

और आपकी यह "पूर्णोपमा" तो "सर्वोपमा देवे योग्य" है !

हाँ, विद्यावारिधिजी महाराज ! "पूर्णोपमा नायक उपमा (?) चीर उपमेय········" यह 'नायक' काहेकी उपमा (?) है ? इसी 'पूर्णोपमा' की ? और कौनसी 'उपमा' है ? यह लुप्तनकार 'उपमान' तो नहीं है ? अच्छा, अब समझे,—"नायक, उपमान" 'चीर उपमेय'—यह मतलब । बहुत ठीक, बहुत खूब—!

महाराजकी जय रहे, यह तो अब "प्रतीप" * होगया !!! 'पूर्णोपमा' कहाँ रही ! समझे कि नहीं ? सुनिये—

"प्रतीपमुपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम्" ।

अर्थात् जहाँ 'उपमान' को 'उपमेय' बना दिया जाय वह 'प्रतीपालंकार' है । सो आप देखिये कि आपके यहां 'उपमान' का

---

* 'प्रतीप'—उलटा—होगया । 'प्रतीपालंकार' नहीं । 'अलंकार' तो इस दशामें कोई भी नहीं रहा ! हाँ' "पूर्णोपमा" का उलट पुलट करके सत्यानाश कर डाला है !

'उपमेय' बन गया है या नहीं ! जिस 'लालचन्द्रिका'से आपने यह 'पूर्णोपमा' नक़ल की है, पहले वहांसे इसका अर्थ समझ लीजिये—

"अन्तरङ्गिनी सखीका वचन सखीसे। कड़ोड़ उपाय कोई करो नायकाके शरीरकी जलन न जायगी। जब तक भीगे वस्त्रकी भाँति रहे नहीं है, नायक लिपटकर" कामके आधिक्यसे प्रौढ़ाका भी वचन सखीसे संभवे पूर्णोपमालंकार—नायक उपमेय, भीगा चीर उपमान, लौं वाचक, औ लिपटना धर्म ॥" (ला० चं०)

देखा आपने, आपकी "पूर्णोपमा"में और इसमें कितना भेद है ? यहां 'भीगा चीर' उपमान है, और आपने उसे उपमेय बना दिया और नायक जो उपमेय है उसे उपमा (न) कर दिया है। इतना उलटा (प्रतीप) कर देनेपर भी आप उसे "पूर्णोपमा" ही बतलाये जाते हैं ! इसे तोड़ मोड़कर अलङ्कारोंकी सूरत बिगाड़ना कहते हैं या क्या ???

+ + +

२०–*तजो (?) आंच अति बिरहकी, रह्यो प्रेमरस भीज।*
नयनानिके मग जल बहै, हियौ पसीज पसीज ॥ ४२८ ॥

"हे सखी ! अब इसका शरीर विरहकी आँचसे तचा है और प्रेमके रसमें भीजकर हृदयसे पसीज पसीजकर नेत्रोंके मार्ग से जल बहता है। समासोक्ति।" (पृष्ठ १४२)

हा भगवति विहारि-कविते ! शोच्यासि, यदेवं तपति समुच्छिन्नाज्ञानान्धकारे प्रकाशितादिक्चक्रवाले ललाटन्तपे ज्ञान-सहस्रांशौ, परित्रायतां हन्यमाना तपस्विनीत्यूर्ध्वबाहु समाक्रन्दति

त्वद्भक्तवृन्दे, प्रचरति च दुःसाहसिकहृदयविकम्पने महामहिमशालि-चक्रवर्ति-जार्जमहाप्रभुशासनचक्रे सोरस्ताडमब्रह्मण्यमुद्घोषयन्ती त्वमकरुणमुरोविदारं व्यापाद्यसे!! परमेशः परलोकप्रस्थितायास्ते सद्गतिं विदध्यादित्याशिषमन्तरा किमन्यद्ददामः शोकशुष्कहृदया मन्दभाग्या वयम् !!!

हा विहारीलाल ! किस बुरे मुहूर्तमें में तुम यह कविता करने बैठे थे ! क्या तुमने भी किसी जन्ममें किसीकी कविताको इसी प्रकार भ्रष्ट किया था, जिसका यह बदला अब तुमसे लिया जा रहा है ! जरूर कुछ ऐसी ही बात है, अन्यथा तुम्हारी अमृतरस-निष्यन्दिनी सूक्ति-लतापर इस प्रकार कुठारप्रहार करके उसे अनर्थाग्निकी ज्वालामें न झोंका जाता ।

विद्यावारिधिजी ! सच बतलाइये आप इस कविताके पीछे क्यों हाथ धोकर पड़े हैं ? इस ग़रीबने आपका क्या बिगाड़ा है, जो आप इसे इस तरह बिगाड़ रहे हैं ! साधु पुरुषोंका यदि किसीके साथ कुछ वैर भी होता है तोभी वह इसतरह उसके प्राणोंके ग्राहक नहीं हो जाया करते !

बुरा मानने और नाराज़ होने की बात नहीं, ज़रा शान्तचित्त होकर सोचिये कि यदि श्रीमान् विद्वद्वृन्दशिरोमणि, विद्यावारिधिजी कोई अत्युत्कृष्ट कविता लिखें,—ग़लती हुई माफ़ कीजिये, मेरे शब्द वापस दीजिये, ऐसा भला आप क्यों करने लगे—अच्छा तो यों समझिये कि श्रीमान् अपने जन्म भरके परिश्रमसे बहुतसा द्रव्य व्यय करके सर्वसाधारणके उपयोगार्थ "अतिललित, मधुर, मुग्ध" पुष्प फलोंसे सर्वाङ्गभूषित कोई सुरम्य उद्यान (बागीचा) लगावें जिसके पुष्प और फलोंसे अनेक प्राणियोंका उपकार

होरहा हो, अब यदि कोई महापुरुष दुरुस्त करनेके बहानेसे उसे उखाड़ पछाड़ और काट छांट करके ईंधन बनाने लगे और फलपुष्प-समन्वित वृक्षोंकी जगह बबूल और कटेलीके कांटेदार झाड़ बोने लगे, तो कितने अनर्थ और शोककी बात हो ! प्रत्येक सहृदय पुरुषको इससे क्षोभ और दुःख होगा कि नहीं ?

वह भौंरे जो उसके पुष्पों का मकरन्द पान करके मस्त रहते थे, वह पक्षिगण जो उसके अमृतोपम फलोंको खाकर इन्द्रके उद्यानको भी तुच्छ समझते थे, उस बाग़ीचा बरबाद करनेवाले की जानको क्या दुआ देंगे ? उनकी सन्तप्त आत्माका सब्र किसपै पड़ेगा ?

क्या इस दुर्घटनासे आपके हृदयपर आघात न पहुंचेगा ? पहुंचना तो ज़रूर चाहिये, सबकी यही राय है।

कोई विहारीकी आत्मासे पूछे। 'न्यूटन'को अपने उस अमूल्य ग्रन्थके 'उसप्रकार'—जलनेपर इतना दुःख न हुआ होगा, जितना विहारीको अपनी कविताके इस संहारपर हो रहा होगा !

न्यूटनने तो अपनी उस क्षतिको किसी प्रकार अन्य ग्रन्थ लिखकर पूरा कर भी दिया था, पर विहारीको अब कहांसे लायेंगे !

हन्त कविते देवि ! निराश्रयासि, कमाक्रन्दामः कस्ते साहाय्यं विधास्यति ? निन्द निजभागधेयं ! अलङ्घनीया नियतिः !

सहृदय काव्यरसिकगण ! यह दोहा कविकल्पनाका अलौकिक और अत्युत्कृष्ट नमूना है, कविकी अपूर्व प्रतिभाका चमकता हुआ चमत्कार है। कविता-देवीका मनोमोहक सुन्दर चित्र है। वाग्देवीका मुख-दर्पण है !

ऐसीही कविताके विषयमें यह कहा गया है—

"ज्योत्स्नेव हृदयानन्दः सुरेव मदकारणम्।
प्रभुतेव समाकृष्टलोका कवयितुः कृतिः॥"

ऐसी ऐसी अनूठी उक्तियोंके कारण ही 'सतसई' विदग्ध काव्यप्रेमियोंके कण्ठका कण्ठा और हृदयका रत्नहार बनी हुई है, या—कभी बनी हुई थी—कहना ठीक होगा !

जैसा उत्कृष्टतम यह दोहा है, ऐसी ही निकृष्टतम इसकी यह टीका है। यही क्यों, जहां मारा है, विद्यावारिधिजी ने रगपर नश्तर मारा है! सतसईमें जो जितने अच्छे दोहे हैं, उतनी ही उनकी अधिक दुर्दशा की गयी है, कोई किसे किसे रोवे !

"हैरां हूँ दिल को रोऊँ कि पीटूं जिगर को मैं,
मक़दूर हो तो साथ रखूं नौहागर को मैं।"

(ग़ालिब)

विद्यावारिधिजीकी सताई हुई सतसईके उत्तम पद्योंको रोनेके लिये तो "नौहागरों" की एक पलटन दरकार है! एक आध 'नौहागर'† को साथ रखनेसे काम न चलेगा।

दोहेका शुद्ध पाठ और अर्थ इसप्रकार है—

"तच्यौ आँच अति [अब] बिरहकी रह्यौ प्रेम-रस भीजि।
नैननिके मग जल बहै हियौ पसीजि पसीजि॥"

कोई किसीके विरहमें रो रहा है (या रोरही है) आंसू टपाटप गिर रहे हैं, उसे दिखाकर कोई अपने साथीसे कहता है। अथवा रोने वाला (विरही) स्वयं किसीके पूछनेपर कि क्यों रोते हो, अपने बहते हुए आंसुओंके बारेमें कहता है—

प्रेमके रसमें भीगा हुआ और विरहकी तेज़ आँचसे तचा (तपा) हुआ पसीज पसीजकर यह हृदय पानीके रूपमें आँखोंके रास्तेसे बह रहा है !!

† नौहागर = मातम करनेवाला।

जब किसी चीज़का अर्क़ निकालना होता है तो (यदि वह चीज़ सूखी हो) उसे भिगोकर आँचपर चढ़ा देते हैं और नलकेसे अर्क़ निकालते हैं। इस अप्रस्तुत पदार्थकी प्रतीति नेत्रोंसे बहते हुए आंसू रूप प्रस्तुत पदार्थसे होती है। इसलिये इस लक्षणके अनुसार—

"समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य यत् ॥"

पूर्वोक्त दोहेमें 'समासोक्ति' अलंकार है।

परन्तु विद्यावारिधिजी—"..........शरीर........तचा है।........प्रेमके रसमें भीजकर हृदयसे पसीज पसीजकर नेत्रोंके मार्गसे जल बहता है..........." यह विचित्र अर्थ करके भी 'समासोक्ति' बता रहे हैं! शरीर तचा है।........प्रेमके रसमें भीगकर......पानी बहता है"—मतलब यह कि सूखा पानी नहीं बहता, किन्तु वह प्रेमके रसमें भीगकर बहता है (?) उस पानी-का 'हृदय'से सिर्फ़ इतना ही वास्ता है कि तचेहुए शरीरका पानी (पसीना) उसमें आकर जमा होता है, और वहां औटकर फ़िल्टर होता है, बस फिर आँखोंके वाटरपम्पसे बाहर निकल जाता है !!!

ठीक है, इस दशामें भी 'समासोक्ति' अलङ्कार बनाही हुआ है; क्योंकि आँखोंसे पसीना या पानी निकलने रूप प्रस्तुत पदार्थसे—'वाटरवर्क्स' से नल द्वारा निकलते हुए जलरूप अप्रस्तुत पदार्थकी—प्रतीति होती है !!

पर विद्यावारिधिजीकी 'समासोक्ति' में और बिहारीलालकी समासोक्तिमें जो अन्तर है वह स्पष्ट ही है।

इस दोहेपर 'सुकवि' पण्डित अम्बिकादत्त व्यासकी कुण्डलिया पढ़ने लायक़ है, दोहेके साथ मिलाकर इसे पढ़िये—

"हियो पसीज पसीज हाय दृगद्वार बहत है †
काजर नहिं जरि गये अधिक रँग स्याम गहत है।
'सुकवि' बूंद मिस टूक टूक ह्वै निकरि चल्यो सब,
हाय याहिमें प्रीतम है यह तच्यो आँच अब॥"

× × ×

विहारीके दोहेका समानार्थक किसी संस्कृत कविका यह पद्य है—

"अनुदिनमतितीव्रं रोदिषीति त्वमुच्चैः
सखि! किल कुरुषे त्वं वाच्यतां मे मुधैव।
हृदयमिदमनङ्गाङ्गारसङ्गाद्विलीय
प्रसरति बहिरम्भः सुस्थिते! नैतदश्रु॥"

अर्थ—'तू नित्यप्रति बहुत रोती रहती है' ऐसा कहकर हे सखी! तू मुझे व्यर्थ क्यों बदनाम करती है! कामके अङ्गारोंसे पिघल पिघलकर यह हृदय पानी बनकर बाहर निकल रहा है, हे सुस्थिते! (विरहपीड़ानभिज्ञे!) यह आँसू नहीं हैं।*

---

† "(नैननि स्यामको रूप रह्यो सोइ
जात बह्यो अँसुआनकी धारै)"।

* विरहिणीके रोनेपर किसीकी यह उत्प्रेक्षा भी बड़ी बढ़िया है—

"*अङ्गानि मे दहतु कान्तवियोगवह्निः*
संरक्ष्यतां प्रियतमो हृदि वर्तते यः।
इत्याशया शशिमुखी गलदश्रु-बिन्दु-
धाराभिरुष्णमभीषिञ्चति हृत्प्रदेशम्॥"

—मुझ वियोगिनीके इन अङ्गोंको प्रिय-वियोगकी वह्नि भले ही भस्म करदे (परवा नहीं) पर हृदयमें विराजमान वह प्रियतम इस आगसे बचा रहे— उसे आँच न आवे—मानो इस विचारसे शशिमुखी-(वियोगिनी) अपने सन्तप्त हृदयको बहते हुए आंसुओंकी धाराओंसे सींच रही है!

किसी फ़ारसी कविका यह शेर भी (इसी मतलबका) सुनने लायक़ है—

"च मे पुर्सी ज़ हाले-मा दिले-ग़मदीदाअत चूँ शुद्,
दिलम् शुद् खूनो, ख़ूँ शुद् आबो, आब अज़ चश्म बेरूं शुद्।"*

*   *   *

इसका अभिप्राय यह है—

"तेरी जुदाईका ग़म खाये हुए मेरे दिलका हाल क्या पूछता है? दिलका ख़ून हुआ, वह ख़ून पानी बना, और पानी आँखोंके रास्तेसे बाहर निकल गया"—झगड़ा चुका! †

प्रायः ऐसा होता है कि भिन्नभाषा-भाषी और भिन्न-देशनिवासी कवियोंके भाव और विचार बहुधा आपसमें इस प्रकार मिल जाते हैं कि देखकर आश्चर्य होता है; और ऐसा मालूम होने लगता है कि एक दूसरेकी कापी कर रहा है। अक्सर कुकवि

---

* "ख़तूत मुन्शी अमीरअहमद मीनाई" के पृष्ठ ३०८ पर यही शेर इस पाठभेदसे लिखा है:—

"च मे पुर्सी ज़ अहवाले-दिले-ग़मदीदाअम चूँ शुद्,
दिलम् शुद् ख़ूंनो, ख़ूँ शुद् आबो आब अज़ दीदा बेरूं शुद्।"

† महाकवि "ज़ौक़" ने भी इसी ख़यालको इस तरह बांधा है:—

"रवां है शमाके अश्कों में चरबी ख़ाक घुल घुल कर।
बहा जाता है दिल ख़ूं होके अपना अश्कबारीसे॥"

"वह चला आँखोंसे दिल होकर गुदाज़,
मुंह पर आते जम रहे तो जम रहे।" (एक शाइर)

रवां=जारी। अश्क=आंसू। गुदाज़ होकर=पिघलकर।

तो दूसरेका अर्थ चुराकर भी इस प्रकारका सादृश्य दिखा देते हैं; परन्तु विहारी जैसे अपूर्व प्रतिभाशाली महाकवियोंके विषयमें यह बात नहीं कही जा सकती। किसी एक विषयपर दो कवियोंके भावसादृश्यको—जो स्वतः ही अचानक और अनायासरूपसे कविके प्रतिभा-पटपर अङ्कित हो, प्रकट हो जाते हैं—फ़ारसीमें 'तवारुद्' कहते हैं। ऐसे स्थल 'सतसई'में भी कई हैं। संस्कृत और उर्दू फ़ारसीके पद्य, सतसईके दोहोंसे कहीं कहीं टकरा जाते हैं सही, पर वह बात, वह लक्ष्यभेदिता और दृढ़पातिता जो इन 'नावकके' तीरोंमें है, दूसरी जगह कम है। ज़रा सतसई इस समय 'संहार'से बच जाय, विहारीका यह काव्य-चन्द्र इस अनर्थोपरागसे छूट जाय, तो इसपर विस्तृतरूपसे हम कभी फिर लिखेंगे, और विहारीकी अलौकिक कल्पनाके उत्कृष्ट उदाहरण सहृदय काव्यमर्मज्ञोंके सामने रक्खेंगे।

("सतसईके सौष्ठव" प्रकरणमें इस प्रकारके अनेक उदाहरण पाठक पढ़ चुके हैं)

× × ×

२१—* *नेक हँसोही बान तजि, लखो परत मुख नीठि।*

चौका चमकनि चौंधमें, परत चौंधसी दीठि ॥४८३॥

"सखी तू नेक हँसनेका स्वभाव छोड़दे तेरा मुख नजर भरकर देखा जाय है, दाँतके चौकेकी चमकसे हमारी दृष्टि चौंधाईसी हो जाती है। काव्यलिंग।" (पृष्ठ १५९)

विद्यावारिधिजी! बुरा माननेकी बात नहीं, सच बतलाइये, टीका करते समय आपका ध्यान कहाँ रहता है? कुछ आप

---

* शुद्ध पाठ इस प्रकार है—

"नैकु हँसौहीं बानि तजि लख्यौ परतु मुख [मुँह] नीठि।

चौका चमकनि चौंधिमैं परति चौंधि सी [कैं] दीठि" ॥

होशहवाससे भी काम लेते हैं या नहीं ? क़लम उठाया और आँख मींचकर जो जीमें आया सो लिख मारा ! और न जाने यह अलङ्कार-निर्देशकी सनक आपके दिमाग़में क्यों समा गयी है ! कविताका गला घोंटकर भी अलंकार उसके गले मढ़ देते हैं ! न मालूम इस "मृतमण्डन"से आपने क्या लाभ विचारा है !

ज़रा सोचनेकी बात है, आपके इस अपूर्व अर्थकी मौजूदगीमें यहां 'काव्यलिङ्ग' किस प्रकार ठहर सकता है ! इस दशामें तो यह दोहा 'बावलेकी बड़' है, और कुछ भी नहीं। कुछ समझमें नहीं आता कि जब "......मुख नजर भरकर देखा जाय है," तो वह 'नेक' (बद भी नहीं ?) हँसने का स्वभाव क्यों छोड़ दे ! और जब "दाँतके चौके की चमकसे आपकी (देखनेवालेकी) दृष्टि चौंधाईसी हो जाती है" तब उसका "मुख नजर भरकर" कैसे देखा जाय है ! और फिर इस विचित्र अर्थमें 'काव्यलिङ्ग'* किधरको समाय है ?

जहाँसे आपने 'काव्यलिङ्ग' लिया है, वहीं इसका अर्थ भी देखिये—

"सखीका वचन नायकासे, नायकके साक्षात्। तनक हँसनेका सुभाव छोड़ दे, देखा जाता है तेरा मुँह नीठ करके। दाँतके चौके-की चमकसे चौंधाईसी हो जाती है दृष्टि हमारी। हाँसीको उपमा

* विद्यावारिधिजीके इस विलक्षण अर्थमें तो "तृतीय विभावना" का भान हो रहा है !—"कार्योत्पत्तिस्तृतीया स्यात्सत्यपि प्रतिबन्धके" अर्थात् 'आंखोंकी चकाचौंध' रूप प्रतिबन्धक कारणके होते हुए भी 'नज़र भरकर मुख दीखना' रूप कार्य हो गया ! पर ऐसी हालतमें विद्यावारिधिजीको दोहा भी नया गढ़ना पड़ेगा, बिहारीके उक्त दोहेपर यह नहीं घट सकता।

बिजलीसे है। इससे दृष्टिको चकाचौंधी लगती है। काव्यलिङ्ग अलङ्कार।" (लालचन्द्रिका)

दोहेके पूर्वार्द्धमें सखी, नायिकासे हँसनेकी आदत छोड़नेका अनुरोध इसलिये करती है कि नायकको उसका (नायिकाका) मुख किसी प्रकार—मुश्किलसे—दीख पड़ता है, इस बातका समर्थन दोहेके उत्तरार्द्धमें किया है कि दन्त-द्युति—दाँतोंकी चमक—से नज़र चौंधा जाती है, इस कारण मुख नहीं दीख पड़ता है! इसीलिये 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार है—

"समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिङ्गं समर्थनम्"
या—"काव्यलिंग जहँ युक्ति सों अर्थ समर्थन होय"

अर्थात् कहे हुए अर्थको युक्तिद्वारा समर्थन करना 'काव्यलिंग' का लक्षण है। जैसे यहां हँसनेकी हालतमें मुख साफ़ साफ़—अच्छी तरहसे—नहीं दीखता, इस बातको इस प्रकार समर्थित किया है कि दाँतोंकी तेज़ चमकके सामने नज़र नहीं जमती, दृष्टि काम नहीं देती, जिस तरह बिजलीकी चमकमें कोई चीज़ साफ़ नज़र नहीं आती।

मूलके 'नीठि' शब्दने विद्यावारिधिजीको और भी कई जगह ठोकरें खिलवायी हैं, सतसईमें जहाँ जहाँ भी यह 'नीठ' या 'नीठि' शब्द आया है, वहीं वहीं इसका अर्थ करनेमें आप लुड़खड़ा गये हैं। कहीं इसका अर्थ 'बिलकुल नहीं' कर दिया है, और कहीं कुछ और मनमाना, कहीं वैसे ही छोड़ दिया है। (४२२ तथा ४२१ दोहे में भी आपने इसी प्रकार 'नीठ' की पीठपर अनर्थके कोड़े लगाये हैं!)

'नीठ' शब्द विहारीके काव्यमें बहुत जगह आया है, यह शब्द अब तक भी इधर इसी अर्थमें बोला जाता है, जिस अर्थमें

विहारीने इसका प्रयोग किया है। 'नीठ' का अर्थ है—किसी प्रकार ! मुश्किलसे। जैसे कहते हैं—"अमुकने यह चीज़ पांच सेर करके दी थी, पर, तोलनेपर 'नीठकर' साढ़े चार सेर उतरी है।"

\+ \+ \+

२२—तो लखि मो मन जो गही, सो गति कही न जाति।

ठोडी गाड गड्यो तऊ, उडो [ड्यौ] रहत दिन राति ॥४८६॥

* * *

"जो तुझे देखकर मेरे मनने जो पकडी है सो गति कही नहीं जाती है, यद्यपि ठोडीके गर्तमें पडा है तथापि दिनरात उडता ही रहता है यदि कहो दिनरात उडनेसे उडनेकी पुष्टाई (?) नहीं है तो इसका भाव यह कि, कहीं हाथ चिबुकको स्पर्श न करे यही सोच रहता है।" (पृ० १६०)

टीकामें आपने जो "जो जो सो सो" की झड़ी लगाई है, सो कही नहीं जाती है। डकारके नीचेके बिन्दुसे तो न जाने आपको क्या अदावत है, उसे आप देख ही नहीं सकते ! 'ठोडी' 'उडता' इनके नीचे भी आपसे बिन्दु नहीं जुड़ता ! यही नहीं 'डकार'के नीचेके बिन्दुको आप प्रायः सर्वत्र डकार गये हैं !

शङ्कासमाधान और भाव खोलनेमें तो आप कमाल ही कर जाते हैं "........यदि कहो दिन रात उड़नेसे उड़नेकी पुष्टाई नहीं है"—क्यों कहें कि उड़नेसे उड़नेकी पुष्टाई नहीं है ! यदि उड़नेसे उड़नेकी "पुष्टाई" न होगी तो क्या गड़नेसे उड़नेकी "पुष्टाई" होगी ? यह आप क्या कह रहे हैं ? ज़रा होशकी ठंडाई (पुष्टाईकी बहन !) पीजिये ! धन्य री समझकी पुष्टाई !

"तो इसका भाव यह कि कहीं हाथ चिबुकको स्पर्श न करे यही सोच रहता है"—

सोचकी बात पक्की है, भला कहीं चिबुक हाथसे छूनेकी चीज़ है ! शिव शिव ! चिबुक जैसा 'अस्पृश्य' पदार्थ हाथसे छुआ जाय ! बेशक इसका रात दिन 'सोच' रहना चाहिये, कहीं चिबुकके अन्दर बारूदका (बमका) गोला छिपा हो और वह हाथसे छूतेही फट जाय तो क्या हो ! विद्यावारिधिजीने भाव खोलकर सर्वसाधारणको सावधान कर दिया, बड़ी कृपा की। सम्भव था कोई चिबुकको छूकर अपने हाथसे ही हाथ धो बैठता ! धन्य महाराज ! बलिहारी आपकी दूरदर्शिताकी ! आपसे हितोपदेष्टाको ऐसा ही भाव बतलाना चाहिये था !

और हाँ ख़ूब याद आयी, इस दोहेका अलङ्कार कहाँ है ? यह आप अब अलङ्कार क्यों उड़ाने लगे ! यह दूसरी वारदात है, इस अलङ्कारापहरणकी कुचेष्टासे बाज़ आइये; वरना रिपोर्ट की जायगी। प्रतिज्ञा तो की थी आपने—'अतिललित मधुर मुग्ध अलङ्कारोंसे सतसईको सर्वाङ्गभूषित'—करनेकी, सो 'सर्वाङ्गभूषित' करना तो दूर रहा उलटे कविताके पहले अलंकार भी आप उतारने लगे ! 'अनवरचन्द्रिका'के कथनानुसार "विभावना" और हरिप्रकाश, तथा लालचन्द्रिकाके लेखानुसार "विरोधाभास" अलङ्कार, इस कविताके पास था, वह कहाँ गया ? बतलाइये न, मौनसाधनसे काम न चलेगा।

सहृदय पाठकगण ! देखा आपने, किस प्रकार—"सर्वसाधारणकी बुद्धिमें कविवरका आशय प्रगट किया जा रहा है"—सर्वसाधारण तो क्या 'विद्वद्वृन्दशिरोमणि, विद्यावारिधिजी' स्वयं भी इस टीकासे कविवरका आशय न समझ सकेंगे, चाहे उनसे पूछ देखिये !

इससे तो हरिकविकी टीका पुराने ढंगकी होनेपर भी बहुत साफ़ और कविवरका आशय प्रकट करनेवाली है। विद्यावारिधि-जी ! सुनिये और समझिये:—

"तो लखि इति। साभिलाष नायकको वचन नायिका सों। तोहि देखिके मेरे मनने जो गति लही है, सो काहूँ सो कहि न जाती है, आश्चर्य है ! ठोड़ीके गाड़में—खाड़में—पर्‌यो है। तौ भी दिन रात उड्यो रहत है,—विलास करिबेके अनेक मनोरथ-रूप पौनमें पर्‌यो है—। "विरोधाभास" है। "भासै जहाँ विरोधसो वहैं विरोधाभास।" "गाड़में पर्‌यो है, यह विरोधसो है !"

(हरिप्रकाश टीका)

किसी अत्यन्त अभीष्ट पदार्थकी प्राप्तिके लिये मनकी व्याकुलता या चंचलताको 'मनका उड़ना" कहते हैं। वारिधिजी इस मामूली मुहावरेको न समझे और दोहेका भाव खोलनेके स्थानमें अपनी समझकी पोल खोलने और 'पुष्टाई' की 'ठंडाई' घोटने लगे !

नायिकाके लावण्य-वारिपूरित चिबुक-गर्तमें पड़ा हुआ—'चाहे-ज़कन'में डूबा हुआ—नायकका मन, मनोरथ-तरंगोंमें हिलोरे ले रहा है–नाना प्रकारकी अभिलाषाओंके पवनमें उड़ रहा है—'किसी प्रकार उस चिबुकका छूना नसीब हो, वह हाथ लगे'—सौन्दर्य्यविमुग्ध प्रेमीके इस साभिलाष चिन्तनको, विद्या-वारिधिजी फ़र्माते हैं—"कहीं हाथ चिबुकको स्पर्श न करे यही सोच रहता है"—

कैसा विलक्षण और अलौकिक भाव है !!! अनर्थकी ज्वालाने रसिकता और सहृदयताको फूंक दिया !! जलाकर राख कर दिया !

ऐसे ही अरसिकमूर्धन्य, और सहृदयताशून्य महापुरुषोंसे घबराकर किसी कविने विधातासे यह प्रार्थना की है—

"इतरपापफलानि यदृच्छया विलिख तानि सहे चतुरानन !
अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख ॥"

\+ \+ \+

२३—छिप्यो छबीलो मुख लसै, नीले अंचल चीर ।
मनो कलानिधि झलमले, कालिन्दीके नीर ॥४६०॥*

* * *

"नीले अंचलमें छिपा हुआ प्यारीका छबीला मुख ऐसे शोभा देता है, मानों नीले अंचलको चीरकर चन्द्रमा कालिन्दी यमुनाके नीरमें शोभा देता है। उत्प्रेक्षा।" (पृ० १६१)

वाह उस्ताद ! क्या कहने हैं ! "मानों नीले अंचलको चीरकर चन्द्रमा कालिन्दी यमुनाके नीरमें शोभा देता है।"

इस अनर्थके काले स्याह परदे को फाड़कर आपका पाण्डित्य भी अमावास्याके चन्द्रमा (?) की तरह विद्यावारिधिताकी खाड़ीमें पड़ा अपूर्व शोभा दे रहा है !!!

---

* "नीलाञ्चलेन संवृतमाननमाभाति हरिणनयनायाः ।
प्रतिबिम्बित इव यमुना-गभीर-नीरान्तरेणाङ्कः ॥"

(पण्डितराज, रसगङ्गाधर)

* "निकलता है अजब एक हुस्न उनके मुंह छिपानेसे,
घटामें चांद आता है नज़र या रुख़ पै आँचल है।" (समीम)

आपके अनर्थ-दुःशासनने कविता-पाञ्चालीके चीरको चीरकर धज्जियाँ उड़ा दीं !! वह बेचारी मुंह छिपाए सहृदयोंकी सभामें खड़ी, लज्जा उतारनेवाले अनर्थकारीकी जानको रो रही है !!

उक्त दोहेका भाव है—

"नीले चीरके आंचलमें छिपा हुआ सुन्दर मुख, ऐसी शोभा दे रहा है, मानो (नीले जलवाली) यमुनाके नीरमें चन्द्रमा झलक रहा है !"

सहृदय काव्य-रसिकगण ! कैसी अच्छी 'वस्तूत्प्रेक्षा' है ! क्या सुन्दर कविता है !

विद्यावारिधिजीने 'नीले अंचल' का एक छोटासा टुकड़ा तो प्यारीका मुख छिपानेके लिये छोड़ दिया और बाक़ी चीरका एक बड़ा तम्बू तैय्यार करके जमनाके जलपर तान दिया, जिसके नीले अंचलको चीरकर चन्द्रमा कालिन्दी-यमुनाके नीरमें शोभा देरहा है!

विद्यावारिधिजीने सोचा होगा कि प्यारीका मुख तो नीले अंचलसे ढक रहा है, फिर जमनाका जल उघड़ा हुआ कैसे रह जाय ? उसपर भी नीले अञ्चलका शामियाना या तम्बू तानना चाहिये ! जिसे चीरकर चन्द्रमा शोभा दे ! और यदि कालिन्दीका नीर निरावरण ही छोड़ दिया गया तो नीले अंचलमें छिपे हुए प्यारीके मुखसे लग्गा न खायगा, जुगत न मिलेगी ! सो विहारीकी इस कमीको विद्यावारिधिजीने अपने पल्लेसे पूरा किया ! इस तम्बू ताननेमें आपको अपनी गिरहसे कितना कुछ ख़र्च करना पड़ा होगा, यह बात जमनाके चकले पाटको देखकर ही समझमें आ सकती है ! मालूम होता है, जल्दीमें तम्बूके लिये कपड़ा अच्छा मज़बूत न मिलसका, पुराना गला हुआ मिला, इसीसे वह चन्द्रमाकी किरणोंका बोझ न सँभाल सका ! उनके पड़ते ही चिर गया,

फट गया, और उसमेंसे निकलकर, नीचे वहते हुए कालिन्दीके जलमें चन्द्रमा चमकने लगा !

चाहे कुछ ही हो, विद्यावारिधिजीने एक वार तो जमनाके नीले नीरपर नीला तम्बू तान ही दिया, नीले नीरको डबल नीला बनाकर उसमें चन्द्रमाको सुशोभित कर ही दिया ! इस भगीरथ-परिश्रमके लिये उन्हें धन्यवाद मिलना चाहिये। अस्तु। यह तो सब कुछ होगा, पर विद्यावारिधिजीसे यह तो पूछना चाहिये कि उन्होंने जोशे-जिनूंमें आकर 'चीर' को चीर क्यों डाला ?

यह 'चीर' विहारीका काव्य पढ़नेवालोंके लिये कोई नयी चीज़ तो न थी, रंग भी कुछ ऐसा डरावना न था, जिसे देखकर वहशतके मारे आप विदक गये और उसे चीर डाला ?

यह चीर तो इस दोहेसे पूर्व भी और पश्चात् भी कई जगह 'सतसई' में आया है। एक—जगह भीजा हुआ—"जौ लौं भीजे चीर लौं रहै न प्यौ लपटाय"। (दो० ४०८)

दूसरी जगह—रंगा हुआ—"फीको परै न वर घटै रंग्यौ चोल रंग चीर।' (दो० ५९१)

तीसरी वार।

"रह्यौ ऐंच अन्त न लह्यौ अवधि-दुसासन वीर।
आली बाढ़त विरह ज्यौं पांचालीकौ चीर ॥ १२५ ॥

अन्यत्र तो ख़ैर कुछ ऐसी चिन्ताकी बात न थी, पर इस अन्तिम दोहेमें ईश्वरने बड़ा ही अनुग्रह किया, यह पांचालीका परम सौभाग्य ही समझना चाहिये कि विद्यावारिधिजी सँभल गये। पांचाली चीरफाड़से वच गयी !

यदि वारिधिजी यहां—पांचालीको चीर में—भी 'चीर'को ल्यबन्त (चीरयित्वा ?) समझकर अर्थ कर बैठते, तो बड़ा अनर्थ हो जाता। फिर पांचालीकी ख़ैर न थी। दुःशासनने तो सिर्फ़ चीर खींचा ही था, यहां चीरके साथ वह भी चीर डाली जाती! "रसीदाबूद बलाये वले बख़ैर गुज़श्त"—"बला आयी थी लेकिन ख़ैर गुज़री"—

\+ \+ \+

२४—मानहु विधि तनु अच्छछवि, स्वच्छ राखिवे काज।
दृगपग पोंछनको किये, भूषन पायनदाज ॥५१५॥

❀ ❀ ❀

"मानो शरीरकी अच्छी छवि स्वच्छ रखनेके निमित्त विधाताने 'दृग और पगके' पोंछनेको भूषणोंका पायनदाज किया है जो फ़रशके आगे देहलीमें पगपोंछन होता है उसे पायनदाज कहते हैं। उत्प्रेक्षालंकार॥" (पृ० १६९)

अफ़सोस! न हुए इस समय विहारीलाल, अधिक नहीं तो उन ७०० (सात सौ)मेंसे आधी मोहरें—(अशरफियाँ) तो हम आपको (विद्यावारिधिजीको) दिलवा ही देते, जो उन्हें जयपुर दरबारसे—(प्रति दोहा, १ मोहरके हिसाबसे) पुरस्कारमें मिली थीं।

उर्दू और फ़ारसीके महाकवि ग़ालिबका कथन है कि "सुख़नसन्ज—(कवि)–से सुख़नफ़हम–(कविताका मर्म समझने-वाला)—आदमी किसी प्रकार भी योग्यता और प्रतिष्ठामें कम नहीं है। यही नहीं किन्तु पहलेसे दूसरेका दर्जा बड़ा है, क्योंकि वह कविताके गूढ़ रहस्योंको इस उत्तमतासे समझता और प्रायः

उसके ऐसे ऐसे अपूर्व और विलक्षण अर्थोंको सोचता है, जो स्वयं कविको भी कभी नहीं सूझते"—

एकबार एक शख़्स जो कवि तो न थे, परन्तु 'सहृदय' और 'सुख़नफ़हम' अव्वल दर्जेके थे, ग़ालिबसे मिलने दिल्ली गये, और उन्हींके पास जाकर ठहरे, रातको कविताकी चर्चा छिड़नेपर उन्होंने ग़ालिबके ही कुछ शेरोंकी ऐसी अपूर्व और विलक्षण व्याख्या की कि ग़ालिब सुनकर फड़क गये; और वज्दमें आकर झूमने लगे। उन्होंने कहा कि—"शेर कहते वक़्त मेरे ज़हनमें—मेरी बुद्धिमें—यह बात न थी, मुझे यह भाव स्वयं नहीं सूझा था"—

इस मुलाक़ातका हाल अपने एक शिष्य और मित्र कविको लिखते हुए ग़ालिबने यह पूर्वोक्त सम्मति प्रकट की है।

वास्तवमें ग़ालिबकी यह राय बहुत ही ठीक है। यदि मल्लिनाथसा सिद्ध गारुड़िक, कालिदासकी "दुर्व्याख्या-विषमूर्च्छिता" कविता-कमिनीको अपनी 'सञ्जीवनी' * बूटीसे न बचाता, पुनरुज्जीवित न कर जाता, अथवा यों कहिये कि विद्यारिधिके टाइपके टीकाकारोंके अनर्थ-वज्रप्रहारोंसे उसकी रक्षा न करता तो आज कालिदासको कौन पूछता! कविताके साथ कालिदासका भी नाम शेष रह गया होता! भगवान् वेदव्यासके 'ब्रह्मसूत्रों'का वह अलौकिक और अपूर्व अर्थ जिसने अपने महत्त्वके आगे संसारभरके विद्वानोंको सिर झुकानेके लिये विवश कर दिया है, लोगोंको कैसे सूझता, यदि भगवान् शंकरका शारीरक भाष्य आज न होता! महर्षि गोतमके दुरूहतम न्यायसूत्रोंका अभिप्राय आजकलके ये ऐरा ग़ैरा नत्थू ख़ैरा, कभी समझ सकते! यदि

---

* "भारती कालिदासस्य दुर्व्याख्या-विषमूर्च्छिता ।
एषा सञ्जीवनी टीका तामद्योज्जीवयिष्यति ॥"

वात्स्यायन मुनि इस समयके संकुचद्‌दृष्टि, मन्दमति लोगोंपर अनुग्रह करके अपना भाष्य न रच गये होते !

इसी तरह यदि श्रीमान् 'विद्वद्वृन्द-शिरोमणि' 'विद्यावारिधि' महाराज—"सर्वसाधारणकी बुद्धिमें कविवरका आशय प्रगट करानेकी"—शुभ इच्छासे प्रवृत्त होकर अपनी यह अमूल्य "अति ललित मधुर मुग्ध" टीका न बनाते तो भला विहारीके काव्यके ऐसे ऐसे रहस्यपूर्ण भाव और निराले अर्थ संसारको कैसे मालूम होते !

विद्यावारिधिजी अपनी महिमाका वर्णन सुनकर प्रसन्न हो रहे होंगे, जीमें ख़ुश होंगे कि मल्लिनाथ, श्री शंकराचार्य, और वात्स्यायनके साथ एक पंक्तिमें बैठनेका सौभाग्य तो प्राप्त हुआ, पाँचों सवारोंमें तो मिल गये ! परन्तु शोक है कि हम उन्हें ज्यादह देर तक ख़ुश नहीं रख सकते, अब आगे जो कुछ कहा जाता है, उसे सुनकर शायद विहारीलालजी इनामकी अशरफ़ियां विद्यावारिधिजीको न बँटावें। एक बात ऐसीही निकल आयी, क्या करें मजबूरी है, हमने तो अपनी तरफ़से वहुत जोर लगाया कि किसी तरह विद्यावारिधिजीको पुरस्कारकी मुहरोंमेंसे हिस्सा मिल जाय, परन्तु "कविताक्रन्दन" ने मामला विचाल दिया। इनामका नाम सुनते ही वड़े दर्दनाक लहजे (कारुणिक स्वर) में कविता चीख़ उठी कि—"हाय यह क्या ग़ज़ब करते हो ! मेरे क़ातिलको उलटा इनाख़ूवस कैसा देते हो ! रहा—

"यह अजीव माजरा है, मुझे रोज़े-ईदे-क़ुर्बा,
वही ज़िवह भी करे है, वही ले सवाव उलटा !"

देखते नहीं हो, इन्होंने किस तरह—"दग" और 'पग'के पोंछनेको भूषणोंका पायनदाज किया है"—मानो नायिकाके शरीरको

सड़क बनाकर उसपर अनर्थका पत्थर फोड़ कोल्हू चलाया है !!! कविताकी कोमल कायाको 'दुर्भावके दुर्मट'से इस बुरी तरह कुटवाया है कि उसने देखनेवालोंको ख़ूनके आठ आठ आँसू रुलवाया है !!

सोचनेकी बात है कि जब नायिकाका शरीर "पगडंडी" (!) बन गया, लोग उसे पैरोंसे रौंदकर चलने लगे तो "भूषणोंका पायनदाज" क्या काम देगा ? वह शरीरकी अच्छी छविको 'स्वच्छ' कैसे रख सकेगा ? 'भूषणोंका पायनदाज' तो राहगीरोंके पैरोंसे टूट टूटकर, नायिकाके शरीरमें घुस जायगा ! उसे और क्षत विक्षत करके महाभयानक और बीभत्स बना देगा ! शिव शिव ! इस करुणाजनक दृश्यसे किस सचेता पुरुषका हृदय न पिघलेगा? कौन सहृदय न रो पड़ेगा ?

"अपि ग्रावा रुद्यादपि च विदलेद्वज्रहृदयम्" !!

सहृदय पाठकगण ! यह दोहा 'सतसई'के चोटीके दोहों-मेंसे है, इसमें कविने अपनी नाज़ुकख़याली और कल्पना-शक्तिका कमाल दिखाया है, कविता-सृष्टिमें इस दोहेका और जवाब नहीं ! <u>बस क़लम तोड़ दिया है !</u>

"मानहुँ विधि तन अच्छ छवि, स्वच्छ राखिवे काज ।
दृग-पग पोंछनकौ किये, भूषन पायनदाज ॥"

उर्दू कविके * "ख़याली बोसों" से माशूक़के गुले-रुख़सार-पर नीले दाग़ पड़नेमें" भी वह लुत्फ़ नहीं, जो इस दोहेके भावमें है !

---

*"क्या नज़ाकत है कि आरिज़ उनके नीले पड़ गये ।
हमने तो बोसा लिया था ख़्वाब में तसवीर का ।"
आरिज़=कपोल ।

शरीरकी कोमलता और कान्तिकी यह पराकाष्ठा है कि नज़रके पड़नेसे भी वह मैली हुई जाती है ! इसीलिये मानो ब्रह्माने भूषणोंका 'पायन्दाज़' बना दिया है कि दृष्टि अपने पग उससे पोंछकर तन्वीके तनपर पड़े । शरीररूपी स्वच्छ चांदनीको, आँखों-के मैले पैर ख़राब न करदें इसलिये भूषणरूप पायन्दाज़ बनाया गया है । (आँखोंके पैर और उनसे शरीरकी कान्तिका मैला होना ! कितनी नज़ाकत, सफ़ाई और नाज़ुकख़याली है! कुछ ठिकाना है !!) अन्यथा "दर्पणमें मोरचेकी तरह" प्रतीत होनेवाले इन भूषणोंकी आवश्यकता क्या थी ?

"पहिर न भूषन कनकके, कहि आवत इहि हेत ।
दर्पनके से मोरचे, देह दिखाई देत ॥"

सखी नायिकासे कह रही है कि मैं जो तुझे सोनेके भूषण पहननेका निषेध कर रही हूँ सो इसलिये कि वह तेरे शरीरमें इस प्रकार दिखाई देते हैं जैसे दर्पणमें मोरचा !

जिस शरीर की उज्ज्वलता को देखकर आँख उज्ज्वल होती है, वह यदि आँखोंके पैरोंसे मैली हो जाय तो आश्चर्य ही क्या है !—

"कहा कुसुमकह [को] कौमुदी, कितिक आरसी जोति ।
जा की उजराई लखे, आंख ऊजरी होति (३१६)"

फूल, चांदनी, या आरसी (दर्पण) में भला वह आब ताब और चकम दमक कहां है ? उसके उजालेसे तो स्वयं आँख उजाला पाती है !

"सति प्रदीपे सत्यग्नौ सत्सु ताशरवीन्दुषु ।
विना मे मृगशावाक्ष्या तमोभूतमिदं जगत् ॥" (भर्तृहरि)

\+ \+ \+

विद्यावारिधिजीने उक्त दोहेके सौन्दर्य्यको कितना विगाड़ा है! कुछ ठिकाना है! कविकल्पना-समुद्भूत दृगके पगोंको "दृग और पगके पोंछनेको" कहकर सचमुचके पैर निकाल दिये! "दृग-पग" इस समस्त-(षष्ठीतत्पुरुष)-पदमें द्वन्द्वयुद्ध! (दृग और पग?) कराकर दृगकी टांगें तोड़ डालीं! मानो सहृदयताकी आँखें फोड़ डालीं!! जो निर्मल शरीर, दृष्टिके पड़नेसे भी मैला होता था उसे 'पगडंडी' बना दिया!!

उक्त (५१५ वें) दोहेकी समालोचनामें जो एक उर्दू शेर उद्धृत हुआ है, दोहेसे उसकी उत्कृष्टता सिद्ध करते हुए किन्हीं "राम" नामधारी महाशयने एक लेखमें समालोचकपर विहारीके अनुचित पक्षपातका आक्षेप किया था। "राम" का वह आक्षेपात्मक लेख और मौलाना 'हाली'की सम्मति-सहित समालोचकका उत्तर, आगे पढ़िये:—

"महाशय "राम" का आक्षेप"

"श्रीमान् पण्डित पद्मसिंहजीने श्रीविद्यावारिधिजीके अर्थपर जो इन्होंने विहारीलालके ऊपर लिखे दोहेपर किया है आलोचना करते हुए जोशमें आकर यहाँ तक लिख डाला कि "कि यह दोहा सतसईके चोटीके दोहोंमेंसे है" इत्यादि। परन्तु हमारी तुच्छ बुद्धि में इस दोहेपर विचार करनेसे यह प्रतीत होता है कि योग्य समालोचकने इस कथनमें बहुत कुछ अनुचित अत्युक्तिसे काम लिया है। क्योंकि प्रथम तो जिस उर्दू वाले शेरसे इसे उत्तम बताया गया है इसके साथ न्याययुक्त तुलना नहीं की गयी। दूसरे दोहे में एक बड़ा भारी दोष है, जिसपर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया।

उर्दू का शेर यह है —

"क्या नज़ाकत है कि आरिज़ उनके नीले पड़ गये ।
हमने तो बोसा लिया था ख़्वाबमें तस्वीरका ॥"

अर्थात् तन्वीके कपोल इतने कोमल हैं कि स्वप्नमें भी सीधे उनको नहीं, उनके चित्रको चुम्बन करनेसे उनको इतना कष्ट पहुंचा कि उनपर नीले दाग़ पड़ गये ।

संकल्पमात्रसे, जो केवल मानसिक क्रिया है, शरीरपर इतना गहरा प्रभाव पड़ना, यदि न्यायकी दृष्टिसे देखा जाय तो कोमलताके वर्णन की असीम पराकाष्ठा है । अब इसके सम्मुख सतसईवाले दोहेको लीजिए, जिसका सार समालोचकजीके निज शब्दोंमें यह है कि—"मानो ब्रह्माने भूषणोंका पायन्दाज़ बना दिया कि दृष्टि अपने पैर उससे पोंछकर तन्वी के तनपर पड़े । शरीररूपी स्वच्छ चाँदनीको आँखों के मैले पैर ख़राब न करदें । (+ + +आँखोंके पैर और उनसे शरीरकी कान्तिका मैला होना, कितनी नज़ाकत, सफ़ाई और नाज़ुक ख़याली है, कुछ ठिकाना है !) इत्यादि ।

पाठकवृन्द ! थोड़ा ध्यान देनेसे विदित होगा कि दोहेमें जो कुछ कहा गया है वह इतनी असाधारण बात नहीं जितना कि उसको बढ़ाकर कोष्ठकके भीतर दिखाया गया है । इसमें 'दृग' और 'तन'का प्रत्यक्षमें सीधा साधा सम्बन्ध है—अर्थात् दोनों एक दूसरे के आमने सामने हैं । पर शेरमें, स्वप्नमें चित्रके प्रति केवल मानसिक क्रिया के प्रभावसे तनका चिह्नित होजाना वर्णन किया गया है । इसलिये प्रत्यक्ष ही सिद्ध है, और जिसके स्वीकार कर लेनेमें हमें कुछ संकोच न करना

चाहिये कि शेर का भाव दोहेकी अपेक्षा कहीं उच्च और गम्भीर है।

दूसरे, जब हम दोहे के "विधि" शब्दपर दृष्टि डालते हैं तो हमें उपर्युक्त सम्मति के स्थिर करने में और भी कोई सन्देह नहीं रहता। सब जानते हैं कि 'भूषण' कोई दैवी (?) पदार्थ नहीं है, जिसको 'विधि' वा 'ब्रह्मा' पहनाकर किसी व्यक्ति को उत्पन्न करता हो; किन्तु वह एक कृत्रिम वस्तु है। अतः इस दोहेमें उसके पायन्दाज़ बनानेका कर्त्ता 'विधि' को बतलाना कहाँतक ठीक है, यह आप स्वयं सोच सकते हैं।

सारांश यह कि विद्वान् समालोचकका इस दोहेके प्रति यह व्यवस्था देना कि "वह सतसईके चोटीके दोहोंमेंसे है" हमारी समझमें सतसईके गौरवको बढ़ाता नहीं किन्तु कम करता है।

अन्तमें हम इतना और कहना चाहते हैं कि कोई महाशय इस लेखसे यह न समझें कि हमारा अभिप्राय कविशिरोमणि श्रीविहारीलालकी अपूर्व कविताको सर्वथा दूषित व कलंकित सिद्ध करनेका है। नहीं नहीं, किन्तु हम मुक्तकण्ठसे यह स्वीकार करते हैं कि उनके कितने सारगर्भित दोहे कविताके ऐसे ऐसे गूढ़ रहस्यसे परिपूर्ण हैं, जिसके शिखरतक बेचारे उर्दू वाले क्या फ़ारसीके बड़े बड़े प्रसिद्ध कवि (जिनकी कविताको देखनेका हमको अबतक अवसर मिला है) नहीं पहुँचे। परन्तु इससे यह व्यवस्था नहीं दी जा सकती कि उनकी सतसईका एक पद्य भी सदोष नहीं है। आख़िर वे मनुष्य ही तो थे। यदि इतने अधिक (७००) दोहोंके समूहमें कहीं एक आध स्थलपर चूक गये तो आश्चर्य ही क्या है!

उसके प्रकट करने से उनकी जगद्विख्यात काव्यप्रवीणताको कोई हानि नहीं पहुंच सकती। इसलिये कोई आवश्यकता नहीं है कि हम उसपर आवरण चढ़ानेका उद्योग करें॥"—

"समालोचकका उत्तर"—

"श्रीयुत 'राम' महाशयने इस दोहेकी समालोचनाके सम्बन्धमें मुझपर और विहारीपर ये आपेक्ष या एतराज़ किये हैं—

(१)—मैंने "जोशमें आकर अनुचित अत्युक्तिसे काम लिया है।" "उर्दू वाले शेरके साथ न्याययुक्त तुलना नहीं की गयी।"

(२)—दोहेमें जो कुछ कहा गया है वह साधारण बात है, मैंने उसे कोष्ठक (ब्रैकिट) के भीतर वढ़ाकर दिखलाया है!"

(३)—"यह दोहा सतसईके चोटीके दोहोंमें नहीं। इसे चोटीका दोहा वतलाना "सतसईके गौरवको वढ़ाता नहीं किन्तु घटाता है" और सबसे बढ़कर यह कि—

(४)—"इस दोहेमें एक बड़ा भारी दोष है जिसपर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया।" यहाँ विहारीलाल "चूक गये हैं"—इत्यादि।

इन इलज़ामातकी सफ़ाईमें निवेदन है कि:—

(१)—उर्दू वाले शेरके साथ नितान्त न्याययुक्त तुलना की गयी है। आपने व्यर्थ ही जोशमें आकर उर्दू वाले शेरको दोहेपर तर्जीह देनेकी चेष्टा की है।

(२)—जो कुछ दोहेमें है (साधारण या असाधारण) वही कोष्ठकमें दिखलाया गया है, एक मात्रा भी बढ़ाकर नहीं दिखलायी गयी। कृपया फिर ध्यानसे पढ़ जाइये।

(३)—यह दोहा बेशक सतसईके गौरवको बढ़ानेवाला और चोटीके दोहोंमेंसे है। यह कविता-देवीका मुकुटमणि है। प्रत्येक काव्य-मर्मज्ञ सहृदय इसका साक्षी है।

(४)—यह दोहा सर्वथा निर्दोष है। बड़ा भारी तो क्या अणुमात्र भी कोई दूषण इसमें नहीं है। इसमें विहारीकी चूक बतलाना "सखुनफ़हमी आलमे-बाला मालूम शुद्" की कहावतको चरितार्थ कर दिखाना है।

हमें यह धारणा हुई कि महाशय "राम" जैसा कि उनके लेखसे प्रकट है, उर्दू फ़ारसीके उत्तम विद्वान् होंगे, अतएव सम्भव है, फ़ारसीसाहित्यके अनुशीलनसे ही कविताके विषयमें उन्होंने ऐसी राय क़ायम की हो। यह भी सम्भव है कि फ़ारसीके साहित्यमें उत्तम और निर्दोष कविताके कुछ निराले नियम उन्हें मिले हों, जिनके अनुसार विहारीका यह दोहा दूषित ठहरता हो। यही सोचकर हमने किसी उर्दू फ़ारसीके सुप्रसिद्ध कविसे इस विषयमें "न्याययुक्त तुलना" कराना उचित समझा। इसलिये शम्सुल्‌उल्मा मौलाना अलताफ़ हुसैन "हाली" के पास उर्दू वाले शेरके साथ विहारीका दोहा, तथा महाशय "राम" का एतराज़ भेजकर उनसे प्रार्थना की कि इसपर अपनी पक्षपातरहित सम्मति देकर अनुगृहीत करें। हमारे पत्रके उत्तरमें "हाली" महोदयने जो पत्र भेजा है, उसे हम नागराक्षरोंमें ज्योंका त्यों यहां उद्धृत करते हैं—

"मौलाना हालीकी सम्मति"

पानीपत—

६ डिसम्बर, सन् १९१० ई०

"जनाबमन, इनायतनामेका जवाब भेजनेमें इस सबबसे देर हुई कि मैं आँखोंकी शिकायतके सबब

लिखता पढ़ता बहुत कम हूँ। अक्सर तहरीरोंमें दूसरेका मोहताज रहता हूं और बग़ैर सख़्त ज़रूरतके जवाब नहीं लिखता।

बिहारीसतसईके दोहे और एक उर्दू शेरके मुताल्लिक़ जो आपने मेरी राय दर्याफ़्त की है, सो मेरे नज़दीक शेरको दोहेके मज़मूनसे कुछ निसबत नहीं। शाइर कैसाही नामुमकिनुल्वुकूअ़ * मज़मून बाँधे, जब उसके साथ 'गोया' की क़ैद लगा दी, फिर नामुमकिन नामुमकिन नहीं रहता।

मसलन्—ज़ैद बेऐब होनेमें गोया फ़रिश्ता है, या घोड़ा क्या है, हवा है, या उसके दाँतोंकी बतीसी गोया मोतियोंकी लड़ी है, या उसका चेहरा चौदहवीं रातका चांद है। पस जबकि दोहेके मज़मूनमें 'मानो' यानी 'गोया' का लफ़्ज़ मौजूद है तो उसमें कोई इस्तहाला यानी अदम-इमकान † बाक़ी नहीं रहता। बरख़िलाफ़ इसके शेरका मज़मून बिलकुल दायरे-इमकानसे ख़ारिज और नामुमकिन्उल्वुकूअ़ है, मौतरिज़ जिस दलीलसे मज़मूने-शेरके मुताल्लिक़ हद दरजेकी नज़ाकत साबित करता है उससे नज़ाकतका सुबूत नहीं बल्कि उसकी नफ़ी ‡ होती है।

---

* नामुमकिन्उलवुकूअ़=असम्भव, जो न हो सके।

† अदम इमकान=असम्भवता।

‡ नफ़ी=अभाव।

लखनऊके एक नामवर शाइरने अपनी मसनवीमें बाज़ारकी रौनक़ और चहल पहल इस तरह बयान की है कि "बाज़ारमें आबे-गौहर का छिड़काव होता है":— ज़ाहिर है कि इस बयानसे बजाय इसके कि बाज़ारकी रौनक़ साबित हो यह ख़याल होता है कि वहां ख़ाक उड़ती होगी, क्योंकि आबे-गौहरका छिड़काव ख़ाकको दबा नहीं सकता। इसी तरह शेर मज़कूरका हाल है, क्योंकि—

ख़्वाबमें तसवीरका बोसा लेनेसे साहिबे-तसवीर * के होंटोंका नीला पड़जाना, बजाय इसके कि साहिबे-तसवीरकी नज़ाकत साबित करे, बोसा लेनेवालेका जादूगर होना साबित करता है।

मोतरिज़का यह एतराज़ भी सही नहीं है कि ज़ेवर चूंकि मसनूयी † चीज़ है, इसलिये ब्रह्मा या कुदरतको उसका बनानेवाला क़रार देना ग़लत है। क्योंकि इनसानके तमाम मसनूयात दरहक़ीक़त ख़ुदाके मसनूयात ‡ हैं। क्योंकि इनसान ख़ुद उसका मसनूअ़ है। इसपर दलील लानेकी कुछ ज़रूरत नहीं है, क्योंकि हर ज़बानमें ऐसी हज़ारों मिसालें मौजूद हैं कि इनसानके कामोंको मजाज़न् ख़ुदा की तरफ़ मनसूब किया गया है और तसव्वुफ़ और वेदान्तवाले तो इनसानके हर कामको मजाज़न् नहीं बल्कि हक़ीक़तन् ख़ुदाहीका काम बताते हैं।

.... ।" ख़ाकसार दुआगो—

अलताफ़हुसेन 'हाली'

---

* साहिबे-तसवीर=जिसका वह फ़ोटो है।

† मसनूयी=कृत्रिम।

‡ मसनूयात=रचनाएँ।

आशा है, हाली महोदयकी इस विद्वत्तापूर्ण बहसको पढ़कर "राम" महाशयकी शंकाओंका समाधान हो जायगा।

अन्तमें हम यह निवेदन कर देना आवश्यक और उचित समझते हैं कि विहारीके उक्त दोहेमें स्पष्ट ही "उत्प्रेक्षालङ्कार" है। इसमें किसी भी साहित्यमर्मज्ञको सन्देह नहीं हो सकता। हरिप्रकाश-टीकाकारने 'मानहु'—पदका अन्वय दोहेके पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध दोनों जगह किया है। रसचन्द्रिका-टीकाकारने "हेतूत्प्रेक्षा" बतलाकर साफ़ ही लिखा है कि—"विधि भूषणोंके पायन्दाज बनानेका हेतु (कारण) नहीं है। उसमें हेतुकी सम्भावना की गयी है। उसे यहां हेतु मान लिया गया है"—इत्यादि।

अभिप्राय यह है कि अपनी दी हुई अलौकिक सुन्दरताकी रक्षाके निमित्त मानो भूषण भी स्वयं विधिने ही प्रदान किये हैं। अर्थात् उसके भूषण भी दिव्य हैं। और यह अलौकिक विधिदत्त भूषण भी शरीरसौन्दर्य्यके सामने ऐसे हैं जैसे मख़मली फ़र्शके आगे नारियलका पायन्दाज़!!!"

२५—ह्वै कपूरमणिमय रही, मिलति न द्युति मुकतालि।
छिन छिन खरी विचक्षणी, लहत छानि तृण आलि॥५२३॥

❀ ❀ ❀

"मोतियोंकी लड़ी शरीरकी कान्तिमें मिलकर—कपूरसी होकर मनमें रही सखी चतुर भी है, परन्तु खड़ी हुई छिन छिनमें

छप्परका तिनका लेती है; अर्थात् मोतीमाला देख, महामोहित होती है, चतुर सखी यह देख तृण तोड़ती है।"

(पृ० १७१)

चतुर सखी तो भला तृणच्छेदनरूप अपलक्षण क्यों करने लगी है, पर यह कविता आपके अनर्थोंसे पनाह माँगती हुई मुँहमें तृण लेकर—'त्रायस्व मां, पाहि मां'—चिल्लाती हुई, ज़रूर प्रार्थना कर रही है कि उसकी जांबख़्शी कर दी जाय तो बड़ा पुण्य हो! हम भी आपसे सहृदयताके नामपर अपील करते हैं,—"न हन्तव्या निरपराधा निराश्रया तपस्विनी कविता"—

इस दोहेके साथ जो अन्याय और अनर्थ किया गया है, वह वर्णनातीत है! जिस दुर्दशासे इसकी सूरत विगाड़ी गयी है, जिस बुरी तरहसे इसका सर्वनाश किया गया है—इसे अनर्थकी भट्टीमें झोंका गया है,—उसका वर्णन करते और सुनते हुए कलेजा मुँहको आता है! हृदय-पटल फटा जाता है! विराटके यहाँ अज्ञातवासमें रहते हुए भीमने जिस 'पशुमार' से—(पशुमारममारयत्)—कीचकका वध किया था, उसके हाथ, पैर आदि अवयवोंको शरीरमें गड़ोकर 'पिण्डाकार' बना दिया था, उसी 'पशुमार' से यह दोहा मारा गया है!! कीचकको तो उस दशामें लोगोंने किसी प्रकार पहचान भी लिया था, परन्तु यह बिलकुल नहीं पहचाना जाता! 'कीचक' को अपने दुष्कर्मोंका दण्ड मिला था, यह ग़रीब बिना क़सूर ही मारा गया! इस छोटे से दोहेकी नन्हीसी जानपर इतना ज़ुल्म!

यदि सतसईके अन्यान्य दोहे,—जिनका कि विद्यावारिधिजीने अपनी टीकामें क़त्लेआम किया है,—वारिधिजीको बख़्श दें, माफ़ कर दें, अपने ख़ूनका बदला न भी चाहें—और केवल एक

यही दोहा, सहृदयोंकी सभामें फ़रयाद करने लगे, तो यक़ीन कामिल है कि सभा इत्तफ़ाक़रायसे वारिधिजीके ख़िलाफ़ सख्त फ़ैसला दे, वारिधिजीको लेनेके देने पड़ जायँ ! सुनिये और ख़ूब ध्यानसे देखिये कि मूलपाठकी क्या दुर्गति बनायी है—

"ह्वै कपूरमनि-मय रही, मिलि तनदुति मुकतालि।
छिन छिन खरी बिचच्छनौ लखति छ्वाय तृन आलि॥"

यह बहुटीकासम्मत शुद्ध पाठ है। अब ज़रा इससे वारिधिजीवाला पाठ मिलाइये, देखिये, उसमें और इसमें कितना भेद है ? 'छ्वाय' का 'छानि' बनाकर अर्थ करते हैं "घर का छप्पर !"

ऐसे ही मौक़ेके लिये शायद 'आज़ाद' ने यह कहा है:—

"हैफ़ आता है कि खोई उम्र मज़मूं बांध बांध,
ऐसी बन्दिश से तो बहतर था कि छप्पर बांधते।"

उक्त दोहेकी हरिप्रकाशटीका—

"ह्वै कपूर इति। सखी नायिका के रूपकी स्तुति नायकसों करति है। नायिकाके तनदुतिसों मिलिकै मुक्तालि जो है मोती की माला सो कपूरमनिमय हो रही है अर्थ यह कपूरमनि ही होय रही है भ्रान्ति बसतें, खरी बिचच्छनौ—अतिप्रवीन जो है आली सखी सो भी तृनके छुआय कै लखति है—जानती है। कपूरमनिको हाथ पै घसै, तृन पै धरकै उठावै तो तृनको लिये ही उठि आवै ! यहाँ तद्गुणालङ्कार और भ्रान्ति अलङ्कार है, मुक्तावलीने अपनो गुन स्वेतता ताको छोड़ि तनद्युतिको गुन लियो।" इत्यादि।

भाव यह है कि नायिकाके गलेकी मोतीमाला, शरीरके कुन्दन रंगमें मिलकर कपूरमणिसी प्रतीत होने लगी। सुफ़ैद

रंगके मोती पीतवर्ण होकर "कपूरमणि" का धोखा देने लगे। यहाँतक कि पास रहनेवाली अतिचतुर सखी जिसने मालाके मोतियोंको गलेमें पहननेसे पहले, उनके असली रंगमें देखा था, वह भी बार बार धोखा खाने लगी कि माला तो श्वेत मोतियोंकी थी, यह 'कपूरमणि' कहाँसे आ गयी! अपने सन्देह-की निवृत्ति के लिये वह परीक्षा करने लगी कि यदि यह कपूरमणि होगी तो तिनकेको खींच लेगी, तिनका उससे चिमट जायगा।

"कपूरमणि"का दूसरा नाम संस्कृतमें "तृणमणि" भी है। जिस प्रकार 'अयस्कान्तमणि' (चुम्बक) लोहेको खींच लेती है, इसी प्रकार 'कपूरमणि' या 'तृणमणि'का यह स्वभाव है कि वह तिनकेको खींच लेती है। संस्कृतमें 'शंकुक' कविका एक पुराना श्लोक है, जिसमें तृणमणिके इस गुणका उल्लेख है—

"ये गृह्णन्ति हठात् तृणानि मणयो ये वाप्ययःखण्डकं,
ते दृष्टाः प्रतिधाम दग्धमनसो विच्छिन्नसंख्याश्चिरम्।
नो जाने किमभावतः किमथवा दैवादहो श्रूयते,
नामाप्यत्र न तादृशस्य हि मणे रत्नानि गृह्णाति यः॥"

कवि कहता है कि जो हठपूर्वक तिनकेको या लोहेके टुकड़ेको पकड़ लेती हैं, ऐसी जीजलानेवाली मणि—(तृणमणि, अयस्का-न्तमणि)—तो घर घर अत्यधिकतासे मिलती हैं, परन्तु न जाने अभावसे या अभाग्यसे किसी ऐसी मणिका पता नहीं लगता—नाम तक नहीं सुना जाता—जो रत्नोंको खींच लाया करे!

तिनके और लोहेको खींचनेवाली मणियोंसे क्या फ़ायदा? रत्नको खींचनेवाली मणि मिले तो कुछ बात भी है! उससे कविजी रत्नोंका शिकार खेला करें!

फ़ारसीमें 'कपूरमणि'को 'कहरुवा' कहते हैं। उर्दू कवियोंने भी उसमें यह गुण माना है कि वह तिनकेको पकड़ती है, (जैसा कि उसके शब्दार्थसे भी प्रकट है) देखिये—

"काह * कर देता था मेरा शौक़ इक इक कोह † को,
और तमाशा देखती थी मैं लगाकर कहरुवा‡।"('यज़्दानी–'पासख़े-हिन्द')

"मुनकिरे-यकरंगिये-माशूक़ो आशिक़ थे जो लोग,
देख लें क्या रंगे-काहो कहरुवा मिलता नहीं?"

(अमीर, लखनवी)

श्रीमान् विद्यावारिधिजीने "है कपूरमनिमय रही"का अर्थ किया है—"कपूरसी होकर मनमें रही"—'सुधादीधितिकला'की तरह यहां भी पदच्छेद करके सत्यानाश किया है। "कपूर"का अर्थ 'कपूरसी' (?) "मणिमय"का अर्थ "मनमें (?)"। "खरी बिचच्छनौ (अत्यन्त चतुर)–पदमेंसे आपने 'खरी'को पृथक् करके 'खड़ी हुई' (?) करदिया! 'छ्वाय = छुआकर का 'छानि' बनाकर 'छप्पर (?) छा दिया! जिस (छप्पर)मेंसे "खड़ी हुई सखी छिन छिनमें तिनका ले रही है"! हायरी अक़िल! तू विद्यावारिधिजीके हिस्सेमें क्यों न आई? यह न सोचा कि मोतीकी माला पहनने-वाली, छप्परोंमें नहीं रहा करतीं!!

"अर्थात् मोती माला देख महामोहित होती है, चतुर सखी यह देख तृण तोड़ती है।"

यह 'महामोहित' कौन होती है? और 'चतुर सखी यह देख तृण क्यों तोड़ती है'? कहीं यह बावली तो नहीं होगयी?

---

* काह = तिनका, घास। † कोह = पहाड़। ‡ कहरुवा = कपूरमणि-(तृणमणि)। (कहरुवाका रंग पीला होता है।)

—इस दोहेकी टीका प्रारम्भसे अन्त तक "उन्मत्तप्रलाप" है। अलङ्कार इसका भी आप हड़प कर गये हैं!

\+ \+ \+

२६—ले चुभकी चलिजात तित, जित जलकेलि अधीर।
कीजत केसर नीरसों, तित तित केसर नीर ॥५५१॥

"प्रिया जलमें गोता मारकर जिधर तिधर चली जाती है और जलकेलिमें अधी हो रही है। अपने शरीरमें लगे केशरके नीर सों जिधर तिधर केशर का नीर करती है। धर्म्मलुप्तालंकार"

(पृ० १८०)

"धर्मलुप्तालङ्कार (?) क्या; इसे तो 'सर्वलुप्तालङ्कार' (?) या 'सर्वनाशालङ्कार' (?) कहें तो ठीक है!

"........जिधर-तिधर चली जाती है और जलकेलि में अधी (अंधी ?) हो रही है"........आपकी लेखनी भी अर्थ करनेमें अंधी होरही है और अनर्थकी कीचड़में लिपटी हुई जिधर तिधर चली जाती है, उधर उधरही विहारी की काव्य-वापी-को गदला कर देती है! उसमें कीचड़ घोलकर अपेय बना देती है! रसमें विष घोलना इसे ही कहते हैं! बनी को बिगाड़ना इसी का नाम है!

विद्यावारिधिजी! "धर्मलुप्तालङ्कार" कैसा होता है? यह आपने कौनसे साहित्यमें पढ़ा या देखा है? मालूम होता है, 'मतबअ-इलाही'—नामक लेथो प्रेसकी छपी अशुद्धप्राय 'लाल-चन्द्रिका'से ये अलङ्कार आपने उड़ाये हैं, उसमें जो शुद्ध अशुद्ध लिखा है, उसे आप आँख मींचकर नक़ल करते गये हैं,

यह "धर्मलुप्तालङ्कार" भी उस पुस्तकके १४९ पृष्ठपर है, वहींसे ज्योंका त्यों उठाकर आपने रख दिया है, इस नामका कोई अलंकार होता भी है या नहीं, यह जाननेकी आपने जरूरत नहीं समझी, न मालूम वे अन्य कई सतसई, जो आपने टीका करते समय 'सन्मुख' (?) रक्खी थीं, क्या करतीं रहीं। उन्हें आपने ज़रा भी तकलीफ़ नहीं दी, यदि सचमुच ही उन्हें आपने सामने रक्खा था तो चाहिये था कि कहीं तो उनसे काम लेते! बुद्धिपर ज़ोर डालकर समझने की कोशिश करते, समझ में न आता, किसीसे पूछते, इतनेपर भी यदि बुद्धि काम न देती कुछ न समझ पड़ता, तो जाने देते, कोई मजबूर तो नहीं करता था कि आप सतसई-पर ज़रूर ही टीका लिखकर पांचों सवारोंमें नाम लिखावें! पाठकवृन्द! आठ प्रकारकी 'लुप्तोपमा' होती है, उन्हींमें एक "धर्मलुप्तोपमा" है, जैसा कि 'कुवलयानन्द'में लिखा है—

"वर्ण्योपमानधर्माणामुपमावाचकस्य च ।
एकद्वित्र्यनुपादानैर्भिन्ना लुप्तोपमाष्टधा ॥"

इसीका अनुवाद यह "भाषाभूषण" में दिया है—

"वाचक धर्म रु वर्ननिय है चौथो उपमान ।
इक बिन द्वै बिन तीनि बिन 'लुप्तोपमा' प्रमान ॥"

इसी "धर्मलुप्तोपमा" को आपनें "धर्मलुप्तालङ्कार" (?) लिखा है! इस "शार्ट-हैंड राइटिंग" या 'मुख़्तसिर-नवीसी'का कुछ ठिकाना है! अलंकारसे अधिक आपने अर्थकी दुर्दशा की है। 'मतबअ्-इलाही' वाली लालचंद्रिकासे आपने 'धर्म-लुप्तालंकार' तो उठा लिया, पर उसका अर्थ छोड़ दिया! यदि उसे भी ले लेते तो "..........जलकेलि में अधी हो रही है, अपने शरीर में लगे केशरके नीरसों जिधर तिधर केशरका

नीर करती है"—यह महाविचित्रता तो न आती! जलकेलिमें 'अधी' (अंधी ?) हो रही है, तभी तो 'जिधर तिधर' चली जाती है, बेचारीको सूझता नहीं कि किधर जाना है! उसके (प्रियाके ?) शरीरमें 'केशरका नीर' वारिधिजीने अपनी ओरसे लगा दिया! जिससे यह जिधर तिधर 'केशरका नीर' कर रही है!!! वहाँ (४९० दोहेकी टीकामें) तो श्रीमान्‌ने जमनाके नीले जलपर नीले आँचलका तम्बू ताना था, यहां प्रियाके केसर-कान्ति गौर शरीरपर, 'केशरका नीर' लपेटकर "जिधर तिधर केशरका नीर" करा दिया! इतनेपर भी यदि 'रसीली' सतसई 'अति ललित मधुर मुग्ध' अलंकारोंसे "सर्वाङ्गभूषित" होकर घर घर न विराजे तो वारिधिजीका क्या अपराध!

उक्त दोहेकी लालचन्द्रिका—

"सखी का वचन सखी से। मारके गोता चली जाती है नायका तिधर, जिधर जलकेलिका अधीर नायक है। करती है केसर का पानीसा तिधर तालावके पानीको। यमक और धर्मलुप्तोपमालंकार।—केसर केसर—यमक। केसर-नीर—उपमान। सरनीर—उपमेय। से—वाचक। रंग धर्म नहीं।" (डा० ग्रियर्सन-सम्पादित लालचन्द्रिका)

हरिप्रकाश, विहारीविहार, तथा 'अनवरचन्द्रिका' इत्यादि पुस्तकोंमें उक्त दोहेका पाठ इस प्रकार है—

"लै चुभकी चलि जाति जित जित जलकेलि अधीर।
कीजत केसरनीर से तित तित के सरनीर॥"

इस दशामें यह अर्थ होगा—

जल-विहारमें चञ्चल नायिका, चुभकी—डुबकी (गोता) मारकर, जहाँ जहाँ चली जाती है, वहीं वहींके सर—तालाव—के जलको अपनी अङ्गकान्तिसे केसरके नीरके तुल्य बना देती है।

जलमग्न नायिकाके शरीरकी कान्तिसे सर-नीर, केसरजलके तुल्य प्रतीत होने लगता है, कान्ति-छटाको जल छिपा नहीं सकता, वह उससे रंगा जाकर केसरके पानी सरीखा दीखने लगता है। जलकी स्वच्छता और उससे कहीं अधिक, शरीरकी कान्ति प्रशंसनीय है !!

विहारीलालजीके मतमें तो नायिकाके शरीरकी कान्तिसे तालाब-का पानी केसरिया रंगका प्रतीत हो रहा है, और श्रीमान् वारिधिजी उसे 'शरीरमें लिपटी हुई केसर' छुड़ाकर रंग रहे हैं ! ! दोनोंमें कितना सादृश्य है ! कैसी अच्छी टीका है ! क्या विचित्र भाव है ! सहृदय काव्यमर्मज्ञ विचारें कि विद्यावारिधिजीके इस अर्थकी विद्यमानतामें भी क्या यह दोहा, विहारीका दोहा कहला सकता है ? और इसे इस दशामें काव्य कह सकते हैं !!!

२७—बैठि रही अति सघन वन, पैठि सदन मन मांहि ।
निरखि दुपहरी जेठकी, छांहौं चाहत छांहि ॥ ५७० ॥

"अतिघने वनमें, अथवा मनरूपी घरमें बैठ रहीं जेठकी दुपहरी देखकर छांह भी छांह चाहती है वृक्षके नीचे छाँह मानों दुपहरी देखकर आती है आशय यह कि, ज्येष्ठमें सघनवन या मनके भीतर ही छांह मिल सकती है। "हेतूत्प्रेक्षा" (पृ० १८६)

श्रीमान् विद्यावारिधिजीके यहां तन और मन में कोई भेद नहीं, वह इन दोनोंको एक ही समझते हैं। मनका तन, और तनका मन, कर देना आपके बांयें हाथका काम है। "चितवन भोरे भायकी" इत्यादि, ३१२ दोहेकी टीका में "यह बात नित्य मेरे शरीरमें आनकर खटकती है" लिख कर आपने 'चित्तका' अर्थ 'शरीर' बतलाया है,

और यहां "बैठि सदन तन मांहि" को "..........मन माहिं" बनाकर "मनरूपी घरमें बैठ रहीं" फ़रमा दिया ! न जाने ये कौन हैं, जो मनरूपी घरमें बैठ रहीं ? इन्हें क्या कहीं और बैठनेको जगह नहीं मिली ? और आशय तो आप ऐसा खोलते हैं कि 'बावन तोले पाव रत्ती' ! देखिये न, क्या अच्छा आशय है— "आशय यह कि, ज्येष्ठमें सघन वन या मनके भीतर ही छाँह मिल सकती है"—

क्यों महाराज ! ज्येष्ठमें और कहीं छाँह नहीं मिल सकती ! तहखानों, पटेहुए मकानों और पहाड़ोंकी गुफ़ाओंमें भी नहीं मिल सकती ! और तो ख़ैर जो है सो है ही, पर यह—"मनके भीतर ही छाँह मिल सकती है"—किस सायंस या फ़िलासफ़ीमें लिखा है ! छाँहने भी चलते चलते क्या जगह ढूंढी है ! सब स्थानोंको छोड़कर छाँह भी मनमें ही रहने लगी !

हर्ष, शोक, चिन्ता, इत्यादि तो मनमें रहते ही थे, अब छाँह भी वहीं पहुँच गयी ! अच्छा ही हुआ, श्रीमान् वारिधिजीके आशयानुसार, अब ज्येष्ठके महीनेमें किसीके भी मनमें सन्ताप न रहना चाहिये ! छायाके नीचे सन्तापका क्या काम ! यदि आपकी टीकाके प्रसादसे वर्षभरमें एक महीना भी शोक, चिन्ता आदिके सन्तापसे लोगोंके 'मन' बचे रहें तो इसे परम लाभ ही समझना चाहिये ! उक्त दोहेका भाव यह है कि—

ज्येष्ठ मासकी जलती हुई दुपहरी—मध्याह्न—से घबराकर छाँह भी मानो छाँह चाहती है ! इसीलिये वह अत्यन्त सघन वनमें छिपती है, और मकानोंके अन्दर घुसती है, शरीरके तले आश्रय ढूंढती है । मध्याह्नके समय शरीरकी छाया पैरोंपर आ जाती है । जब घबराकर स्वयं छाया भी छायाको ढूंढने लगे तो उस

समयकी गरमीका क्या ठिकाना है! कैसा अद्भुत वर्णन है! उत्प्रेक्षामें क्या ही अच्छी अत्युक्ति है!!

"सदन-तन माहिं"—का अर्थ श्रीलल्लूलालजीने "शरीररूपी घरमें" किया है, और हरिकविने "सदन=घरमें और तन=शरीरमें" इस प्रकार पृथक् किया है।

अनवरचन्द्रिका, हरिप्रकाश, विहारीविहार, कृष्णकविकी टीका, शृङ्गारसप्तशती, और लालचन्द्रिका, इन सब पुस्तकोंमें "सदन-तन माहिं" यही पाठ है, केवल "रसचन्द्रिका"में—"सदन-मन माह" ऐसा पाठ है, पर वहां भी 'मन'का अर्थ (उत्प्रेक्षाव्यञ्जक) "मानो" करके "हेतूत्प्रेक्षालंकार" माना है "मनरूपी घरमें" यह महाविचित्र अर्थ तथा "..............ज्येष्ठमें.......... मनके भीतरही छाँह मिल सकती है—" ऐसा अलौकिक आशय 'विद्वद्वृन्दशिरोमणि' विद्यावारिधिजीके सिवा और कौन बतला सकता है! पाठकोंको याद होगा—"मनु ससिसेखरकी अकस" वाले दोहेकी टीकामें भी विद्यावारिधिजीने "मनु"का अर्थ शिवजीका "मन" किया है। इस "मनु" शब्दने तो मानो विद्यावारिधिजीको धोखा देनेका ठेका ले लिया है!

विद्यावारिधिजी! आपने तो भूमिका में घोषणा की है कि—
"आज़मशाही संग्रहके अनुरूप लल्लूलालजी संगृहीत दोहोंका अनुसरण करके इस टीकेको निर्माण किया है"—

फिर आपके टीकास्थ मूलपाठमें यह कमबख्त "मन" 'छलावा' बनकर आपको छलनेके लिये कहांसे आ कूदा? "लालचन्द्रिका" में तो "सदन तनमाहिं" यही पाठ है न? क्यों महाराज!

२८--हठ न हठीली कर सकै, इहि पावस ऋतु पाय।
आन गांठि छुटि जाय त्यों, मान गांठि छुटि जाय ॥५७४॥

"इस पावस ऋतुको प्राप्त करके हठीली हठ नहीं कर सकती। पावस (वर्षा) को पाकर जैसे और गाँठ छुट जाती है इसी प्रकार मान गाँठ भी छुट जाती है "विभावनालङ्कार" (पृ० १८७)

विद्यावारिधिजीके हक़में यह अच्छा होता कि वह अलङ्कार-निर्देशकी नक़ल न करते। उस दशामें उनकी बहुतसी पोल छिपी रहती, अब उन्हें दो फ़रियादियोंसे पिण्ड छुड़ाना कठिन हो रहा है, एक चुप रहता है, तो दूसरा बोल उठता है, और दूसरा ख़ामोश रहता है तो पहला चुग़ली कर देता है।

"जो चुप रहेगी ज़बाने-ख़न्जर लहू पुकारेगा आस्तींका"—

फ़ारसीमें एक कहावत है जिसका आशय यह है—"गवैया कुछ और गाता है और सारंगी कुछ और बोलती है"—इसी प्रकार हमारे वारिधिजी महाराज अर्थ कुछ करते हैं और अलङ्कार कुछ लिख देते हैं! जिस प्रकार यदि कोई मनुष्य किसीके अलङ्कार (आभूषण) बलात् छीन ले, या मालिककी अनुपस्थितिमें चुरा ले, तो वह उन भूषणोंका मूल्य या प्राप्तिस्थान नहीं बतला सकता, और यदि वह अपहर्त्ता नितान्त अनभिज्ञ हो तो किस अलङ्कारको कहां धारण करना चाहिये, अमुक अलङ्कारका क्या नाम है, यह भी नहीं जान सकता। इसी प्रकार विना सोचे समझे नक़ल करनेवाले, लेभगू टीकाकार या ग्रन्थकार लोगोंकी भी दशा है। कहा तो करते हैं कि "नक़ल करनेमें अक़िलकी ज़रूरत नहीं" पर वारिधिजीने अपने दृष्टान्तसे सिद्ध कर दिया है कि नक़ल करनेके-लिये बड़ी अक़िल चाहिये, अन्यथा विना सोचे समझे अन्धाधुन्ध

नक़ल करने वालोंकी यही दशा होती है, जो हमारे 'अति ललित मधुर मुग्ध' टीकाकारकी यत्र तत्र हो रही है! पाठ बदल गया, अर्थका अनर्थ हो गया, जिसके गलेमें वह अलङ्कार पड़ा था, वह (कविता) जल भुनकर राख हो गयी, पर 'अलङ्कार' ज्योंका त्यों बना हुआ है! उसे ज़रा भी आँच नहीं आयी! न वह टूटा न फूटा, न गला न पिघला! लड़का मर गया, पर 'बाबाजीका गंडा' नहीं टूटा!! इस अच्छेद्य, अभेद्य, अविकार्य, अलौकिक 'अलङ्कार' को शतवार धन्य है! और इसे कविताकी चितासे निकालकर पबलिकमें पेश करनेवाले टीकाकार साहबकी हिम्मतको हज़ार वार आफ़रीं (धन्य) है!!

हा हन्त! अयि वज्रमयि विभावने! टीका-चितायामनर्थाग्निना भस्मीभूय नामशेषतामुपगतायां स्वाधारभूतायां कविता-कामिन्यां कथं त्वमपि तया सह तत्रैव त्रपुविलायं न विलीना! तादृश-प्रियजनविरहिता त्वं मुखमुपदर्शयन्ती किं न जिह्रेषि! एवं गतेपि जीवन्तीं त्वां करुणा लज्जा वा न विरुणद्धि! जडहृदये! क्व नु तादृशं स्वाधारभूतं कान्तिकमनीयं कण्ठमपरत्र प्राप्स्यसि! धिक् ते प्रियवियुक्ताया जिजीविषाम्!

अयि विद्यावारिधिमहाशय! तिष्ठत्वचेतना वराकी विभावना, भवान् हि 'विद्वद्वृन्दाशिरोमणिः'रपि भूत्वा कथं नाम नाशङ्कते विलज्जते वाऽसदृशं समाचरन्! एष हि हृते क्षार-निक्षेपो यत्परलोकमुपगतस्य प्रियजनस्यालंकारादिकं प्रदर्श्य शोकोद्दीपनं नाम!!

सहृदय पाठकगण ! उस स्वर्गीय दोहेका पाठ और अर्थ इस प्रकार था—

"हठ न हठीली करि सकै, इहिं पावस ऋतुपाय ।
† आन गांठि घुंटि जाय त्यौं, मान गांठि छुटि जाय ॥"

"सखीका वचन मानवती नायिकासे, कै कविकी उक्ति। हे हठीली स्त्री, हठ नहीं कर सकती, कै हठीली नायका हठ नहीं कर सकती, यह पावसकी ऋतु पाकर। ज्यों और गाँठ घुट जाय है, त्यों मान गाँठ छुट जाती है पावसमें। विभावनालङ्कार। विरुद्धसे काज। घुटनेके कारणसे गाँठ छुटना काज हुआ॥"

(लालचन्द्रिका)

"हठ न इति। मानिनी सौं सखीवचन—

हठीली जे है नायिका सो हठ नहीं कर सकती है, नायक सौं, यह नवजोबन है और पावस वर्षा ऋतु है ताकौं पायकैं, वर्षामें ज्यों=जैसे आन गाँठि=सनकी मूंजकी, सो घुट जाति है=घुर जाति है, गाढ़ी होय जाती है, मानकी जो गाँठि है दृढ़ता, सो छूटि जात है। हठीली हठ नहीं करती है, ता कौ पुष्ट कियौ, पावस ऋतु उद्दीपन सौं। काव्यलिङ्ग।"

(हरिप्रकाश)

अभिप्राय यह है कि कामोद्दीपन वर्षाऋतुमें मानिनी नायिका की मान-ग्रन्थि क़ायम नहीं रह सकती, वर्षामें सन या मूंजकी रस्सी की गाँठ जैसे कड़ी पड़ जाती है, वैसे ही हठीलीकी मान-गाँठ ढीली पड़ जाती है,—खुल जाती है—। गाँठको कड़ा करनेवाले वर्षारूपी कारणसे गाँठका ढीलापड़ना-रूप विरुद्ध कार्य्य हुआ, इसलिये—

† आन गाँठि ज्यौं घुटति त्यौं।

"विरुद्धात्कार्य्यसम्पत्तिर्दृष्टा काचिद्विभावना ।
शीतांशुकिरणास्तन्वीं हन्त सन्तापयन्ति ताम् ॥"

"काहू कारन तें जबै, कारज होहि विरुद्ध ।
करत मोहिं सन्ताप यह सखी ! शीतकर शुद्ध ॥"

'कुवलयानन्द' और 'भाषाभूषण'के उपर्युक्त लक्ष्य लक्षणानुसार यहां पाँचवीं 'विभावना' है ।

विद्यावारिधिजीका न जाने कौनसा निराला अलङ्कारशास्त्र है, जो..............."जैसे और गाँठ छुट जाती है इसी प्रकार मान-गाँठ भी छुट जाती है"—इस दशामें भी "विभावना" बतला रहे हैं !

अस्यां पुनर्दशायां नापि विभावना,
न चेदं काव्यं, उन्मत्तप्रलापोयम् !!!

२९--*कियो सबै जग कामवश, जीते सबै अजेय ।*
कुसुमशरहिं शर धनुषकर, अगहन गहन न देय ॥५८१॥

"जिसने सब जगत्को कामके आधीन किया सब अजेयोंको जीत लिया अगहनका महीना उसी कामदेवको धनुष बाण हाथमें धारण करने नहीं देता अर्थात् जाड़ेसे उसके हाथ.पैर भी सुकड़ते हैं "अभिप्राय विशेष" (पृ० १८९)

न जाने किस मुहूर्त्त और किस अवस्थामें बैठे हुए श्रीमान् 'विद्वद्वृन्दशिरोमणि' यह अपूर्व टीका लिख रहे हैं । टीका लिख रहे हैं या बेगार टाल रहे हैं ! कोई भी स्वस्थ—प्रकृतिस्थ—और समझदार—आदमी, जिसमें ज़रा भी सहृदयता होगी, ऐसी

असम्बद्ध और बेसिरपैरकी बातें लिखकर उपहासपात्र बननेकी चेष्टा न करेगा ! फिर पद पदपर ऐसी ऐसी भारी भूलें करनेवाला मनुष्य "विद्यावारिधि" और "विद्वद्वृन्दशिरोमणि" किधरसे और कैसे हो सकता है, यह रहस्य बार बार सोचनेपर भी हमारी समझमें नहीं आता ! कोई सज्जन समझा दें तो बड़ी ही कृपा हो !

'जिसने' सब जगत्‌को 'कामके' आधीन किया,.................."अगहनका महीना उसी कामदेवको"..................यह क्या गोरखधन्धा है ! 'जिसने' किसने ? क्या कामदेवने ? बहुत अच्छा, "सब जगत्‌को कामके आधीन किया" जो किया खूब किया। हाँ, तो क्या यह 'अगहनका महीना' 'उसी कामदेवको' 'जिसने सब जगत्‌को कामके आधीन किया था' धनुष बाण धारण नहीं करने देता ! क्यों नहीं धारण करने देता ! आपने मालूम भी किया ? यदि यह "काम" (जिसके अधीन सब जगत्‌को किया है) कामदेवसे भिन्न कोई दूसरा व्यक्ति है, तब तो अगहन अच्छा नहीं करता कि ऐसे स्वार्थनिरपेक्ष, परोपकारी, विजयी, योद्धाके कार्यमें विघ्न डालता है, उसके हथियार छीनता है,—जिसने सब जगत्‌को जीत कर भी दूसरे व्यक्ति—काम—के अधीन कर दिया है, अपने पास कुछ नहीं रक्खा ! और यदि 'काम' और 'कामदेव' दोनों एक ही व्यक्ति के नाम हैं, और वह नैपोलियन की तरह जातीय साम्राज्य स्थापित करनेकी आड़ में सब कुछ अपने ही अधीन करके स्वार्थ-सिद्धि करना चाहता है तो अगहनरूपी नैलसनने अच्छा ही किया कि ऐसे स्वार्थपरायण शान्तिभङ्गकारक उपद्रवीको कुण्ठितशक्ति करके—हाथ पैर सुकोड़कर— एक कोनेमें बिठला दिया !

टीकाके अन्तमें अलंकारके स्थानपर वारिधिजी लिखते हैं "अभिप्राय विशेष" (?) यह " अभिप्राय विशेष" क्या है ? इसे

आपने अलङ्कारके स्थानपर लिखा है, पर साहित्यग्रन्थोंमें बहुत ढूंढनेपर भी इस नामका कोई अलङ्कार नहीं मिलता, किसी ग्रन्थमें हो तो वारिधिजी पता दें ! क्या इस दोहेका जो अभिप्राय आपने टीकामें लिखा है, उससे भी कोई और 'विशेष गूढ़ अभिप्राय' है! जिसे आप "सर्वसाधारणकी बुद्धिमें प्रगट (?) करना" नहीं चाहते ? कोई ऐसी ही ख़ास बात मालूम होती है, तभी तो आपने "अभिप्राय विशेष" लिखा है ? यदि कोई विशेष रहस्य और गोपनीय बात न हो तो बतला दीजिये, क्योंकि किसी अवश्य-ज्ञातव्य विषयको अपने पाठकोंसे छिपाना, टीकाकारके धर्मके विरुद्ध है, और फिर आपने तो ख़ास तौरपर 'कविवरका आशय सर्वसाधारणकी बुद्धिमें प्रगट कराने'की इच्छासे इस "अति ललित मधुर मुग्ध" टीकाको लिखा है ! ऐसी दशामें आपको यह "अभिप्राय विशेष" कदापि नहीं छिपाना चाहिये ! अस्तु, आपने तो इस "अभिप्राय विशेष"को सर्वसाधारणसे बड़ी हिकमतके साथ छिपाया ही है, पर—'ताड़ जाते हैं ताड़नेवाले'—हमने भी इस रहस्यको खोज ही निकाला, इसकी तहतक पहुंच ही गये ! लीजिये, सुनिये और सच बतलाइये कि हम इस "अभिप्राय विशेष"के खोलनेमें समर्थ हो सके हैं या नहीं ! विद्यावारिधिजी ! आप तो 'अपने बछड़ेके दाँत' पहचानते ही हैं ! पाठकवृन्द ! लल्लूलालजीने अपनी टीकामें, सुरतिमिश्रकी "अमरचन्द्रिका"-से प्रश्नोत्तरके और अलङ्कारके दोहे यत्र तत्र उद्धृत किये हैं, विद्यावारिधिजीने अलङ्कारोंके नाम तो वहांसे नक़ल किये ही हैं (यद्यपि आपने इस बातको कहीं स्वीकार नहीं किया) पर कहीं कहीं अपनी टीकामें उन प्रश्नोत्तर और अलङ्कारोंके दोहोंका भाव अपने शब्दोंमें दिखलानेकी भी आपने कोशिश की है, और जहां जहां ऐसा साहस किया है वहीं वहीं अजीब अजीब गुल खिलाये हैं

जिससे आपकी टीका "केसरकी क्यारी" बन गयी है! इस बातको स्पष्ट करनेके लिये हम उक्त दोहेकी लालचन्द्रिकाका अवतरण देते हैं—

"कियौ सबै जग काम बस जीते जिते अजेइ।
कुसुम-सरहिं सर धनुष कर अगहन गहन न देइ॥"

"सखीका वचन मानवतीसे। किया सब जगतको कामके बस औ जीते जितने अजीत थे तिन्हैं, कामदेवको तीर कमान अगहनका जाड़ा पकड़ने नहीं देता।"

प्रश्न—दोहा—

"कही सीतकी प्रबलता गहि न सकै धनु काम।
तौ हे[हि]मन्तमें चाहिये, कामहीन जग धाम॥
यहां तो काम अधिक हि बढ़त, इक यह प्रश्न सुजान।
कियो जगत जो कामवस, तो अगहन प्रभुता न॥"

उत्तर—दोहा

"जग करि दीनौ स्वामि-वस जीत अजित निज वास।
धनुषग्रहन श्रम देतु नहिं कामहि अगहनदास॥"

'परिकराङ्कुरालङ्कार'। दोहा—

"साभिप्राय विशेप [ष्य] जहँ परिकर-अंकुर गाय।
धनुष गहन वृत्तान्तमें अगहन साभिप्राय॥"

सुरतिमिश्रके इन दोहोंका भाव यह है—

प्रश्न—"यदि इस दोहे—(कियो सबै०) का यह अभिप्राय है कि शीतकी प्रबलतासे कामदेव, धनुष बाण ग्रहण नहीं कर सकता, तब तो हेमन्तमें (जब शीतकी अत्यधिकता होती है) संसार सर्वथा कामहीन होजाना चाहिये, कारण कि उस समय

तो जाड़ेसे ठिठरकर कामदेव शस्त्र ग्रहण करनेमें बिलकुल ही अशक्त हो जायगा, पर होता इसके उलटा है, क्योंकि हेमन्तमें काम और भी बढ़ जाता है।"

द्वितीय प्रश्न—"और यह कि यदि 'जगत्‌को कामने वशमें कर लिया' यह कहें तो अगहनकी प्रभुता न रही, कामकी प्रभुता हो गयी, और यहां वर्णन अगहनकी प्रभुताका है।"

उत्तर—सम्पूर्ण अजितोंको जीतकर, जगको अपने स्वामी—कामके—अधीन कर दिया, अगहनरूपी दासने (अपने स्वामी) कामको धनुष बाण ग्रहण करनेका कष्ट नहीं दिया !

तात्पर्य्य यह कि शीताधिक्यसे ठिठरकर कुण्ठितशक्ति हो काम धनुष बाण छोड़नेको विवश नहीं हुआ, किन्तु उसके सद्भृत्य—(कामोद्दीपन होनेसे) अगहनने—स्वयं ही सब संसारको जीतकर कामके अधीन कर दिया ! शूर सद्भृत्यकी उपस्थितिमें स्वामी को स्वयं रणमें प्रवृत्त होनेकी आवश्यकता नहीं होती, भृत्य ही सब कुछ कर देता है। यह भाव। इस प्रकार दूसरे प्रश्नका भी उत्तर होगया, अर्थात् जगको जीतनेसे अगहनहीकी प्रभुता रही।

विद्यावारिधिजीने जो............"अर्थात् जाड़ेसे उसके हाथ पैर भी सुकड़ते हैं"—कहकर कामदेवके हाथ पैर सुकोड़े हैं, यह सुरतिमिश्रके अभिप्राय से नितान्त प्रतिकूल और प्रकृतिविरुद्ध है, क्योंकि अगहनमें हाथ पैर सुकोड़नेवाला (प्रबल) जाड़ा नहीं पड़ता। शीतकी प्रधानताके लिये 'हेमन्त' प्रसिद्ध है, परन्तु कामके हाथ पैर उसमें भी नहीं सुकड़ते, प्रत्युत उस समय उनमें और सक्षमता और कर्मण्यता आ जाती है और वे उन दिनों अधिक

बलसे अपना काम करने लगते हैं, जैसा कि सुरतिमिश्र ऊपर कहते हैं।

अब रह गया वारिधिजीका 'अभिप्राय-विशेष' उसके लिये सुरतिमिश्रका 'परिकरांकुरालङ्कार'के लक्षणवाला दोहा, ऊपर देखिये। जिसका भाव यह है कि जहां 'विशेष्य साभिप्राय' हो वहां "परिकराङ्कुर" * होता है। जैसे यहां धनुष ग्रहण न करने देनेके वृत्तान्तमें अगहन—(विशेष्य शब्द) साभिप्राय है, अर्थात् "अगहन" शब्द "ग्रहण न करने देनेकी शक्ति रखनेवाला" यह अभिप्राय लिये हुए है।

बस इसी 'परिकराङ्कुरालङ्कार'के लक्षणवाले दोहेके पूर्वार्द्धके प्रथम पाद—"साभिप्राय विशेष [ष्य] जहँ"को 'विद्वद्वृन्दशिरोमणि' 'विद्यावारिधि'जीने अलङ्कारका नाम समझकर अलङ्कारके स्थानपर "अभिप्राय विशेष" लिख दिया है !!!

यदि इसके अतिरिक्त अपने उपर्युक्त वाक्यका कोई और अर्थ वारिधिजी बतला दें, तो उनसे पूछ देखिये, हमारा दावा है कि इसके विरुद्ध वारिधिजी कुछ भी नहीं बतला सकेंगे, यदि वह बतला दें तो हम अपनी समालोचना वापस लेने को तयार हैं!

---

* "साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत् परिकराङ्कुरः।
चतुर्णां पुरुषार्थानां दाता देवश्चतुर्भुजः॥" (कुवलयानन्द)

"साभिप्राय विशेष्य जब परिकर अंकुर नाम।
सूधे ह्व पियके कहे नेक न मानति वाम॥"

(भाषाभूषण)

हम नहीं समझते कि जो आदमी जिस बातको बिलकुल ही नहीं जानता, वह उसमें टाँग क्यों अड़ाता है! इतना तो वारिधिजी जानते ही होंगे कि वह अलङ्कारके विषयमें सर्वथा वैदेशिक और अपरिचित हैं, फिर इस गहन वनमें भटकनेकी क्या ज़रूरत थी!

"अयथाबलमारम्भो निदानं क्षयसम्पदः।"

३०—*आवत जात न जानियत तेजहि तजि सियरान।*
घरहि जमाई लौं घस्यो खस्यो पूष दिनमान ॥५८२॥

"आते और जाते जाना नहीं जाता तेजको त्याग कर शीतल हो गया है घरमें ज़माईकी सम घुसा हुआ पूषका दिन खसकता है आशय यह ससुरालमें जमाई भी सकुचवश शीतल हुआ रहता है। "पूर्णोपमा' ॥" (पृ० १९०)

वाह महाराज! 'घस्यो खस्यो' की जुगल जोड़ी बनी रहे! ख़ूब मिली है! यह आपने कहांसे मँगायी है? आपकी आदर्श 'लालचन्द्रिका' में तो यह है नहीं, और न हरिप्रकाश, बिहारी-विहार, अनवरचद्रिका, रसचन्द्रिका, शृङ्गारसप्तशती और कृष्ण-दत्तकी टीकामें इस जोड़ीका कहीं पता है! न मालूम आपके हाथ कहांसे लग गयी! 'पूषके दिनमान'को ख़ूब जमाईके सम (?) घरमें घुसाकर' 'खसकाया' है! क्या पूषका दिनमान, और जमाई, ये दोनों घरमें ही घुसे रहते हैं! बाहर नहीं निकलते? सम्भव है कोई घरघुसना, मिहिला (स्त्रैण) जमाई घरमें ही घुसा रहता हो, पर 'पूषका दिनमान' तो खुले मैदान सबके सामने रहता है? इस वर्ष पौषके दिनोंमें किसीको साथ लेकर—(यह इसलिये

कि कदाचित् वह आपहीकी आँखसे ओझल रहता हो !)— आप इसकी अच्छी तरह परीक्षा कर देखिये 'पूषका दिनमान' आपको बाज़ारों और जङ्गलोंमें भी स्वच्छन्दतासे विचरता हुआ दिखलायी देगा, चाहे आप रामगङ्गाके पार पूर्वकी ओर चले जाइये, या नार्मल स्कूल (गोराबारक) से उधर पश्चिमकी ओर, सूर्योदयसे सूर्य्यास्ततक, जिस समय देखियेगा, 'पौषके दिनमान'-को अवश्य उपस्थित पाइयेगा ! जितनी देर भी वह रहेगा, सबके सामने, बराबर अपनी ड्यूटीपर रहेगा, कभी मुँह छिपाकर घरमें न घुसेगा !

हाँ, ज़रा आशय तो सुनाइये, "आशय यह ससुराल में जमाई भी सकुचवश शीतल हुआ रहता है"—तो क्या यह दोहा ससुरालमें गये हुए जमाईकी 'सकुचवश शीतलता' (?)का वर्णन करनेके आशयसे ही विहारीने लिखा है। अन्य टीका-कारोंने और स्वयं आपने भी इसे 'हेमवन्तवर्णन'के प्रकरणमें लिखा है, और इसमेंसे आशय आपने सिर्फ़ "घरमें घुसा हुआ 'जमाई' निकाला ! क्या 'घरमें घुसे हुए 'जमाई' में यह 'सकुच-वश शीतलता' ! केवल 'हेमन्त'में ही आती है ? अन्य ऋतुओंमें वह खूब धृष्ट बना हुआ, सबके सामने इधर उधर घूमता है ?

और 'सकुचवश-शीतलता'की भी आपने एक ही कही ! एक कवि तो कहता है—

"सदा वक्रः सदा क्रूरः सदा पूजामपेक्षते ।
कन्या-राशिस्थितो नित्यं जामाता दशमो ग्रहः ॥"

सहृदयगण ! दोहेका शुद्ध पाठ इस प्रकार है—

"आवत जात न जानियै ताजि तेजहिं सियरान ।
घर हि जमाई लौं 'घटयौ खरौ' पूस दिन मान ॥"

इसका भावार्थ—

घर-जमाई कहते हैं खाना-दामादको अर्थात् 'पुत्रिका'का पति। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार घरजमाईका मान (प्रतिष्ठा) सुसरालमें निरन्तर रहनेसे, इस नीतिवचनके अनुसार—

"अतिपरिचयादवज्ञा सन्ततगमनादनादरो भवति"—

—घट जाता है, उसका तेज—रोबदाब—मन्द पड़ जाता है, मामूली बात होनेके कारण उसका आना जाना किसीको मालूम नहीं पड़ता, वह कब आया और कब गया, इसपर कोई विशेष ध्यान नहीं देता, इसी प्रकार पौषका दिन-मान घट जाता है। पौष (हेमन्त) में दिन बहुत छोटा हो जाता है, उसमें तेज(उष्णता) नहीं रह जाती, ठंडा हो जाता है।

तथा मानिनी जनोंका मान—रूठना—भी उन दिनों "चिर-स्थायी नहीं रहता। यहां मान शब्द श्लिष्ट है, अतएव "पूर्णोपमा"के अतिरिक्त "श्लेषालङ्कार" भी है।

हेमन्तवर्णनमें एक संस्कृत कविका यह श्लोक है, इसमें पौषके दिनमानकी क्षीणता कैसी विलक्षण उपमाओं द्वारा द्योतित की है—

"लज्जा प्रौढमृगीदृशामिव नवस्त्रीणां रतेच्छा इव,
स्वैरिण्या नियमा इव स्मितरुचः कुल्याङ्गनानामिव।
दम्पत्योः कलहा इव प्रणयिता वाराङ्गनानामिव,
प्रादुर्भूय तिरोभवन्ति सहसा हैमन्तिका वासराः॥"

३१—*नाह गरज नाहर गरज, बचन सुनायौ टेरि ।*
फँसी फौज विच बन्दिमें, हँसी सबनि मुख हेरि ॥६५६॥

"रुक्मिणी-हरणका समय, मत्तसिंहकी गरजसे गरजे और सबको पुकारकर यह वचन सुनाया, विरोधियोंकी सेनाकी बंदिमें फँसी, और सब राक्षसोंका मुख देख हँसी" (पृ० २१४)

"रुक्मिणीहरणका समय" यह तो ठीक। इससे आगे—मत्तसिंहकी गरजसे लेकर "......मुख देख हँसी"—तककी इबारतका क्या मतलब है ?—"और सबको पुकारकर यह वचन सुनाया"—क्यों सुनाया ! कुछ प्रयोजन भी है ! सुनिये, वचन भी क्या अच्छा सुनाया, न सुना होगा किसीने ! —"विरोधियोंकी सेनाकी बंदि (?) में फँसी, और सब राक्षसोंका मुख देख हँसी"—न जाने यह किसने सुनाया, किसे सुनाया, क्या सुनाया और क्यों सुनाया ! यह कौन 'फँसी' और कौन हँसी, और क्यों हँसी ? विद्यावारिधिजी ही जानते हों तो जानते हों ! 'नीलदेवी' नाटक के 'वसन्त'की बातें तो समझमें आ जाती हैं, पर विद्यावारिधिजीका यह 'अति ललित, मुग्ध, मधुर' अर्थ नहीं समझा जाता !

कोई वीरवधू नायिका, शत्रुओंकी फ़ौजमें क़ैद हुई बैठी है, कि इतनेमें उसके पतिने दूरसे सिंहध्वनिसे गरजकर, शब्द सुनाया—अपने आनेकी सूचना दी—सुनते ही नायिका सबकी-ओर देखकर अवज्ञापूर्वक हँसी। अर्थात् अब तुम्हारी बहादुरी देखी जायगी, अपने कियेका फल पानेको तैयार हो जाओ, तुम सबको पछाड़कर मेरा स्वामी अब मुझे छुड़ाये लिये जाता है।

यह इस दोहेका भाव है। जयद्रथद्वारा द्रौपदीहरण या श्रीकृष्णद्वारा रुक्मिणीहरणपर भी इसे समझ सकते हैं।

श्रीसातवाहनकी "गाथासप्तशती" में भी इस अर्थकी कई गाथाएं हैं, उनमेंसे एक इस दोहेके भावसे मिलती यह है—

"वज्जपडणाइरिक्कं पइणो सोऊण सिञ्जिणीघोसम्।
पुसिआइं करमरिए सरिसवन्दीणं पि णअणाइं" ॥१।५४

[वज्रपतनातिरिक्तं पत्युः श्रुत्वा शिञ्जिनीघोषम्।
प्रोञ्छितानि वन्द्या सदृशवन्दीनामपि नयनानि ॥]

३२--यमकरि मुंह तरहर पर्‌यो, यह धर हर चितलाय।
विषय तृषा परिहरि अजौं, नरहरि के गुण गाय ॥६६७॥

"यमरूपी हाथी नीचा मुख किये तले पड़ा है; यह मनमें धारणकर हरिमें चित्त लगा विषय-रूपी तृष्णाको अब भी छोड़कर नृसिंहजीके गुण गानकर "परिसंख्या"।

(पृष्ठ २१६)

बस अब और क्या चाहिये! "यमरूपी हाथी नीचा मुख किये तले पड़ा ही है"! सवार हो लीजिये! बेड़ा पार है! इस खुशीमें 'नरसिंहजी' का जितना गुणगान किया जाय, थोड़ा है! यमरूपी हाथीपर चढ़कर भी यदि विषयरूपी तृष्णा शान्त न हो तो आश्चर्य है!

वाह विद्यावारिधिजी महाराज! धन्य है आपकी अद्भुत शक्तिको! आपकी अनर्थ-ज्वालासे जलकर 'यमरूपी हाथी' भी नीचा मुख करके तले आ पड़ा! आपकी लेखनीरूपी अंकुशके

एक ही वारने यमरूपी हाथीका काम तमाम कर दिया ! यम जैसे जगद्विजयी दुर्दम वीरको—जिसके प्रबल आतङ्कसे सारा संसार काँपता है—इस फुरतीसे औंधे मुँह पटक देना, सिर्फ आप-ही का काम था ! आपकी इस मल्लविद्याने जापानी 'जुजुत्सु' को भी मात कर दिया ! क्यों न हो, आप आप ही हैं ! जिस प्रकार किसी प्रबल शत्रुको पछाड़कर विजय-विह्वल आदमीकी ज़बानसे हर्ष-जड़ताके कारण कुछ बेजोड़ वाक्य निकल जाते हैं, वही दशा यम-विजयी वारिधिजीकी हो गयी है, जो उनके इन असम्बद्ध वाक्योंसे प्रकट होती है—"यह मनमें धारणकर, हरिमें चित्त लगा,विषयरूपी तृष्णाको अब भी छोड़कर नृसिंहजी के गुण गान कर ! परिसंख्या" !—

दोहेका अर्थ—

शान्तरस—निर्वेद स्थायी भावका—वर्णन, विषयासक्त संसार को चेतावनी ।—"यमरूपी हाथीके मुखके नीचे मैं पड़ा हूं" यह बात मनमें समझकर, हरिमें चित्त लगा, उसका ध्यान धर, अब भी विषय-तृष्णाको छोड़कर नरहरिके (नृसिंहके) गुण गा । यमरूप प्रबल हाथीकी डाढ़से नरसिंहजी ही छुड़ा सकते हैं ! यम-करी—रूपक । नरहरि—(साभिप्राय विशेष्य होनेसे) परिकरांकुर, और 'परिसंख्यालङ्कार' की संसृष्टि है ।

सतसईमें चिड़ियाघर !!!

पाठकवृन्द ! आपमेंसे बहुतसे सज्जनोंने जयपुर और लाहौर आदिके चिड़ियाघर तो देखे ही होंगे, पर हमारे अनुरोधसे ज़रा वारिधिजीका 'चिड़ियाख़ाना' भी देख लीजिये, उसमें भाँति

भाँतिके जानवरोंकी बोली सुनकर आप बहुत प्रसन्न होंगे। आप देखेंगे कि वहाँ पशु-पक्षियोंके साथ 'तरुवर' (वृक्ष) भी बोल रहे हैं!

"काकूक्ति" को 'काकोक्ति' (?) लिखकर तो विद्यावारिधिजीने जहां तहां विहारीकी कवितापर कव्वे बुलाये ही हैं, इसके लिये तो शायद उनकी ओरसे यह कहा जाय कि आदर्श पुस्तकसे नक़ल करते वक्त जैसा वहां देखा, लिख दिया, हमारी जाने बला, कि 'काकोक्ति' ठीक है या 'काकूक्ति'! पुराने लेखकोंके सम्प्रदायका एक श्लोक प्रसिद्ध है, जो प्रायः पुरानी हस्तलिखित पोथियोंकी समाप्तिपर लिखा रहता है—

"यादृशं पुस्तकं दृष्टं तादृशं लिखितं मया।
यदि शुद्धमशुद्धं वा मयि [मम] दोषो न विद्यते॥"

यद्यपि ऐसा कहकर विद्यावारिधिजी पीछा नहीं छुड़ा सकते, क्योंकि वह कोई साधारण समझके—मक्खीकी जगह मक्खी मारनेवाले, और 'ट्रू कापी' करनेहारे—पुस्तक-लेखक नहीं हैं, किन्तु अनेक सतसई सन्मुख रखकर, कविवरका आशय सर्वसाधारणकी बुद्धिमें प्रगट (?) करानेके लिये 'अति ललित मधुर मुग्ध' टीका बनानेवाले श्रीमान् 'विद्वद्वृन्दशिरोमणि' साक्षात् "विद्यावारिधि" हैं। उनके लिये यह एक बड़ी ही लज्जाजनक बात है कि वह "काकूक्ति" और 'काकोक्ति' में भेद न समझ सकें! परन्तु इससे भी अधिक चिड़ियाख़ाना खोलकर तो आपने अविवेक और अज्ञानकी 'हद्दपर गन्टू' रख दी है!

वाचकवृन्द! साहित्यमें एक अतिप्रसिद्ध "अन्योक्ति" अलङ्कार है। जिसका अभिप्राय है—किसीपर डालकर बात कहना। इसीका दूसरा नाम "गूढोक्ति" भी है—

"गूढोक्तिरन्योद्देश्यं चेद्यदन्यं प्रति कथ्यते ।
वृषापेहि परक्षेत्रादायाति क्षेत्ररक्षकः ॥" (कुवलयानन्द)

"गूढ़ौकति मिसि औरके कीजे परउपदेश ।
काल्ह सखी हौं जाउँगी पूजन देव महेश ॥" (भाषाभूषण)

"विहारीसतसई"में भी इस अलंकारके उदाहरणस्वरूप कई दोहे हैं, जिन्हें लल्लूलालजीने (आज़मशाही क्रमके अनुसार) पृथक् "अन्योक्तिवर्णन" में लिखा है। यह प्रकरण (लालचन्द्रिकामें) ६१८ वें दोहेसे प्रारम्भ होकर ६४९ वें दोहेपर समाप्त हुआ है। उक्त प्रकरण बड़ा ही मनोहर और नीतिमय तथा उपदेशपूर्ण है। उसे ही वारिधिजीने 'चिड़ियाघर' बना दिया है!

इस स्थलमें कई जगहपर वारिधिजीने न जाने किस तरङ्गमें आकर, अपने पाण्डित्यकी लीलाका वह विचित्र दृश्य दिखलाया है, जिसे देखकर अवाक् रह जाना पड़ता है!

पाठकोंको याद होगा कि "छुटी न सिसुताकी झलक" इस दोहेमें "ताफ़ता" जयपुरके बने एक वस्त्रविशेषका नाम आया है, सो उक्त दोहेका अर्थ करते हुए वारिधिजीने लिखा है—"जयपुरी दृश्य" (?) यद्यपि उक्त दोहा बाला-नायिकाकी वयःसन्धिवर्णनपरक है। यदि जयपुरके बने कपड़ेका नाम आ जानेसे ही वह दोहा "जयपुरी दृश्य" बन गया, तो "मिलि विहरत विछुरत" इत्यादि (५८०) दोहेमें "जुराफा" आया है, जिसे आपने "ईरानका पक्षिविशेष" लिखा है, चाहिये था कि यहाँभी "ईरानी दृश्य" (?) लिखते, और सिर्फ़ एक यही क्यों 'सतसई'में जहाँ जहाँ, जिस जिस 'उपमान' पदार्थका नाम ('ताफता'की तरह) आया है वहां वहां वही दृश्य लिखना चाहिये था, यथा—

"लाज लगाम न मानहीं नैना मो बस नाहिं ।
यह मुँहजोर तुरङ्ग लौं ऐंचत हू चलि जाहिं ॥" (२७०)

इसे 'घुड़दौड़के मैदान'का दृश्य (?) लिखना चाहिये था !! जहाँ नेत्रोंको कमलसे उपमा दी है, वहां 'कमल खिले सरोवरका दृश्य', जहाँ मुखको चन्द्रमासे उपमा दी है, वहां 'चांदनी रातका दृश्य, (?) विद्यावारिधिजीको 'जयपुरी दृश्य'' के समान लिखना चाहिये था ! अस्तु ।

अब ज़रा 'चिड़ियाघर' की सैर कीजिये—

"दिन दस आदर पायकै करले आप बखान ।
जौ लगि काग सराध पख तौ लगि तो सनमान ॥"

इसपर टीका करते हुए श्रीमान् लिखते हैं—

"जो थोड़े दिनकी प्रभुतापर अभिमानमें फूल उठते हैं उनपर "काकोक्ति" (?) हे काक ! .... इत्यादि, (पृ० २०६)

चूंकि इसमें 'काग' शब्द आया था इसलिये यह 'काकोक्ति' होगयी ! अब यह 'विहारीकी उक्ति नहीं रही ! अर्थात् इस दोहेपर विहारीका अधिकार नहीं रहा । किन्तु काकका क़ब्ज़ा हो गया । यहां तो स्पष्टही 'काकस्य उक्ति—काकोक्ति'—है। 'काकूक्ति'-का अपभ्रंश नहीं ! क्योंकि इसीकी टीकामें आगे चलकर अन्तमें वारिधिजीने "अन्योक्ति" भी लिख दिया है ।

इससे अगले दोहे—"स्वारथ सुकृत" में "बाज" शब्द आया है, पर वहां आपने "बाजोक्ति" नहीं लिखा, न जाने क्यों ! शायद प्रेसवालोंसे छूट गया ! *

---

*"गोधन तू हरख्यो हिये घरि इक लेहु पुजाय"—इस दोहे (६२८) पर भी "पहाड़ोक्ति" (?) शायद प्रेसवालोंहीकी ग़लतीसे छूट गया है, वारिधिजीने तो 'पहाड़ोक्ति' ज़रूर लिखा होगा !

"मरत प्यास पिंजरा पर्‌यो सुआ समयके फेर।
आदर दै दै बोलियत वायस बलि की बेर ॥६३६॥"

इसका अर्थ करके अन्तमें लिखते हैं—"शुकोक्ति" गुणीके सन्मुख निर्गुणी (?) के आदरमें" !!!

और सुनिये—

"को छूट्यो इहिं जाल परि कत कुरंग अकुलाय।
ज्यों ज्यों सुरझ भज्यो चहै त्यों त्यों उरझ्यो जाय"॥६३७॥

इसका अर्थ लिखकर अन्तमें फ़रमाते हैं, "अपनी तृष्णा पूर्णकर विरक्त हो जायँगे उनसे "कुरङ्गोक्ति" है। इसमें जो रेखाङ्कित अलौकिक वाक्य है, उसका यहां क्या सम्बन्ध है, कुछ समझमें नहीं आता!

इस सुप्रसिद्ध दोहेपर—

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिं काल।
अली कली ही तें बँध्यो, आगै कौन हवाल ॥"

आपको "भ्रमरोक्ति" का भ्रम हुआ है!

अबतक ख़ैर थी कि, आपने काक, और भ्रमर, इत्यादि चेतन जीवोंहीको बुलवाया था, अब ज़रा कान खोलकर सुनिये, "वृत्त" बोल रहा है!—

"नहिं पावस ऋतुराज यह, तज तरुवर मति भूल।
अपत भये विन पाय है, क्यों नव दल फल फूल ॥"

"............अर्थात् राजसेवकके दुःखपर "तरुवरोक्ति (पृ०२०७)

वृक्षोंसे बातें कराना आजतक किसीसे नहीं बन पड़ा था। विद्यावारिधिजीहीकी अलौकिक मायाका प्रताप है कि 'जड़ वृक्ष' भी कविता कर रहे हैं! सुना है, हज़रत मुहम्मदसाहबने भी एकबार किसी वृक्षविशेषसे अपनी 'नबूवत'पर गवाही दिलवायी थी। विद्यावारिधिजीने 'तरुवर' से कविता करा दी! उन्होंने 'शक्कुल्क़मर'का करिश्मा दिखलाया था, वारिधिजीने 'सुधादीधिति' के टुकड़े किये हैं। वारिधिजीको चाहिये कि इन दो 'मोज्जिज़ोंकी बिना'पर वह भी 'नबूवत'का दावा कर दें!

\+ \+ \+

दोषज्ञ पाठकवृन्द! विद्यावारिधिजीकी विद्याकी बानगीके नमूने दिखलाते दिखलाते, बहुत कुछ लिख गये, और अभी बहुत कुछ लिखा जा सकता है, क्योंकि ये तो "वारिधि" के कुछ बिन्दु हैं, 'अजमेरकी बड़ी देग'के दो चार चावल हैं! सारा समुद्र और पूरी देग प्रायः ऐसेही बिन्दुओंसे, और ऐसे ही चावलोंसे लबालब भरे हुए हैं! पर एक बिन्दुसे जलका स्वाद और एक तण्डुलसे देगकी दशा विदित हो जाती है, इसलिये इतना ही बहुत है।

"सूक्ष्मं विभाव्य मयका समुदीरितानां
ज्वालाप्रसाद-विवृताविह दूषणानाम्।
निर्मत्सरो यदि समुद्धरणं विदध्या-
त्तस्याहमुज्ज्वलमतेश्चरणौ वहामि ॥" *

---

* "सूक्ष्मं विभाव्य मयका समुदीरिताना-
मप्पय्यदीक्षितकृताविह दूषणानाम्।
निर्मत्सरो यदि समुद्धरणं विदध्या-
त्तस्याहमुज्ज्वलमतेश्चरणौ वहामि ॥" (पण्डितेन्द्रो जगन्नाथः)

प्रिय पाठकवृन्द ! इस समालोचनाको प्रारम्भ करते समय, मुझे यह ध्यान नहीं था कि इतनी दूरतक इस कांटेदार फुलवाड़ीमें उलझा रहना पड़ेगा ! मैं समझा था कि विहारीकी कविताके साथ जो अन्याय हुआ है—वारिधिजीने अपनी टीका द्वारा उसका जिस प्रकार 'संहार' किया है—इसके दस बीस उदाहरण समझदार और सहृदय पबलिकके सामने रखकर छुटकारा पा जाऊंगा, परन्तु ज्यों ज्यों मैं समालोचना शीघ्र समाप्त करके पीछा छुड़ानेकी कोशिश करता गया, त्यों त्यों यह पुस्तक चिमटती गयी। जैसा कि प्रारम्भमें लिख चुका हूं, यह टीका सर्वप्रकारके दोषोंसे 'सर्वाङ्गभूषित है" । पुस्तकको जहाँसे देखिये, जो पृष्ठ पलटिये और जिस दोहेपर दृष्टि डालिये, वही वारिधिजीके ज़ुल्मका सख़्त शाकी है ! ऐसी दशामें यह कठिन है कि कोई सचेता, दयार्द्रहृदय पुरुष, इस भयानक दुर्दशामें और प्राणसंकटमें पड़ी हुई कविताके पाससे जल्दीसे निकल जाय, उसकी हालत पर आँसू बहाने और दुखड़ा रोनेके लिये कुछ समय चाहिये:—

"हर मुश्ते-ख़ाक † यहां की चाहे है इक ताम्मुल ।
बे सोच राह मत चल हरगाम * पर खड़ा रह ॥"

(मीर तक़ी)

विद्यावारिधिजीकी इस टीकाको टीका न कहकर यदि विहारीकी कविताका "सूनागृह" (Slaughter-house) अथवा "सतसईकी श्मशानभूमि" कहा जाय तो ठीक है ! कोई कड़ा जी करके देखे तो मालूम हो कि वारिधिजीकी क़लमके करारे ज़ख़्म खाकर कहीं विहारीकी कविता पड़ी सिसक रही है ! कहीं दम तोड़ रही है ! और कहीं अनर्थ की ज्वालासे जलकर बिलकुल भस्म हो गयी है !!

---

†मुश्तेख़ाक=मुट्ठीभर राख,(जले हुए दोहोंकी?) *हर गाम पर=पद पद पर ।

मैं समझता हूं, प्रत्येक सहृदय, कविताप्रेमी और हिन्दीहितैषी सज्जनको, चाहे वह किसी विचार और मतका हो, एक "अनधिकारी" पुरुष द्वारा सताई हुई कविताकी इस शोचनीय दुर्दशापर दुःख और शोक हुए बिना न रहेगा।

सर्वसाक्षी जगदन्तरात्मा इसका साक्षी है कि मैंने यह समालोचना किसी व्यक्तिगत द्वेष या मतभेदसे प्रेरित होकर नहीं लिखी, टीकाकारसे मेरा किसी प्रकारका वैर नहीं। दुःखिनी कविताकी दुर्दशापर मेरा हृदय पिघल गया, और बलात् यह सब कुछ लिखा गया—

"इस दिले-बेताबकी साहब ख़ता थी मैं न था" —

एक प्रार्थना वारिधिजीके क़द्रदान और सतसईके प्रकाशक श्रीमान् सकलगुणनिधान सेठ खेमरामजीसे है। यदि किसी व्यक्ति-विशेषपर आपकी कृपादृष्टि है, आप उसे किसी प्रकारकी सहायता देना चाहते हैं, तो बड़ी अच्छी बात है, शौक़से ऐसा कीजिये, परन्तु 'सतसई' जैसी पुस्तककी दुर्दशा कराकर,—ऐसे लोगोंसे इस प्रकार की टीका लिखवाकर—उसके बदलेमें जुर्मानेकी जगह इनाम और पुरस्कार देना, और भ्रष्ट पुस्तकोंका प्रचार करना, उपकारके रूपमें महापकार है! आप जैसे दानी और परोपकारी धर्मात्मासे पबलिक ऐसी आशा नहीं कर सकती।

यदि श्रीमान् सेठजी, सतसईकी बची हुई पुस्तकें "समुद्रसात्" कराकर अपने औचित्य-पालनकी उदारता दिखला सकें तो

विहारीलालकी आत्मापर, सतसईके प्रेमियोंपर और हिन्दी-साहित्यपर आपका असीम उपकार हो, बड़ी दया हो !

इह भ्रष्ट पुस्तक को नष्ट करनेमें आपके अनुग्रहपात्र विद्यावारिधिजीकी तो किसी प्रकारकी हानि होही नहीं सकती, इसके लिये उन्हें जो कुछ मिलना था, मिल ही चुका, और आपको, इस क्षुद्र पुस्तकके नाशसे हानि पहुंच ही क्या सकती है ! जिस प्रकार समुद्रसे एक बिन्दु जल ले लेनेपर समुद्र सूख नहीं सकता, वैसे ही आपके सुबृहत् पुस्तक-भण्डारसे इस दूषित पुस्तककी कुछ बचीखुची प्रतियां समुद्रमें डाल देनेसे पुस्तकालय शून्य नहीं हो सकता ! किन्तु आपके इस कृत्यसे अशुद्ध-पुस्तक-प्रकाशनरूप पापका प्रायश्चित्त और कविताप्रेमीमात्रका हृदय सन्तुष्ट हो जायगा ।

ओम् शमिति शान्तिः ।

ग्रन्थोंकी वर्णक्रम-सूची

नीचे उन ग्रन्थोंका पृष्ठाङ्कसहित नामनिर्देश हुआ है, जिनकी प्रसङ्गानुसार "विहारीकी सतसई" में चर्चा हुई है, या जिनसे कुछ अंश उद्धृत किये गये हैं।

अनवर-चन्द्रिका, २४५, २५५, ३४६, ३७०, ३७३, ३८३
अभिज्ञान-शाकुन्तल, ७३
अमरकोष, ३२०
अमर-चन्द्रिका, २४५, २६८, २६९, ३७९
अमरुक-शतक, १०, १९, २२, २५, ६०
अर्वाचीनसाहित्य-विवेचना, ६३
आबे-हयात, १४
आर्यासप्तशती, १७, १८, १९, २२, २५, ३५, ४८, ५१, ८३
एकावली, ५
कामसूत्र (वात्स्यायन), २६४
काव्यप्रकाश, १७
कादम्बरी, १४२, २६२, २७०, २८४
काव्यनिर्णय, १६०, २४८
काव्यमीमांसा, २६, २१५
काव्यादर्श, २५४
काव्यालङ्कार, ७
कुवलयानन्द, २५९, ३१७, ३६९, ३७७, ३९०
कुमारसम्भव, ६१, ६२
कुल्लियाते-मुनीर, २६८
गाथासप्तशती, १७, १८, १९, २२, २५, ३५, १८०, ३२७, ३८७
गीतगोविन्द, १८
गीता, १००, २४५
गंगालहरी, २८२
चन्दन सतसई, ३४
चित्रमीमांसा, ६२
जगद्विनोद, १२२
ताज़ीरात हिन्द, ३०५
तुलसी सतसई, ३२
दीवाने-हाली, १४, ७८, १३४
दुर्गासप्तशती, १७
ध्वन्यालोक, १७, १९, २१, २६, २९
नलचम्पू, २६७

नवसाहसाङ्क-चरित, २९१
नाट्य-शास्त्र, ११९
नीलदेवी ३८६
नैषध चरित, १९४, २३३, २४०
न्यायसूत्र, ३५२
पंचदशी, २३३
पद्यावलि, ४५, ४६
फ़रहंगे-आसफ़िया २६८
बदरे-मुनीर, १२८, १३४, १३५
बृहज्जातक, २२५
ब्रह्मसूत्र, ३५२
भामिनीविलास, १६५
भाषाभूषण ३६९, ३७७, ३८२, ३९०
मन्त्र-ब्राह्मण, २५१
मवाज़नए-अनीसोदबीर, १४
महाभारत, १२१, २३२
माघ, २६२, २७१
मानसागरी, २२५
मार्कण्डेय, (पुराण), १७
मालती माधव, ६८
मिश्रबन्धु विनोद, ४०, २४६
मुनाजाते-बेवा, १९४
मेघदूत, ११
मेघमाला, २२२
यादगारे-ग़ालिब, १४,७८
रघुवंश, २५४,२५८
रतन हजारा, ३४, ५८, १३१, १५१, १५२, १५३, १५४, १५५, १५६, १५७, २१२
रसगंगाधर, ३०५, ३४८
रसचन्द्रिका, ३६३, ३७३, ३८३
रसरत्नहार, २९१
रसार्णव-सुधाकर, १२५
रसिकप्रिया, ४३, २७२
रहिमनसतसई, ३२
रामायण, २३०, २४७
लटकमेलक, ३३४
लक्ष्मीलहरी, २४०
लालचन्द्रिका, १५, २९३, २९४, ३०२, ३०३, ३०४, ३०८, ३२१, ३२२, ३३५, ३४४, ३४६, ३६८, ३६९, ३७०, ३७३, ३७६, ३८०, ३८३, ३९०
वज्जा-लग्गम्, १७०,१९१
विक्रम-सतसई, ३४, १३१, १४५
विक्रमाङ्कदेव-चरित, १६६, २६०
विहारी-विहार, २३८, २४६, २५४, २५६, ३००, ३०४, ३०८, ३७०, ३७३, ३८३
शार्ङ्गधरसंहिता २२९

शारीरक भाष्य, ३५२
शृङ्गार-निर्णय, १६३
शृङ्गार-प्रकाश, ४, ५
शृङ्गार सतसई, (रामसतसई) ३४, ६८ ९५, ९६, १३३, १३४, १३५, १३८, १४०, १४१, १४३, १४४, २४८
शृङ्गार-सप्तशती, २५६, ३११, ३७३, ३८३
श्रीकण्ठ-चरित, ६४, १३९, १९५, २९७
सुखनदाने-फ़ारिस, १४
सतसई सिंगार, ११०
सरस्वती-कण्ठाभरण, १७
सरस्वती, (पत्रिका), १२
सहृदयानन्द, २०३, २०४
साहित्यदर्पण, २५०, २५७, २६०, २६५, २७१, २८४, २८५, २८६, २८९, २९०, २९२, ३२२
सुन्दर शृङ्गार, १०८
सुभाषित-रत्न-भाण्डागार, २६७
सुभाषितावली, २५१, २६६
सूरसागर, २४७
हयाते-सादी, १४
हरिप्रकाश, १५, ३०८, ३३२, ३४६, ३४७, ३६३, ३६५, ३७०, ३७३, ३७६, ३८३
हर्ष-चरित, २५३, २७०
हिन्दीनवरत्न, २६०, २६३, २६५, २७०
हिन्दी-प्रदीप, (पत्र) ८१

नामोंकी वर्णक्रम-सूची

जिनका उल्लेख इस पुस्तक में किसी प्रसङ्गमें हुआ है।

अकबर (कवि) ५७, ७४, ७६, ८९, ९०, ९७, १००, १३२, २१०, २३९
अगस्त्य (मुनि) ३२०
अनन्त पण्डित, ५१
अनीस, २४६
अप्पय दीक्षित, ६१, ३९३
अभिनवगुप्तपादाचार्य, १९, २१
अमरुक, १९, २०, २५, ३१, ६०, ६१, ६३, ६४, ६५, ६६, ६७
अमीर मीनाई, ९९, १९३, २१०, ३४१, ३६७

अम्बिकादत्त व्यास, (सुकवि) २३८, २४६, २४९, २५३, २५४, २५५, २५६, २५९, ३००, ३०४, ३३९
अर्शद, ९६
अश्वत्थामा, १२१
आज़ाद, १४, ८९, १९५, ३६५
आतिश, ७३, १२०, १६९, २३९
आनन्दवर्धनाचार्य, १७, १९, २०, २६, २८, २९, ३०, २१८
आरिफ़ हसवी, ९१
इन्शा ६१, १८८
उदयनाचार्य, १८, २४०
कर्ज़न (लार्ड), ३१०
कालिदास, (कविकुल-गुरु) ६१, १७२, २६९, २७५, २७८, ३०६, ३५२
कालिदास (हिन्दी कवि), १२२, १२७, १२९
कुब्जराज, २११
कृष्ण (भगवान्) १, २, ४६, ५०, ५५, १८४, २९६, ३१४, ३१५, ३८७
कृष्ण (कृष्णदत्त कवि) ५०, ८९, ९४, १०४, १०८, ११०, २०७, २३१, २६५, २६९, २७०, २७१, ३०८, ३२०, ३७३, ३८३
कीचक, ३६४
केशवदास, ४३, ४४, १०१, १०२, १०३, १०५, २७१, २७२
खेमराज श्रीकृष्णदास (सेठ) २८१, ३९५
गंग कवि, १८५, १८६, १९९
गांधी, (महात्मा) २५२
ग़ालिब, ७८, ७९, ८०, ९७, ९९, १९९, २२४, २२७, २५७, ३२६, ३३८, ३५१, ३५२
गोतम (महर्षि) ३५२
गोवर्धनाचार्य, १७, १८, १९, २४, ३१, ३६, ४६, ४७, ५७, ५८
ग्वाल कवि, १८२
ग्रियर्सन (डाक्टर), ३००
घासीराम, १२५
चन्द्रापीड़, २६२
चमूपति (एम० ए०) ७९
छित्तप (कवि), २१०
जगन्नाथ (पण्डितराज), १६४ २१८, २३९
ज़फ़र, ७१, ९६, १५४, १६८, १६९
जयदेव, १८, ५[illegible]
जयद्रथ, ३८७
जयसिंह (मिर्ज़ा राजा), ३७
जलाल, १००
जामी, १२

जीवन, (कवि) १२८
जुरअत, १६७
ज़ौक़, ४, ४७, ७३, ८६, ८७, ९२, ९३, १७३, १९०, १९३, १९९, ३४१
ज्वालाप्रसाद (मिश्र), २८१
तुलसीदास, २३५, २४७
तोषनिधि, ४८, १११, ११५, ११७, ११८, १२०, १२१
दग्ध-मरण कवि, २०९
दण्डी, ९९, २०९, २१८, ३१२, ३२२
दमयन्ती, २०३
दाग़, १६९
दुर्योधन, १४, १२०, १२१, २२८
दुष्यन्त, ७३
देवीप्रसाद, (प्रीतम) ९०
द्रौपदी, ९०
धोई कवि, २०८
नज़ीर, १६९
नाथूराम शङ्कर (शङ्कर), ९९, १३५, १८७, २६३, २६७, २६८
नासिख़, ८३, ८९, १६९, १८८, १८९, १९४
नासिरअली, ८९
निकहत, १९२
नीलकण्ठ दीक्षित, १३, १६०, २१४, २१७, २५५
नेपोलियन, ३७८
नेलसन, ३७८
न्यूटन, ३३७
पद्माकर, २९, ३०, ९६, १२१, १२३, १८६
परमानन्द, (पण्डित) ३११
पुण्डरीक, २६२
पूर्ण सरस्वती, ११
बदर, ९६
बरकतुल्ला, (पेमी) २०९
बर्क़, २६१
बलभद्र, ६१
बाणभट्ट, १४२, २५३, २६२, २७०
बालकृष्ण भट्ट, ८१
बिल्हण, १६६, १६७, २६०
बोधा कवि, २४८
भर्तृहरि, ७६, ७७
भरत मुनि, ११९,
भवभूति, ६८, ६९
भामह, (आचार्य) २१८
भिखारीदास, १५९, १६३, २४७
भीम, (पाण्डव) १२१, ३६४

भोजदेव, ४, ५, १७, ३०
मङ्खक, ६४, १३९, १९५, २९७
मतिराम, १९७, ३००
मम्मट, १७
मल्लिनाथ, ५, ६१, ३५२, ३५३
मसहफ़ी, ९२, ९३
माधव, ६८, ९४, ९५
मालती, ९४
मिश्रबन्धु, ४०, २४६, २४७, २६०, २६२, २६९
मीर तक़ी, ८५, १८८, १८९, १९२, ३९४
मीर दर्द, ८८
मीर हसन, ७१
मुहम्मद साहब, (पैग़म्बर) २२०, २९३
मूसा, (पैग़म्बर) ९९
मैत्रेयी, (भगवती) २३६
मोमिन, ९९, १९१, २१०
यज़दानी, ३६७
याज्ञवल्क्य (मुनि) २३६
रघुनाथराव, (राजा) २९
रसखान, २२, १२९, १३०
रसनिधि, ३४, ५८, १५२, १५३, १५४, १५६, १५७, २१२
रहीम, ३१
राजशेखर, ५, ६, २१, २६, २८ ४१, १४५, २०१, २१५
राधाकृष्णदास, २१९, २४६
राधाचरण (गोस्वामी) २१९
राम, (महाशय), ३५६, ३५९ ३६०
रामचरण तर्कवागीश, २५०
रामसहायदास, २४८
रुक्मिणी, ३८६, ३८७
रुद्र भट्ट, २०६, २०८
रुद्रट, ७
रोमल, २६२
लल्लूलाल, २३८, ३०४, ३१३, ३१५, ३२८, ३३१, ३७३, ३७९, ३८१, ३९०
वाचस्पति मिश्र, २४०, २७६
वात्स्यायन (मुनि) ३५३, २६४
विकट-नितम्बा, ३६
विद्याधर, ५
विक्रम, १२९, १४५, १४६, १४७, १४८, १४९, १५०, १५१
विराट, ३३४
विश्वनाथ, २८४, २८७, २९१
वेदव्यास, ३५२
वैशम्पायन, २६१
शङ्कराचार्य जी, २४०, ३५२, ३५३
शंकुक, ३६६

शालग्राम शास्त्री, ६३
शाह आबरू, ८५, ९१
शाहजहां (बादशाह), ११३
शाहमुहम्मद शाह (तथा चम्पा) १९१
शिवराम त्रिपाठी, २९१
शिबली, (मौलाना) १४
शूद्रक, २६२
शेख़ सादी, ७८
शंभु कवि, २४१
श्रीहर्ष, २३, १७९, १९४, २४० २७४, ३०५
समीम, ३४८
सत्यपाल, २५५
सत्यव्रत, २५५
सातवाहन, १७, १८०, ३८७
सुन्दर, ६१, १०६, १०७, १०८, १०९, ११०, ११२, ११३, १७१, १८४, २००, २०१, २७०
सुरति मिश्र, २६८, ३७९, ३८०, ३८१, ३८२
सूरदासजी, १८५, २२०, २४७,
सूर्यनारायण (महर), ८९
२९९, ३०५
सेनापति, ५०, ११४, ११५, ११६
सेवक कवि, २६८
सोमल, २६२
सौदा, ६१, ८१, ८२, १८५, १९३
हर कवि, ४५
हरि कवि, ९५. ३३१, ३३२, ३४७, ३७३
हरिप्रसाद, ३१५
हरिश्चन्द्र (भारतेन्दु) ११०, २०९, ३००
हाली, २, १४, ७८, १३४, १९४, २२४, ३१८, ३५६, ३६०, ३६२, ३६३

पद्योंकी वर्णक्रम-सूची

संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी और उर्दू, फ़ारसी के उन पद्यों, पदों और प्रमाण-वाक्योंकी अकारादिक्रम-सूची नीचे दी जाती है, जो "विहारीकी सतसई" में किसी प्रसङ्गमें उद्धृत और उदाहृत हुए हैं—

संस्कृत

अकालजलद	(सुभाषितावलि)	२६६
अग्निर्यथैको भुवनं	(श्रुति)	२३३
अङ्गानि मे दहतु		३४०
अङ्गैव पैरलङ्कारै	(साहित्यदर्पण)	२८९
अचुम्बितोल्लेख	(नीलकण्ठ दीक्षित)	२५५
अतिपरिचयादवज्ञा		३८५
अद्यापि स्तन	(साहित्यदर्पण)	२७१
अद्यैव यत्प्रतिपदु	(रुद्रभट्ट)	२०६
अनल्पैर्वादीन्द्रै	(लक्ष्मीलहरी)	२३९
अनलस्तम्भनविद्यां		२२९
अनुदिनमतितीव्रं		३४०
अन्यवर्णपरावृत्त्या	(बाणभट्ट)	२९४
अन्यासु तावदुप	(विकटनितम्बा)	३६
अपदोषतैव विगुणस्य गुणः	(माघ)	२८०
अपि ग्रावा रुद्यादपि		३५४
अयथाबलमार	(माघ)	३८३
अयि कुरङ्गि तपोवन		२२०
अर्थावबोधेपि समे	(नीलकण्ठ दीक्षित)	१३७
अवयवेषु परस्पर		९८

असभ्यार्थाभि	(काव्य-मीमांसा)	५
अस्ति भाति प्रियं	(पञ्चदशी)	२३३
अहो अहोभि र्महिमा	(श्रीहर्ष)	१७९
आत्म-नाम गुरोर्नाम		१२४
आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः	(श्रुति)	२३३
आदर्शो मणिरेव	(शालग्राम शास्त्री)	६३
आदातुं सकृदीक्षिते		१२६
आमोद-लोलुपतया	(सहृदयानन्द)	२०४
आयासः परहिंसा	(गोवर्धनाचार्य)	५१
इतरपाप-फलानि यदृच्छया		३४८
उत्कर्षः स च	(अभिज्ञान-शाकुन्तल)	७३
उद्धूयेत तनूलतेति		२०७
उद्धूयेत नतभ्रूः		२०७
उपसैव तिरोभूतभेदा	(काव्यादर्श)	३०९
एकनाडीसमायुक्तौ	(मेघमाला)	२२२
एकैकशो युवजनं	(गोवर्धनाचार्य)	५७
एणीदृशः प्रबलताप	(सहृदयानन्द)	२०३
एतत्सुदर्शनं नाम	(शार्ङ्गधरसंहिता)	२२८
एतस्याः स्मरसंज्वरः	(राजशेखर)	२०१
ॐ या अकृन्तन्नवयन्	(मन्त्र ब्राह्मण)	२५१
कमलाक्षि विलम्ब्यतां		७१
कर्मण्येवाधिकारस्ते	(गीता)	२७७
कविर्मनीषी	(श्रुति)	३
कान्तो रतिगुणा	(साहित्य-दर्पण)	२८८
कार्योत्पत्तिस्तृतीया	(कुवलयानन्द)	३०२, ३४३
काव्यं ध्वनिर्गुणीभूत	(साहित्य-दर्पण)	२८६
कुशलं तस्या	(कवि छित्तप)	२१०

कुसुम-कार्मुक	(माघ)	२६२
कृत-प्रवृत्तिरन्यार्थे	(साहित्य-दर्पण)	२६
केलिप्रदीप-लतिका	(श्रीकण्ठचरित)	२९७
क्रान्तकान्त-वदन-प्रति	(माघ)	२७१
क्वचिद्‌धुक्वा		२५६
क्रूराः कृतोऽञ्जलिरयं	(वाचस्पति मिश्र)	२७६
गुणदोषौ बुधो गृह्णन्निन्दु		२७४
गुणानेताननीत्य त्रीन्	(गीता)	२४३
गणेन केनापि जने	(श्रीहर्ष)	२७४
गुरुजनपरिचर्या		१३०
गुरुभौमसमायोगे		२२२
गुरुस्वर्त्तोच्चस्थे		२२५
गूढोक्तिरन्योद्देश्यं चेत्	(कुवलयानन्द)	३९०
गौर्गौः कामदुघा सम्यक्	(दण्डी)	३२२
घनतरघनवृन्दच्छादिते	(सुभाषित-रत्नभाण्डागार)	२६७
चिकुर-विसारण	(गोवर्धनाचार्य)	५९
चित्रवर्त्तिन्यपि नृपे	(नवसाहसाङ्क-चरित)	२९१
जगन्मिथ्याभूतं	(लक्ष्मीलहरी)	२३९
जानुभ्यामुपविश्य		७०
जृम्भते स्फोटयत्यङ्गं	(साहित्यदर्पण)	२६५
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि	(गीता)	१
ज्योत्स्नेव हृदयानन्दः		३३७
तदिदं श्रुतौ शास्त्रे चोप	(राजशेखर)	६
तप्ते महाविरह-वह्नि	(अमरुक)	६०
तव विरहमसहमाना		२०९
तस्यास्त्वदेकमनसः	(धोई कवि)	२०८
तस्यास्तापमहं नृशंस		२०२

तानि प्राञ्चि दिनानि यत्र		१५८
तिरस्कृत-तरणित्विषि	(नलचम्पू)	२६७
तुलाकोदण्डमीन	(मानसागरी पद्धति)	२२५
त्वद्विरहापदि	(आर्यासप्तशती)	८३
त्वं मुग्धाक्षि विनैव	(अमरुक)	६४
त्याज्यो दुष्टः प्रियोप्या	(रघुवंश)	२५४
दहनजा न पृथुर्दव	(नैषध)	१९४
द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र	(महाभारत)	१६५
दिवि सूर्यसहस्रस्य	(गीता)	१००
दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्था	(आनन्दवर्धनाचार्य)	२७
धत्ते चक्षुर्मुकुलिनि	(मालती-माधव)	६८
धावतः स्खलनं क्वापि		२७८
धूमेनेव हते दृशौ		२०५
नद्यृतश्च	(अष्टाध्यायी)	२८८
न लिङ्गवचने भिन्ने	(काव्यादर्श)	२५४
न स शब्दो न तद्वाच्यं		२१४
न सहेत करस्पर्शं	(रसार्णवसुधाकर)	१२५
नहि कविना परदारा	(रुद्रट)	७
नास्त्यचौरः कविज	(राजशेखर)	२८
निजानपि गजान्	(भोजप्रबन्ध)	३०
निधौ रसानां निलये गुणा	(पूर्ण सरस्वती)	११
निहितान् निहितानुज्झति	(गोवर्धनाचार्य)	५७
निहितार्धलोचनायास्त्वं	(गोवर्धनाचार्य)	४९
नीरसं काष्ठमेवेदं	(कुञ्जराज)	२११
नीरागोऽधरपल्लवोति	(रुद्रभट्ट)	२०७
नीलाञ्चलेन संवृतमानन	(रसगङ्गाधर)	३४८
नैर्गुण्यमेव साधीयो धिग	(जगन्नाथ पण्डितराज)	२७७
नो शक्या गदितुं		२०२

पञ्चत्वं तनुरेतु		२१२
पर्यायोक्तं तदप्याहुः	(कुवलयानन्द)	२५९
पश्येयमेकस्य कवेः	(नीलकण्ठ दीक्षित)	१३
पिब मधुप वकुल-कलिकां	(गोवर्धनाचार्य)	३६
प्रक्रमापन्नो निबन्धनीय	(राजशेखर)	५
प्रणमति पश्यति	(गोवर्धनाचार्य)	४५
प्रतीपमुपमानस्य	(कुवलयानन्द)	३३४
प्रतीयमानं पुनरन्य	(ध्वन्यालोक)	२१
प्रतीयमानानुप्राणित	(अभिनवगुप्तपादाचार्य)	२१
प्रससार शनैर्वायु	(साहित्य-दर्पण)	२५७
प्राणेश्वरेण रभसा	(मङ्खक)	१३९
प्राप्ता तथा तानव	(विक्रमाङ्क-देवचरित)	१६६
प्रेम हृदय-पत्रानुगत	(शृङ्गारसप्तशती)	३११
प्रौढिप्रकर्षेण पुराणरीति	(विक्रमाङ्क-देवचरित)	२६०
बिडौजाः पुरा		२५६
ब्रह्महत्या सुरापानं	(स्मृति)	१९६
भद्रात्र ग्रामके त्वं		१७७
भ्रामं भ्रामं स्थितया	(गोवर्धनाचार्य)	५६
भारती कालिदासस्य	(मल्लिनाथ)	३५२
भावो वापि रसोवापि	(भरतमुनि)	११९
मत्वा पदग्रन्थनमेव	(नीलकण्ठ दीक्षित)	२१४
मधुमथनमौलिमाले	(गोवर्धनाचार्य)	५४
मनागनभ्यावृत्त्या वा	(माघ)	२७९
मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायः	(दण्डी)	३१२
मसृणपदरीति	(गोवर्धनाचार्य)	१८
मिथोऽनपेक्षयैतेषां	(साहित्यदर्पण)	२६०
मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव	(आनन्दवर्धनाचार्य)	२०

मुक्तमन्येन नालिङ्गितं	(अभिनवगुप्तपादाचार्य)	१९
मुग्धे धानुष्कता		७२
मुग्धे मुग्धतयैव	(अमरुक)	६६
यदपि तदपि रम्यं	(आनन्दवर्धनाचार्य)	२९
यदा भौमश्च चन्द्रश्च	(मेघमाला)	२२२
यदि प्रियवियोगेपि	(दग्धमरण कवि)	२०९
यस्तु तत्र तत्र भाषा	(राजशेखर)	२२
यस्य कस्य तरोर्मूलं	(लटकमेलकप्रहसन)	३३४
यादृशं पुस्तकं दृष्टं		३८९
यानस्थानासनादीनां	(साहित्यदर्पण)	२९०
यानेव शव्दान् वयमा	(नीलकण्ठ दीक्षित)	१३२
यावद् यावद् भवति कलया		२०६
ये गृह्णन्ति हठात्तृणानि	(शंकुक)	३६६
येन स्वेन करेण शोकदहने		१९६
येनैव सूचितनवाभ्युदय	(हरकवि)	४५
रसं रसज्ञाः कलयन्ति	(नीलकण्ठ दीक्षित)	२१७
रात्रिराज सुकुमारशरीरः	(श्रीकण्ठचरित)	१९५
रे रे यन्त्रक मा रोदीः	(सुभाषितावलि)	२५०
लज्जा प्रौढमृगीदृशामिव		३८५
लाक्षां विधातुमवलम्बित	(रसार्णवसुधाकर)	१२६
लेशः स्याद्दोषगुणयो	(कुवलयानन्द)	१८१, ३०७
वक्रोक्तयो यत्र विभूषणानि	(नीलकण्ठ दीक्षित)	१६१
वर्ण्योपमानधर्माणां	(कुवलयानन्द)	३६९
वाग्जन्मवैफल्यमसह्य	(श्रीहर्ष)	२३
वाच्यं तस्मै सहचरि		२१०
वाणी प्राकृतसमुचित	(गोवर्धनाचार्य)	१८
वारं वारं तिरयति	(मालती-माधव)	९५

वारिपूर्णां मही कृत्वा	(शीघ्रबोध)	२२३
विप्रः सपत्नो ह्यु प	(सुभाषितावलि)	२५०
विप्रतिषेधे परं कार्यम्	(अष्टाध्यायी)	२९८
विरुद्धं भिन्नदेशत्वं	(कुवलयानन्द)	३१८
विरुद्धात्कार्यसम्पत्ति	(कुवलयानन्द)	३७७
विलासमसृणोल्लसन्मुसल	(विज्जका)	२५१
विषं विषधरैः पीतं	(कुवलयानन्द)	१३६
वीराद्भुतादिषु च येह	(भोजदेव)	५
शून्यं वासगृहं	(अमरुक)	६२
शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेय	(जयदेव)	१८, ५०
श्रोतव्यः श्रुतिवाक्ये	(वेदान्त)	२३७
शंकरशिरसि निवेशित	(गोवर्धनाचार्य्य)	५५
सकलविद्या-स्थानैकायतनं	(राजशेखर)	२१५
सख्योऽथ पक्ष्मलदृशां	(श्रीकण्ठचरित)	६४
सति प्रदीपे सत्यग्नौ	(भर्तृहरि)	३५५
सदसत्संशयगोचरोदरी	(नैषध)	२४०
सदा वक्रः सदा क्रूरः		३८४
स नन्दति विना वाच्यं	(राजशेखर)	१४५
समर्थनीयस्यार्थस्य	(कुवलयानन्द)	३४४
समासोक्तिः परिस्फूर्तिः	(कुवलयानन्द)	३३९
सर्वो बलवतां धर्मः	(महाभारत)	२३२
सर्वंसहां महीमिव	(आर्यासप्तसती)	२२३
स राजलोकः कृत	(रघुवंश)	२५८
सव्याधेः कृशता	(रोमल, सोमल)	२६२
साभिप्राये विशेष्ये तु	(कुवलयानन्द)	३८२
सायं नायमुदेति वासरमणि		१९८
स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु	(कालिदास)	६२

स्निग्धश्यामलकान्ति		६९
सीहुण्डो वज्रः स्नुक्	(अमरकोश)	३११
सुधातः स्वादीयः	(गङ्गालहरी)	२८२
सुन्दरी सा भवत्येष	(दण्डी)	९९
सुभग व्यजनविचालन	(गोवर्धनाचार्य)	५३
सुभ्रु त्वं कुपितेत्यपास्त	(कुवलयानन्द)	३१६
सुवर्णं वहु यस्य		७४
सूक्ष्मं विभाव्य मयका		३९३
सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति	(भामहाचार्य)	२१८
संग्रामाङ्गणसम्मुखाहत	(भामिनीविलास)	१६४
संवादास्तु भवन्त्येव	(आनन्दवर्धनाचार्य)	२७
संसार तव निस्तारपदवी	(भर्तृहरि)	७६
स्तोतुं प्रवृत्ता श्रुतिरीश्वरं	(नीलकण्ठ दीक्षित)	३
स्नेहं परित्यज्य निपीय धूमं		२३५
स्वन्तः प्रत्ययितो नरे	(बृहज्जातक)	२२५
हेलात्यन्तसमालक्ष्य	(साहित्यदर्पण)	२८९

प्राकृत

अण्णाणं वि होन्ति	(गाथासप्तशती)	४१
अव्वो दुक्कर	(गाथा-सप्तशती)	३९
उवरि महं चिय	(वज्जालग्गम्)	२०५
कुन्दलयामउल	(वज्जालग्गम्)	२०४
घेत्तूण चुण्ण	(गाथासप्तशती)	१८१
जस्स जहँ विश्र	(गाथासप्तशती)	९८
जाव ण कोसवि	(गाथासप्तशती)	३५
तह झीणा जह	(वज्जालग्गम्)	१७०
तह नीससिय	(वज्जालग्गम्)	२०४

फुरिए वामच्छि	(गाथासप्तशती)	४५
वज्जपडणाइरिक्कं	(गाथासप्तशती)	३८७
बालअ तमाहि अहिअं	(गाथासप्तशती)	३२७
मा उएणं पियसु	(वज्जालग्गम्)	१९१
सहइ सहइ त्ति	(गाथासप्तशती)	४३
हल्लफल्ल हाए	(गाथासप्तशती)	३८

हिन्दी

अज्यौं तरयौना	(विहारी)	२३४
अज्यौं न आये	(विहारी)	३९
अतिद्युति ठोड़ी	(विक्रम)	१४५
अद्भुतगति यह	(रतनहजारा)	१५३
अनगने औठपाय	(केशव)	१०३
अनियारे दीरघ	(विहारी)	४१
अपनी गरज	(विहारी)	३२५
अपनौ सौ इनपै	(रसनिधि)	५९
अम्बुद आनि दिसा	(कृष्णकवि)	२६९
अरी खरी सटपट	(विहारी)	२७०
अलि इन लोयनकौं	(विहारी)	१५२
आजु सखी हौं		२१२
आड़े दै आले	(विहारी)	१६१
आनि आनि तिय	(पद्माकर)	१२३
आये पिय परदेसतें	(तोषनिधि)	१२०
आवत जात	(विहारी)	३८३, ३८४
इक तो मदनविसिख	(शृङ्गारसतसई)	१३५
इत आवत	(विहारी)	१६६
इन दुखिया	(विहारी)	१५५

उभकि अलिनकी	(विक्रम)	१४९
उठि ठक ठक	(विहारी)	३११
उपमानरु उपमेयमें		३०९
उरभत दृग	(रतनहजारा)	१५३
ऊंचै चितै	(विहारी)	३०२
ऊधौजू संदेसौ	(सुन्दर)	१८४
एक रजाई समै	(कृष्णकवि)	२३१
ए जीगन न उड़ाहिं	(शृंगारसतसई)	१४१
ए रे निरदई दई	(शृंगार निर्णय)	१६३
ए रे मतिमन्द चन्द	(मतिराम)	१९७
ऐसी सिलसिली	(सुन्दर)	६१
ओठ उचै हाँसी	(विहारी)	२५४
औंधाई सीसी	(विहारी)	१४४, १६२, ३२७
कच समेटि	(विहारी)	७०
कनक कनक	(विहारी)	७४
कबकौं टेरत	(विहारी)	२४४
कबहूँ विरहागिनमें	(सुन्दर)	१७१
कर ऐंचत	(पद्माकर)	११२
करके मीडे	(विहारी)	१६७
कर लै चूमि	(विहारी)	११४
करी विरह	(विहारी)	१६८
करे चाहसों	(विहारी)	२९९
कहत सबै बैंदी	(विहारी)	८५, ११०, २२१
कहा कहौं वाकी	(विहारी)	२६१
कहा कुसुम	(विहारी)	३५५
कहा लडैते दृग	(विहारी)	१०६, ३१२
कहा लेहुगे खेलमें	(विहारी)	१२३

कहि मिश्री	(विक्रम)	१४६
कही सीतकी प्रबलता	(सुरतिमिश्र)	३८०
कहूँ वनमाल	(सुन्दर)	१०६
कहे जु वचन	(विहारी)	३३०
कहै इहै श्रुति	(विहारी)	३३१
काव्यलिङ्ग जहँ	(भाषाभूषण)	३४४
काहू कारनते जबै	(भाषाभूषण)	३७७
काहे को दुरावति है	(सुन्दर)	११२
कित चित	(शृङ्गार सतसई)	१३३
किती न गोकुल	(विहारी)	१२९
कियौ सबै जग	(विहारी)	३७७, ३८०
कुटिल अलक	(विहारी)	१०८, २२१
कुहूनिसा	(रतनहजारा)	१५७
को छूट्यो इहिं	(विहारी)	३९२
कोटि जतन कोऊ करौ	(विहारी)	३३३
कौन सुनै	(विहारी)	१३५
कोहरसी एड़ी	(विहारी)	१२५
क्यों न एक	(शृङ्गारसतसई)	१४४
क्यौं बसियै	(विहारी)	१५३
कौन ठगोरी भरी	(रसखान)	१३०
कंचनमें आंच गयी		१८२
कंज नयनि	(विहारी)	५९
क्षण क्षण [छिन छिन] में	(विहारी)	३२४
खरि सासु घरी	(बोधा कवि)	२४८
खेलन सिख ✓	(विहारी)	१५४
गढ़ रचना	(विहारी)	२१९
गनती गनवेतैं	(विहारी)	१७१, २२६

गुड़ी उड़ी	(विहारी)	२६४
गूढ़ौकति मिस औरके	(भाषाभूषण)	३९०
गोधन तू हरख्यौ हियै	(विहारी)	३९१
गोपिनके अँसुवान	(तोषनिधि)	१८५
घरसे वैर	(लोकोक्ति)	९
घरहाइन	(शृङ्गारसतसई)	१४०
घिर घिर घन	(शंकर)	२६७
चपल चलाकिन	(विक्रम)	१४८
चलत घैर	(विहारी)	३१८
चलत चलत	(विहारी)	१७८
चलत लंक	(विक्रम)	१५०
चितवन भोरे	(विहारी)	३२३
चितवित बचत	(विहारी)	१६०
चिरजीवौ जोरी ✓	(विहारी)	१०२, १४३
चंदकी कलासी	(सेनापति)	११६
चन्दन कीच	(शृङ्गार सतसई)	१३७
छप्यौ [तौ] नेह-कागद	(विहारी)	३०८
छबि मिसरी	(रतनहजारा)	१५१
छन बिछुरन	(शृङ्गारसतसई)	२४८
छाय रह्यौ तम		२७२
छिनक छबीले	(विहारी)	१४६
छि [छ] प्यौ छबीलो	(विहारी)	३४८
छुटी न सिसुताकी	(विहारी)	२९७
छुटे छुटावै	(विहारी)	७०
छैल व्रजचन्द	(जीवन)	१२८
छ्वै छिगुनी	(विहारी)	४९
जग करि दीनौ स्वामिबस	(अमरचन्द्रिका)	३८०

जगत जनायो	(विहारी)	२४१
जदपि चवायनि	(विहारी)	१४०
जपमाला	(विहारी)	२४२
जब जब पनघट	(सूरदास)	१८५
जम जनि बौरा	(बरकतुल्ला 'पेमी')	२०९
जाती है तू गोकुल	(काव्यनिर्णय)	२४८
जानि महागुन रूपकी	(भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)	२०९
जालरन्ध्रमग	(विहारी)	१२८
जाहि जोहि	(शृङ्गारसतसई)	१४१
जिन दिन देखे	(विहारी)	८
जिहिं निदाघ	(विहारी)	१६३
जिहि ब्राह्मन पिय	(रसनिधि)	२१२
जुग जुग ये जोरी	(शृङ्गार-सतसई)	१४३
जो कोऊ रस	(कृष्णकवि)	२४
जोग जुगति ✓	(विहारी)	२३६
जो न जुगति पिय	(विहारी)	८६
जोन्हतें खाली छपाकर	(तोषनिधि)	११७
जो वाके तनकी दसा	(विहारी)	८०, १५०
ज्यों कर त्यों चुँहटी	(विहारी)	२४९
ज़ौ लौं भीजे चीर लौं	(विहारी)	३५०
झूठ काजको बनाय	(सेनापति)	५०
टटकी धोई धोवती	(विहारी)	१३९, १४७, १४८
ढुनिहाई सब टोलमें	(विहारी)	३०३
डर न टरै	(विहारी)	८४
तच्यौ आँच अति	(विहारी)	३३५, ३३८
तिय कित	(विहारी)	७२
तियतिथि	(विहारी)	२२६

तीज परब सौतिन	(विहारी)	३८
तीर लग्यो न	(शङ्कर)	२६३
तुम पहँ धावन		१७३
तुम बिन एती		१७३
तुलसी आह गरीबकी		३२०
तू मोहन मन	(विहारी)	३१८
तैसीयै जगति जोति	(केशव)	१०१
तो रस राच्यो	(विहारी)	२४
तो लखि मो मन	(विहारी)	३४५
तो ही निरमोही	(विहारी)	२५९
तौ लगि या	(विहारी)	२४२
त्रिबली नाभि	(विहारी)	१२७
थोरेई गुन	(विहारी)	२४३
दिन दस आदर	(विहारी)	३९१
दिन रैनिकी संधिन	(सेवक)	२६८
दियो हरखि हित	(विक्रम)	१४९
दीप उजेरे हू	(विहारी)	१३९
दीरघ दोहा	(रहीम)	३१
दुरि है क्यों भूषण	(केशव)	२७२
दुसह दुराज	(विहारी)	२३०
दूरहीतें देखत विथा	(पद्माकर)	१८६
दूरि भजत	(विहारी)	२४३
देखहु बलि	(विक्रम)	१५०
देखा पन्थी	(शङ्कर)	२६३
देखौं जागि तौ वैसियै	(विहारी)	८७
द्वैज सुधादीधितिकला	(विहारी)	३१९
दृग उरझत	(विहारी)	८१, १५३

दृग थिरकौंहैं	(विहारी)	११०, २७०
दृग-दुस्सासन	(रतनहजारा)	१५५
धीर अभय	(शृङ्गारसतसई)	१३८
धूम तरंगनितें	(मुहम्मदशाह, व चम्पा)	१९१
नई लगनि	(विहारी)	१२१
नभ लाली	(विहारी)	११७
नहिं पराग	(विहारी)	३५, ३७, ३९२
नहि पावस ऋतुराज		३९२
नाह गरज नाहर गरज	(विहारी)	३८६
नित संसौ	(विहारी)	१३७, १७०
नीचीयै	(विहारी)	१५१
नीचे तें उठाय नारि	(कृष्णकवि)	३३०
नेक उतै उठ	(विहारी)	५३
नैकु हँसौंही बान तजि	(विहारी)	१०१, ३४२
नैननि स्यामको रूप रह्यो		३४०
नैन नीर बरसत	(सेनापति)	११४
पजस्यौ आग	(विहारी)	१७०
पतवारी माला	(विहारी)	२४२
पलनि प्रगटि	(विहारी)	६०
पल पलमें	(पद्माकर)	९६
पढ़ि न सिराति	(तोषनिधि)	११५
पति रतिकी	(विहारी)	६४
परिवार पुरजन	(तुलसीकृत रामायण)	२४८
पहिर न भूषन	(विहारी)	९१, ३५५
पहुँचति डटि	(विहारी)	१३८
पत्रा ही तिथि	(विहारी)	१५७, २२६
प्रतिबन्धकके होतहूँ	(भाषाभूषण)	३०२

पावस घन	(विहारी)	२६५
पासके गये पै एक बूँद हू	(शङ्कर)	२३८
प्यारी खण्ड तीसरे	(कालिदास)	१२८
प्यारो परदेसको		१८१
पिय तन तजि		१७३
पिय बिछुरनको	(विहारी)	१२०, १२९
पीवत पीवत	(रतनहज़ारा)	१५२
प्रीतमको हित	(तोषनिधि)	१२१
प्रीतम गौनु किधौं	(सुन्दर)	२००
पूरण प्रेम उमाहते	(कृष्णकवि)	२६५
प्रेम अहेरी	(रतनहजारा)	१५४
पैंजनी गढ़ाइ चोंच	(तोषनिधि)	४८
फिर फिर चित	(विहारी)	५६
फीको परै न वर घटै	(विहारी)	३५०
बरखत मेह	(पद्माकर)	१७५
बरुनी-बयार लागै	(कृष्णकवि)	२०७
बसन हरत बस	(शृङ्गारसतसई)	१३९
बसि सकोच-दस	(विहारी)	२२९
बसै बुराई	(विहारी)	२३२
बहक न इहिं	(विहारी)	२५६
ब्रजभाषा बरनी सबै		२२०
बाम बाहु फरकत	(विहारी)	४४
बाल छबीली	(विहारी)	११६
बिरह आंच	(शृङ्गारसतसई)	१४४
बिरहकी ज्वालनसों		१९०
बिरहजरी	(विहारी)	१४१
बिरहबरी लखि जींगननु	(विहारी)	३२९

बिरह-बिथा-जल	(विहारी)	२२८
बिरह-बिपति	(विहारी)	१७२
बिहँसि बुलाय	(विहारी)	२६३
बुधि अनुमान	(विहारी)	२३६
बैठि रही अति सघन	(विहारी)	३७१
बैठी है सखिन संग	(गंग)	१८५
भरभराय देखै	(रतनहजारा)	१५५
भावत न पानी पान	(सुन्दर)	१११
भूषन भार	(विहारी)	८९, १५०
भेजत हौं यह		१७३
भेटत बनत	(विहारी)	२६४
भोगवती भोजन	(विक्रम)	१४७
भोर भये मथुराको	(सुन्दर)	२०१
भोरी बैस इन्दुमुखी	(कालिदास)	१२७
भौंहनि त्रासति	(विहारी)	१२२
मकराकृति गोपाल के	(विहारी)	२९६
मरत प्यास पिंजरा	(विहारी)	३९२
मरन भलौ	(विहारी)	१७३
मरिबे कौ	(विहारी)	६८, १७४
मृगनयनी दृग	(विहारी)	४७
मंगल बिन्दु	(विहारी)	२२२
मन्द ही चँपेतें इन्द्र	(घासीराम)	१२५
मानो भुजंगिन कंज	(सुन्दर)	१०९
मानहु विधि तनु अच्छ	(विहारी)	३५१, ३५४
मेरो मुंह चूमे तेरी	(केशव)	१०५
मैं मिसहा सोयौ	(विहारी)	६२
मैं लखि नारी	(विहारी)	२२६

मैं लै दयौ	(विहारी)	१४९, १८०
मैं समझ्यौ	(विहारी)	८८, २३२
मोर-चन्द्रिका	(विहारी)	५४
मोरमुकुट की चन्द्रिका	(विहारी)	२९४
मोहि तोहि जानिबी	(सूरसागर)	२४७
मोहि दियौ	(विहारी)	१४८
मोहि भरोसौ	(विहारी)	१४४
यदपि चवायनि चीकनी	(विहारी)	३०१
यमकरि मुँह तरहर पर्यौ	(विहारी)	३८७
यह विनसत नग	(विहारी)	२२७
या भव-पारावारको	(विहारी)	७६
यौं दल मलियत	(विहारी)	४३, ३१६
रन्ध्रजाल ह्वै	(विक्रम)	१२९
रपटत लोचन	(बलभद्र)	६१
रह्यौ ऐंचि	(विहारी)	८५, १५५, २२९, ३५०
रावटी तिमहलेकी	(तोषनिधि)	११८
ललित स्याम	(विहारी)	१४५
लाज-लगाम	(विहारी)	१४८, ३९०
लाल तिहारे	(काव्यनिर्णय)	१६०
लिखन बैठि	(विहारी)	११, ९२, १४२
लै चुभकी चलि जात	(विहारी)	३६८, ३७०
वाचकधर्मरु	(भाषाभूषण)	३६९
वाहि लखे	(विहारी)	८२
वे ठाढ़े उमदात	(विहारी)	१०५
शङ्कर नदी नद नदीसन	(शङ्कर)	१८७
शङ्कर ये बिथुरी	(शङ्कर)	२६७
सकुचि सरकि पिय		२९०

सखी सिखावति	(विहारी)	६५
सगरब गरब	(शृङ्गारसतसई)	९६, १४२
सतसैयाके दोहरे		३१
सन सूक्यौ	(विहारी)	१३३
सनि कज्जल	(विहारी)	२२४
सबही तन	(विहारी)	५७, ११२
ससिमुखी सूक गयी	(ग्वालकवि)	१८२
साभिप्राय विशेष जहँ	(अमरचन्द्रिका)	३८०
साभिप्राय विशेष्य जब	(भाषाभूषण)	३८२
स्याम निसा सखि	(कृष्णकवि)	२७०
स्वारथ सुकृत	(विहारी)	५१
सिंह भ्रमै बन भाँवरी	(शंभु)	२४१
सीतकाल जल		१९१
सीतल जानि वियोगिनि		१७४
सीरे जतननि	(विहारी)	१६१
सुख दै सखीन बीच	(केशव)	४३
✓ सुनत पथिक	(विहारी)	१७४
सेत पहार अगार भये		२७२
सेत सरीर हिये विष	(गंग)	१९९
सोरा सों सँवारिकै	(सुन्दर)	१८३
सम्पति सुमेर की		३०
हठ न हठीली	(विहारी)	३७४, ३७६
हार निहार	(विक्रम)	१५०
ह्याँ ते ह्वाँ ह्वाँ ते	(विहारी)	१६५
ह्याँ तो काम अधिक हि	(अमरचन्द्रिका)	३८०
हित करि तुम	(विहारी)	२६४
हिय लोचन में	(शृंगारसतसई)	६८

हियौ पसीज पसीज हाय	(अम्बिकादत्त व्यास)	३४०
हेरि हिंडोरे	(विहारी)	११८
ह्वै कपूरमणि	(विहारी)	३६३, ३६५
हौं ही बौरी	(विहारी)	१४०, १६३

उर्दू फ़ारसी

अजल आई	(अमीर मीनाई)	२१०
अंधेर छा जायगा	(हाली)	२९
अपने सोज़े-दिलसे	(निकहत)	१९२
अफ़सुर्दा-दिल के वास्ते	(ज़ौक़)	१९९
अफ़सोस है कि ज़िन्दा हूँ	(अकबर)	२१०
अब य हालत है कि	(बर्क़)	२६१
आई शबे-फ़िराक़	(नासिख़)	१८९
आज की रात जो तू		१५९
आबले पड़गये पानीमें		१९२
आंसुओं में है य नक़्शा	(नासिख़)	१९४
इन्तहाए-लाग़रीसे	(नासिख़)	१६९
इस दिले-बेताब	(ज़फ़र)	३९५
उठे दस्ते-दुआ क्या	(दाग़)	१६९
उड़ाके आह का शोला	(ज़ौक़)	१९०
उनके देखे से जो आजाती है	(ग़ालिब)	७८
एक हम हैं कि लिया अपनी		३००
ऐब भी उसका कोई	(हाली)	२७३
करूँ जो आह ज़मीं	(मीर तक़ी)	१८९
कहीं देखा न हस्ती वो अदम	(अकबर)	२३९
काँपता है आसमां क्या		१८९
क़ाबिले-अफ़सोस		३३२

काह् कर देता था मेरा	(यज़दानी)	३६७
कितने दिल उलझे	(ज़फ़र)	७१
क़िस्सए-इश्क़े-सनम		७९
किसी की जब कोई	(आतिश)	१२०
किसी रंजकशको		२११
किसी से क्यों दबें हम	(अकबर)	१०४
किश्तीए-दिलकी इलाही	(अकबर)	५७
की है य बन्दिश ज़हनरसाने	(अकबर)	१००
कौन होता है बुरे वक़्क़की		३१४
क्या कहूँ इस सफ़ाइए-आरिज़	(सौदा)	६१
क्या नज़ाकत है कि आरिज़		३५४, ३५७
क्या मुसव्विर यारकी	(ज़फ़र)	९६
ख़ता करते हैं टेढ़े तीर		७३
ख़ाले-सियाह नाफ़े-मुदव्वर		८६
खुलता नहीं दिल बन्दही	(ज़ौक़)	८७
गरचे क़न्दीले-सुख़नको		२५६
ग़रज़ वाइज़की महनत	(अकबर)	६८
गुफ़्ता बूदम् चु वियाई	(शेख़सादी)	७८
गुलहाय रंगारंगसे	(ज़ौक़)	४
गोयन्द कि शब बसरे	(नासिरअली)	८९
घर से बाहर	(नासिख़)	८३
च मे पुरसी ज़े हाले-मा		३४१
छूट जायें ग़मके	(ज़ौक़)	१७३, २६१
जगमें आकर इधर उधर	(मीरदर्द)	८८
जब नक़ाब उलटी	(अमीरमीनाई)	९९
जमा करते हो क्यों	(ग़ालिब)	३३१
ज़माना होगया बिस्मिल	(अकबर)	७४

जला है जिस्म जहां दिलभी	(ग़ालिब)	३२६
ज़ि ताबे आतिशे-दूरी		२०१
जिसने रंडापा	(हाली)	१९४
जुदाई के ज़मानेकी	(शाह आबरू)	८५
जो चुप रहेगी ज़बानेख़ंजर	(अमीरमीनाई)	३७४
जो दानेहाय-अन्जुमे	(इन्शा)	१८८
जो नक़ाब उट्ठी	(मोमिन)	९९
जो पूछा नेस्ती हस्ती में	(अकबर)	२३९
टैटनिक टुकड़े हुआ	(अकबर)	७६
तमाम रात हुई		१५९
तस्वीर अस्ल से नहीं	(अकबर)	९७
तस्वीरवींकी फ़ानी	(अकबर)	९७
तस्वीरमें उतरा न	(बद्र)	९६
तारे तो ये नहीं	(मीरतक़ी)	१८८
तिरछी नज़रों से न देखो		७३
तिरछी नज़र से तायरे-दिल	(आतिश)	७३
तू है निगारे-ज़ेबा	(सूर्यनारायण 'महर')	८९
दरख़्तों की कुछ छांव	(बद्रे-मुनीर)	१३५
दर हिज्र तरब बेश कुनद्	(ग़ालिब)	१९९
दिरमो दाम अपने पास	(ग़ालिब)	२५७
दिल गया दमपर वनी	(मोमिन)	३१५
दिल चाक चाक करके		२८०
दिल में कुछ इन्साफ़	(अकबर)	२४६
दिला क्योंकर मैं उस	(अकबर)	१००
दिले-पुरदाग़ से मेरे	(ज़फ़र)	१५४
दीदे-कमरे-यारकी	(आतिश)	२३९
देखिये पाते हैं उश्शाक़	(ग़ालिब)	२४४

न इतनेपर भी जो समझे		३१४
न करता ज़ब्त मैं नाला	(ज़ौक़)	१९०
नक़्शको उसके	(ग़ालिब)	९७
नज़्ज़ारे ने भी काम	(ग़ालिब)	९९
न देखने पाई आंख	(जलाल)	१००
नहीं मोहताज ज़ेवरका	(शाह आबरू)	९१
न हो महसूस जो शै	(मसहफ़ी)	९२
नाज़ कहता है कि ज़ेवर से	(अकबर)	८९
नाज़ुक है न खिंचवाऊँगा	(अर्शद)	९६
नातवानी ने बचाई	(ज़फ़र)	१६८
नातवानी मेरी देखी तो	(अकबर)	९७
नातवां हूँ बसकि	(जुरअत)	१६७
नाला एकदममें उड़ा देवे	(मोमिन)	१९१
निकलता है अजब एक हुस्न	(समीम)	३४८
नीला नहीं सपहर	(मीरतक़ी)	१९२
बड़े मूज़ी को मारा	(ज़ौक़)	७३
बन्द होजाती हैं सय्यारोंकी	(नासिख़)	१८८
बह चला आंखोंसे दिल		३४१
बहुत शोर सुनते थे		२८२
बादा खुरदनो हुशियार		७५
मान लीजे शैख़ जो	(हाली)	३१८
मुझको दोज़ख़ रश्के-जन्नत	(ज़ौक़)	८६
मुझ ज़ुल्फ़के मारेको	(नज़ीर)	१६९
मुनकिरे-यकरंगिए	(अमीर मीनाई)	३६७
मुहब्बतमें नहीं है फ़र्क़	(ग़ालिब)	२२७
मेरी क़िस्मतमें ग़म गर	(ग़ालिब)	१७१
मेरी तर्ज़े-फ़ुग़ांकी	(अकबर)	१३२

मेरे दूदे-आहसे	(ज़ौक़)	१९३
मैं कहता रहगया ज़ालिम		३१०
मैंने कहा कि रंजोग़म		३३३
मै में वह बात कहां		८४
यक़ीं है दीदए-बारीकवीं	(आतिश)	१६९
यह अजीब माजरा है	(इन्शा)	३५३
यह तर्ज़ अहसान करने	(अकबर)	२२७
यहां तक आतिशे-फ़ुरक़त		१९५
यही सोज़े-दिल है तो	(अमीरमीनाई)	१९३
ये नातवा हूँ कि	(नज़ीर)	१५९
यों नज़ाकतसे गरां	(नासिख़)	८९
रवां है शमाके अश्कोंमें	(ज़ौक़)	३४१
रसीदा बूद् बलाय		३५१
रुत है बरसातकी	(कुल्लियाते-मुनीर)	२६८
लटोंमें कभी दिलको	(मीरहसन)	७१
लहज़ा लहज़ा है तरक़्क़ी पै	(अकबर)	९७
वाइज़ा सोज़े-जहन्नुमसे	(सौदा)	१९३
वो गानेका आलम	(बद्रे-मुनीर)	१३५
शक्ल तो देखो मुसव्विर	(ज़ौक़)	९२
शमारू कहना उसे	(सौदा)	८२
शाइरी मर चुकी	(हाली)	२
सँभाले बारे-ज़ेवर क्या	(देवीप्रसाद 'प्रीतम')	९०
समुन्दर कर दिया नाम	(सौदा)	१८५
सही नफ़रत मज़ामीने-ग़	(बेताब)	८
सुनके आमद उनकी	(ज़ौक़)	४७
सोहबत तुझे रक़ीबसे	(सौदा)	८१
हज़रत से आप		३१६

हम नहीं ऐ आह तो		१८९
हमने सबका कलाम		३४
हर आन हमको तुझबिन	(मीर तक़ी)	८५
हर मुश्ते-ख़ाक य्हांकी	(मीर तक़ी)	३९४
हरीफ़ां बादहा खुरदन्दो	(जामी)	१२
हाथ ख़ाली मर्दुमे-दीदा	(आज़ाद)	१९५
हिज्र का नक़्शा	(चमूपति एम० ए०)	७९
हिज्रसे बढ़कर मुसीबत		२०९
हैफ़ आता है कि खोई	(आज़ाद)	३६५
हैरां हूँ दिलको रोऊँ	(ग़ालिब)	३३८
है सलसलाहट ऐसीही	(इन्शा)	६१
है हिज्रे यारमें तुझे	(मोमिन)	२१०

कतिपय सम्मतियोंका सार

श्रीशारदापीठके भूतपूर्व शंकराचार्य जगद्गुरु श्री१०८स्वामी त्रिविक्रमतीर्थ जी महाराज—

"विहारीकी सतसई"—नामकं पुस्तकं दृष्टिगोचरीभूतम्। नितान्तं मोदे भवतां परिश्रमेण सतसईसञ्जीवनाय कृतेन योग्येन × × चिरं जीयात् सतसईसञ्जीवन-कर्मणा शर्मभाग् अयं पद्मसिंहशर्मा इति"

निखिल-तन्त्र-स्वतन्त्र श्री६गुरुवर श्रीकाशीनाथ शास्त्री जी महाराज—

"इह खलु "विहारी-सप्तशती"-नामको दोहात्मको व्रजभाषामयः प्रबन्धः प्रथते। सन्ति च तदुपरि वह्वयोऽनेकरूपाष्टीकाः। तत्र च काश्चन शव्दवहुलतया काश्चिदल्पाक्षरत्वेपि भावानवबोधितया न सहृदयानां हृदयान्यध्यासीरन्, इयं तु विवृतिः श्रीपण्डितपद्मसिंह-शर्मनिर्मिता निखिलार्थप्रतिपादकतया मिताक्षरतया मञ्जुमनोहारि-शव्दावलितया तुलनात्मक-समालोचनोपज्ञतया च विदुषां चेतांसि सुखाकुर्वीतेत्युत्पश्यति 'बलिया'प्रान्तस्थ-'छाता'-ग्रामाभिजनः काशी-वासी श्रीकाशीनाथ इति"

संस्कृतके सुप्रसिद्ध कवि दार्शनिक विद्वान् श्रीमान् साहित्याचार्य पण्डित रमानाथ शर्मा शास्त्री—

"..........अलौकिकी पुनरस्य प्रतिभा। किमयमस्य लेख उत सर्वगुणरसमयी कवितैवापरा। किन्तु मधुस्यन्दोऽयम्। उत द्राक्षारसः। अथवा सिताद्रवः। आहोस्वित् पुण्ड्रकपरिपाकः।

किं वा स्वयममृतमिदम्। × × तद्रसपिपासया तामेव त्वद्रसमयीं समालोचनां नहि नहि महाकविवाचं पुनः पुनर्नयन-चषकै रापीय श्रान्तोपि नातृप्यम्। नासौ समालोचना, वाढमेषा निर्दोषा रसमयी महाकविवागेव। गीर्वाणवाचि प्राकृतभाषासु वा नाद्यावधि भारते काचित्तथाविधा हास्यरसकविता लब्धा या हि सहृदयान् सन्तोषयेत्।

सहृदयैरापीयमानो हि रसः। रसश्च काव्यम्। रसो हि शब्दार्थौ विना न तिष्ठतीति रसात्मकं वाक्यमित्युच्यते काव्यम्।

प्रथमो भवांस्तत्र हास्यरसमुद्भावयिता। भिन्नैव शैली समालोचनस्य।

अपि च महानेष कलङ्क आसीद्भारतीयकविषु यन्नैषां वाक् परिहासे प्रासरत् प्रसरति च। स इदानीं सहृदयेन सर्वविषयविदुषा भवता कृतेन परिहृतः। संस्कृते गाथास्वार्यासु वा लब्धः कचित्कचित्तथा रसः किन्तु सह्यङ्गुलिदघ्न इति न तथा तृप्तिमकरोत्। न केवलं भवतो वचसि परिहास एव अपि तु निखिला एव कवितागुणाः।

सम्प्रति मम हस्ते भवतः कृतिः "विहारीकी सतसई"-प्रथमो भागः। प्रतिभा व्युत्पत्तिरभ्यासः परीक्षणं रसपरिचयः शब्दशय्या इत्यादि बहवो गुणा अत्र। नैतत्केवलं गरीयोन्यत्र शास्त्रेष्वपि भवतः प्रावीण्यमित्यपि प्रकटीभवति।" + + +

महाविद्यालय-(ज्वालापुर)-के मुख्याध्यापक पण्डितप्रवर पण्डित श्रीभीमसेन जी शर्मा—

"शृङ्गारि-कविमूर्द्धन्यः श्रीविहारीतिविश्रुतः ।
धन्यः, 'सप्तशती' येन विचित्रैव विनिर्मिता ॥
तद्भाष्य-व्याजतः काचित् कृतिः सञ्जीवनाभिधा ।
स्फुरत्यहो हरत्येषा मुनीनामपि मानसम् ॥"

महामहोपाध्याय, विद्यानिधि पं० श्रीगिरिधरशर्मा चतुर्वेदी न्यायशास्त्री व्याकरणाचार्य—

× × "इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दीसाहित्य-भण्डारको यह एक नया रत्न मिला है। जिसने अपनी चमकती प्रभासे, इस भण्डार-को अधिक समुज्ज्वल कर दिया है। इसीलिये, प्रकाशित होतेही, यह रत्न साहित्य-मर्मज्ञ सहृदयोंके हृदयालङ्करणहारमें मध्यमणिके स्थानपर जा जगमगाया है। + + इस प्रथमही खण्डमें लेखककी साहित्यमर्मज्ञता, अप्रतिहत प्रतिभा, असाधारण खोज, एवं संस्कृत, हिन्दी, उर्दू और फ़ारसी कविताओंकी अनर्गल उपस्थिति का पूर्ण प्रमाण मिलता है। लेखककी भाषाकी सरसता सरलता और प्रौढ़ता प्रसिद्ध है, उसपर कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं। + + यह हिंदी भाषामें सर्वथा नया काम है। + + जिस परिपाटीसे ग्रन्थ-का समीक्षण रुचिकर होता है और जो बातें आजकल महत्त्वकी मानी जाती हैं, उस परिपाटी और उन बातोंका इस खण्डमें समावेश है। + + संस्कृत, हिन्दी और उर्दू के कवियोंकी कवितासे, विहारीकी कविताने जहां जहां टक्कर खाई है, वहां भावोंकी सुकुमारतामें कौन कहां तक है—इसकी खूब जी खोलकर आलोचना की गयी है। 'सतसईका सौष्ठव' तो आलोचनारूप है ही किन्तु "विहारीका विरहवर्णन" और "व्यापक पाण्डित्य" भी तुलनात्मक आलोचनासे खाली नहीं। यह आलोचनाही इस पुस्तककी नयी चीज़ है और उसके कारण यह खण्ड न केवल सहृदयोंके हृदयका हार होगया है, बल्कि व्युत्पन्न छात्रोंकी पाठ्य पुस्तक बननेकेभी सर्वथा योग्य होगया है। + + विहारी अभिप्राय बांधनेमें इस कसौटी पर असाधारणही उतरे हैं। + + इस तुलनात्मक आलो-चना द्वारा विहारीकी कविताका उत्कर्ष सिद्ध होनेमें, हम हृदयसे सहमत हैं। + + हिन्दी-साहित्यप्रेमीके नाते हम पण्डित

पद्मसिंहशर्माजीके इस महान् उपकारके हृदयसे कृतज्ञ हैं।"

(ब्रह्मचारी, अप्रेल १६२२)

विश्व-विख्यात विद्वान् देशभक्त तपस्वी श्रीमान् लाला हरदयालजी एम० ए०, (स्वीडन)—

+ + "मैं आपका बहुतही कृतज्ञ और अनुगृहीत हूं कि आपने "विहारी सतसई" मेरे पास भेजी है। यह आपने बड़ी कृपा की है। मैंने पहले यह कविता पढ़ी है जब मैं जर्मनीमें था परन्तु अच्छी टीका न होनेसे भलीभांति समझमें नहीं आई थी। अब आपकी टीकाकी सहायतासे खूब समझमें आजायगी। आपकी तुलनात्मक समालोचना सर्वथा प्रशंसनीय है। हिंदी साहित्यमें अब इसकी बहुत आवश्यकता है। आपकी पुस्तकसे मुझे बहुत आनंद प्राप्त हुआहै और होता रहेगा। मैं काव्यका बहुत प्रेमी हूं।" + +

प्राचीन-लिपि-विद्याके परमाचार्य इतिहासमूर्ति रायबहादुर श्री पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द जी ओझा—

"श्रीयुत पण्डित पद्मसिंहशर्माजीने कविवर विहारीजीकी सतसईपर तुलनात्मक विस्तृत भूमिका लिखकर विहारीजीकी हृदयग्राहिणी एवं अनुपम कविताकी उत्तमता और उसके विशेष गुणोंका भलीभांति परिचय कराया है। ऐसे ही सतसईके १२६ दोहोंपर जो संजीवन भाष्य लिखा वह भी निराले ही ढंग का है और विहारी जैसे महाकविकी कविताके गूढ रहस्योंको समझानेके लिये बड़ा ही उपयुक्त है। साथमें जहां तहां अनेक संस्कृत एवं हिन्दी उर्दू कवियोंके समानार्थक पद्य उद्धृत कर सोनेमें सुगंधका योग कर दिया है जो वास्तव में आदरणीय है।

हिन्दीके प्राचीन कवियोंके ग्रन्थोंपर इस प्रकारकी तुलनात्मक भूमिकाएं तथा ऐसे विस्तृत भाष्योंकी बहुत कुछ आवश्यकता थी,

जिस के एक अंश की पूर्ति शर्मा जी के अगाध परिश्रम से हुई है।

शर्माजीकी पुस्तक हिन्दी-प्रेमियोंकेलिये परम आदरणीय है।"

——::❀::——

सुप्रसिद्ध विद्वान् आर्यप्रतिनिधि-सभाके प्रधान श्रीपं०घासीरामजी एम० ए०,एल-एल०बी०, मेरठ—

"हिन्दीके सुप्रसिद्ध लेखक श्रीपद्मसिंहशर्माकी लिखी हुई विहारीकी सतसईके ऊपर लिखे जानेवाले सञ्जीवन भाष्यकी भूमिका हमारे सामने है। भूमिका अत्यन्त सुन्दर और मनोहर है। वस्तुतः वह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। उसमें लेखकने कमाल कर दिया है। ऐसी हृदयग्राही है कि एक बार आरम्भ करके बिना समाप्त किये उसे छोड़नेको जी नहीं चाहता। उसमें कविताके गूढ़तम मर्मोंका ऐसी सरल, सजीव और ओजस्विनी भाषामें उद्घाटन किया गया है कि उन लोगोंकोभी जिन्होंने कविताकी गैलमें एक पगभी न रक्खा हो वही आनन्द आ जाता है जो उन्हें आता है जिन्होंने अपनी सारी आयु ही इस कूचेमें खर्च करदी है।

भूमिका सर्वाङ्गसुन्दर और सर्वाङ्गपूर्ण है। वह बड़े अनुशीलनसे लिखी गई है। विहारीकी सतसईकी अन्य ग्रन्थोंसे और विहारीकी सूक्तियोंकी अन्य संस्कृत, उर्दू और हिन्दीके कवियोंकी कृतियोंसे तुलना करके सतसईका सौष्ठव प्रतिपादित किया गया है। यह भाग बहुत ही मनोरञ्जक है। इसे पढ़कर न केवल विहारीके श्रेष्ठतम दोहोंके रसास्वादनका आनन्द प्राप्त होता है वरन् अनेक अन्य कवियोंकी सूक्तियोंकाभी स्वाद चखनेको मिल जाता है। वास्तवमें यह भाग बड़े मार्केका है। अन्तिम भागमें विहारीके ऊपर किये गये कुछ आक्षेपोंका निराकरण अत्यन्त व्यङ्ग्य और विनोदपूर्ण भाषामें है, कहीं कहीं तो हम कहेंगे भाषा बड़ी तीखी है।

हमें यह कहनेमें तनिक भी सन्देह नहीं कि ग्रन्थ सर्व प्रकारसे उपादेय है और बिलकुल नये रंग ढंगपर लिखा गया है। समालोचना-कलाका अनुपम और अनुकरणीय निबन्ध है। इस साहित्य-सेवाके लिये हिन्दी साहित्य संसार लेखकका सदा ऋणी रहेगा।"

——::❀::——

वेदान्तके विख्यात विद्वान् उर्दू फ़ारसी के महाकवि श्रीयुत मुन्शी सूर्यनारायण साहब 'महर' देहलवी—

"मैंने श्रीमान् पण्डित पद्मसिंहकी किताब "विहारीसतसई" सटीक निहायत शौक़से पढ़ी है। "विहारीसतसई" हिन्दी-शाइरी का ज़ेवर और निहायत ही हरदिल अज़ीज़ किताब है। इसलिये इस पर मुतअद्दद् टीके लिखे गये हैं। किसीमें एक खास ख़ूबी है किसीमें दूसरी। पण्डित पद्मसिंहके टीकेमें यह ख़ूबी है कि "तमाम ख़ूबियोंका मजमूआ" है। आपने अपनी आलिमाना वाक़फ़ियत, नुकतारस नज़र और सलीम मज़ाक़े-सुख़नसे काम लेकर ऐसा बेनज़ीर टीका लिखा है कि नाज़रीन सिर्फ़ एक एक दोहेके मग़्ज़े-सुख़नको ही न पहुँचें बल्कि आलिमाना तहक़ीक़ाते-लफ़्ज़ी, सनाया लफ़्ज़ी व मानवी, हुस्ने-तरकीब व मआ़नी वग़ैरा वग़ैरा सबपर क़ादिर हो जायँ। ग़रज़ जैसी असल किताब हिन्दी शाइरी का बेनज़ीर नमूना है, वैसी ही यह शरह भी लाजवाब है। हिन्दीके हर रसियाके कुतबख़ानेमें यह किताब होनी चाहिये।"

——::o::——

उर्दू हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक, अनेक उपन्यासों के प्रणेता श्रीयुत प्रेमचन्द्रजी, बी० ए०—

........"विहारी हिन्दीका ज़िन्दा-जावेद (अमर) और हुस्नोइश्क़के रंगमें बेमिस्ल शाइर है। + + मज़मून-आफ़रीनी विहारीकी ख़सूसियत है और इस ऐतबारसे

उर्दू में ग़ालिबके सिवा कोई दूसरा शाइर उसके जोड़का नहीं है + + अबतक बिहारी सतसई पर जितनी शरहें (टीकाएँ) मौजूद थीं उनमें बिहारीके कलामकी ख़सूसियातसे बहस नहीं की गई है। न किसी दूसरी हिन्दी शाइरीसे इसका मवाज़ना किया गया है। पं० पद्मसिंहशर्माने यह तसनीफ़ करके हिन्दी-लिटरेचरकी यह कमी पूरी करदी है। हिन्दीमें ऐसी मबसूत (विस्तृत) तनक़ीद (समालोचना) दूसरी नहीं है। उर्दू लिटरेचर में मौलाना हालीकी 'यादगारे-ग़ालिब' और 'हयाते-सादी'-से इसका मुक़ाबला हो सकता है, लेकिन बसत (विस्तार) के ऐतबारसे इसे उनपर भी तफ़व्वुक़ है। इस कामके लिये पं० पद्म-सिंह ख़ास तौरपर मौज़ूं हैं। इन्हें बिहारीके कलामका सच्चा ज़ौक़ है। इनकी तबीयत सुख़नफ़हम वाक़े हुई है, और वह महज़ हिन्दी और संस्कृतपर क़ादिर नहीं, उर्दू और फ़ारसीपर भी इन्हें अबूर है। इस किताबकी नुमायां ख़सूसियत यह है कि इसमें बिहारीके दोहोंसे टक्कर खातेहुए अक्सर उर्दू शोरा के अशआर भी दे दिये गये हैं, जिनसे तनक़ीद और तशरीहका लुत्फ़ दुबाला हो जाता है। शर्माजीका तर्ज़ बयान निहायत चुस्त, फ़सीह और दिलकश है। महज़ इन्शापरदाज़ीके ऐतबारसे भी यह किताब हिन्दी लिटरेचरमें बेमिसाल है, वसअते-मालूमात, शाइराना-सुख़न फ़हमी, लुत्फ़े-तनक़ीद, इसपर मज़ीद हैं। + +

अलमुख़्तसिर यह एक मोहक़्क़िक़ाना और अदीबाना तसनीफ़ है, और हज़रत मुसन्निफ़ने हिन्दी लिटरेचरकी यह बेश-बहा ख़िदमत अन्जाम दी है।" + +

(ज़माना, फ़रवरी, १९२० ई०)

——::०::——

भारतसेवक-समितिके सुप्रसिद्ध विद्वान् सदस्य श्रीयुत पण्डित कृष्णप्रसाद साहब कौल, बी० ए०—

++"इसमें शुबहा नहीं है कि विहारीलाल नाज़ुक ख़्याल और बुलन्द-परवाज़ शाइर गुज़रा है। इसका कलाम अगर्चे सादा है लेकिन नश्तरका काम देता है। चन्द अल्फ़ाज़ में वह अजीव लुत्फ़के साथ निहायत अमीक़ और नाज़ुक ख़्याल ज़ाहिर कर देता है और हर रंग में फ़र्द है।

'विहारीकी सतसई' विहारीके कलामका न सिर्फ़ इन्तख़ाब है, बल्कि इसके मुवल्लफ़ पं० पद्मसिंह साहब शर्माने निहायत अर्क़रेज़ी के साथ विहारीलालके कलाम पर नक़्क़ादाना क़लम उठाया है, और हिन्दी भाषामें इस नये रास्तेकी दाग़बेल डाली है। इसके साथही मुवल्लफ़ने भाषा, संस्कृत और उर्दू के असातज़ा(उस्तादों)के कलाम-के साथ विहारीलालके कलाम का मवाज़ना और मुक़ाबला करके दिखलाया है कि विहारीलालका पाया इस सनफ़में किसीसे कम नहीं है। बल्कि बाज़ मौक़ोंपर बढ़ा चढ़ा ही दिखाई देता है। मुवल्लिफ़ने उन मोतरज़ीनको जवाब भी दिया है कि जिन्होंने विहारीलालकी शाइरी में ऐबजोई की है।" ++

(हिन्दोस्तानी, १५ दिसम्बर १९१८ ई०)

हिन्दीके 'प्रतिभा'-शाली लब्धकीर्त्ति लेखक कवितामर्मज्ञ श्रीमान् पं० ज्वालादत्तजी शर्मा—

"कविवर विहारी व्रजभाषा के जैसे चोटीके कवि थे, इस युगमें श्रीपण्डितपद्मसिंहजी शर्म्मा सतसईके वैसेही मार्मिक ज्ञाता हैं। सतसई-संहारसे आपकी इस योग्यताका पता लगा था और ख़ुशीकी बात है कि जिसका आरम्भ 'संहार' से हुआ था उसका शुभ अन्त 'सञ्जीवन' भाष्य पर हुआ। पण्डितजी जैसे काव्यकला-

मर्मज्ञहीका काम था कि उन्होंने विहारीके काव्य-कानन में प्रवेश करके अनेक दुष्प्राप्य पर मनोहर स्थलों का पता लगा लिया। यद्यपि सतसईपर भारतकी टीका-प्रधान मही में अनेक टीकायें रची गई हैं और पण्डितजीने प्रायः सभी प्राप्य टीकाओंका बढ़िया उपयोग किया है, पर उन्होंने अपनी काव्यमर्मज्ञता और उससे भी बढ़कर वर्णनसम्बन्धी चतुरता से बातमें वह बात पैदा की है कि 'आज़ाद'की गद्य या 'नसीम'की पद्य कविताकी याद आजाती है। किसी विषयको यहांतक कि काव्यविषय को समझना फिर भी उतना मुश्किल नहीं है जितना समझकर दूसरेको समझा देना। काव्यरसके छिपे हुए सैकड़ों भ्रमर आजभी काव्यरसका आस्वादन किसीसे कम नहीं करते, जहां रस पाते हैं चिपककर रहजाते हैं, या जहां फड़कता हुआ पद्य सुनते हैं दिल थामकर बैठ-जाते हैं, पर जिस जादूसे वे मोहित या कभी कभी मूर्छित होते हैं उसे दूसरोंपर चलाना उनसे नहीं आता। किन्तु जिन्होंने श्रीपण्डितजी महाराज के काव्यरस-सने लेख पढ़े हैं या जिन्हें पण्डितजीके प्राइवेटपत्र पढ़नेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे जानते हैं कि आप इस कला में कितने निपुण हैं; गद्य काव्यका 'छूमन्तर' आपको कैसा आता है, बातमें बात पैदा करनेकी आपमें कैसी शक्ति है। हर मौक़े और महल के लिए 'पुख़्ता-कलाम' कवियों के चुभते हुए पद्य आपके आगे हाथजोड़े या मुँहलटकाये कैसे खड़े रहते हैं, फिर बातका बढ़जाना आपकी मज़मूंनिगारी में दूषण नहीं भूषण होजाता है, पढ़नेवाला सफलमनोरथ प्रेमिक की तरह बातको—आपकी बातको—बढ़ता हुआ देखकर ख़ुश होता है बल्कि उसके बढ़ जानेके लिए इच्छुक रहता है। बात में उत्तरोत्तर चमत्कार बढ़ता जाता है। महाकवियोंके प्रसङ्गानुकूल पद्य आपकी बामुहावरा भाषा के आभूषण हैं। जिन्हें आपके इस अलौकिक गुणसे परिचय प्राप्त करना हो उनसे हमारा निवेदन है कि वे

विहारीकी सतसईका पहला भाग मँगाकर पढ़ें। उस पुस्तकके प्रत्येक पृष्ठपर उन्हें नई बात और नई कल्पना मिलेगी और साथही रूँक में संस्कृत, हिन्दी, उर्दू के महाकवियों के टकसाली पद्योंकी बानगी भी। + + +

सहृदय समाज सतसईकी एक ऐसी टीका क्यों भाष्यके लिए बहुत दिनों से लालायित था कि जिसमें मूलके आशयको ठीक ठीक प्रकट करनेके सिवा उसपर रसीली टिप्पणियोंका संनिवेशभी हो। विहारीकी कविता जो पुराने पर इस समय प्रभाहीन दुशालों में छिपी पड़ी थी, या जो आजकल के किसी किसी टीकाकारके शब्द-शस्त्रोंसे मृतप्राय होरही थी, या जिसे अनधिकारियों की उल्टी परिचर्याने चंगा करनेके बजाय और मृत्युशय्यापर लिटा दिया था, किसी ऐसे सहृदय सुरसिक, मर्मज्ञ कविताप्रेमी की बाट जोह रही थी जो अवस्थानुकूल परिचर्या और 'संजीवन-प्रयोग'-(नुसखे)-से उसे बचा ले। आखिर उसे "पद्म-पराग" मिल ही गया। + + +

प्रस्तुत पुस्तकमें पण्डितजीने विहारीसतसईकी तुलनात्मक आलोचना की है। संस्कृत सप्तशतियोंसे ही नहीं, संस्कृत, हिन्दी, उर्दू के बड़े बड़े कवियोंके काव्यसे विहारीके 'नावकके तीर'सम दोहरोंकी तुलना की है और अपनी क़ाबिले-दाद वकालतसे उनके देखनेमें छोटे पर अर्थमें गम्भीर दोहोंको आसमान पर पहुंचा दिया है। वकालतमें ज़बरदस्तीसे किसी बातको सिद्ध करनेकी कोशिश नहीं की गई है, असालतन् जो पद्य साधारण मालूम होता है वही पद्य पण्डितजीकी वकालतसे कुछका कुछ हो जाता है, फिर तो ऐसा मालूम होता है कि पण्डिजीने वही बात कही है जो हमारे मनमें कहीं छिपी हुई थी। बक़ौल ग़ालिब—

"देखना तक़रीरकी लज़्ज़त कि जो उसने कहा।
मैंने यह जाना कि गोया यहभी मेरे दिलमें है॥"

तुलनात्मक आलोचना और विहारीकी वर्णनसम्बन्धी उत्कृष्टता पूरे २४४ पृष्ठपर लिखकर २८ पृष्ठोंमें आपने बड़ी योग्यता और साथही मार्मिकतासे विहारीपर लगाये दोषोंका परिहार किया है। + +

तारीफ़ तो आपकी साहित्याचार्य स्वर्गीय प० अम्बिकादत्त-व्यासजीके साथ रटाके में है। व्यासजी होते तो दिलसे पण्डित-जीकी मार्मिकताकी दाद देते। विहारीने एक दोहेमें चर्खा कातनेका ज़िक्र किया है। उसपर व्यासजी महाराजने अपनी बुद्धिका पैना तकुआ किस तरह विहारीकी कमनीय कविता-कुक्कुटीके शरीरमें चुभाया है और उस पर पण्डितजीने पद्मपरागका पाउडर छिड़ककर बातकी बातमें किस तरह ज़ख्मको अच्छा किया है, यह माजरा श्रीपण्डितजीके शब्दोंमें पुस्तक में पढ़िये।

पाठक यदि आप पण्डितजीकी वकालतका ढंग, अद्भुत शब्द-योजना, बामुहावरा भाषा, बातमें बात पैदा करनेकी शक्ति और सबसे बढ़कर उनका विशाल साहित्य-परिज्ञान देखना चाहें तो उक्त पुस्तक पढ़िये + + दोषपरिहार और उपसंहारके पश्चात् पण्डितजीका सुप्रसिद्ध समालोचनात्मक 'सतसईसंहार' निबन्ध है कि जिसकी गुदगुदीकी याद इतने वर्ष बीत जानेपर भी हिन्दी रसिकोंके मनमें आजभी ताज़ा है। अन्तमें नामों, ग्रन्थों और पद्योंकी वर्णक्रम सूचीने पुस्तककी उपादेयता और भी बढ़ादी है। मतलब यह कि पुस्तक हर तरहसे "अप-टु-डेट" है। हम चाहते हैं कि प्रत्येक हिन्दी साहित्यप्रेमी इस पुस्तकको ख़रीदे और पढ़े, उसे पढ़कर "ब्रह्मानन्द सहोदर" काव्यानन्दका अनुभव करे, या श्रीधरजी पाठक शब्दोंमें—

"ताहि रसिकवर सुजन अवशि अवलोकन कीजै,
मम समान मनमुग्ध ललक लोचन फल लीजै।"

(प्रतिभा, भा० २, अं० ८)

——::※::——

"मतवाला" ज्येष्ठ कृष्ण १३, सं० १६८१ वि०—

"कविवर विहारीलाल और उनकी अमर कृति सतसईका परिचय देना सूर्यको दीपकके सहारे दिखानेके समानही होगा। विहारीने अपने अत्युत्कृष्ट पदविन्यास, अप्रतिम भावमाधुर्य और अर्थगाम्भीर्यके बलपर—अपने अद्वितीय काव्यकौशलके बलपर—व्रजभाषाके काव्य-संसारमें जो विशिष्ट स्थान प्राप्त करलिया है, वह जिस प्रकार प्राय: गत तीन शताब्दियोंसे अप्रतिवादित चला आ रहा है, उसी तरह भविष्यमेंभी अनन्त कालतक अप्रतिवादित बना रहेगा, इसमें तिलभरभी सन्देह नहीं। परन्तु व्रजभाषाके अप्रचलित भाषाओंकी कोटिमें चले जानेके कारण, आज इस काव्यविरोधी विज्ञान-प्रधान युगमें, हमारे लिए विहारीकी सतसई सम्यक् रूपसे समझना अत्यन्त कठिन होगया था। परम प्रसन्नताकी बात है, कि पं० पद्मसिंह शर्माने अपने सतसईसंजीवन भाष्य द्वारा उसे सर्वबोध-गम्य बना दिया।

श्री पं० पद्मसिंहजी शर्मा हिन्दीके उन इनेगिने हिमायतियोंमें हैं जो हिन्दी साहित्यके आधार-स्तम्भ बिना किसी प्रकारकी अत्युक्तिके कहे जा सकते हैं और जिनके प्रगाढ पाण्डित्य, गम्भीर साहित्य-मर्मज्ञता और विवेचना-शक्ति आदि गुणोंपर किसीभी उन्नत भाषाको गर्व होसकता है। यों तो ज्वालापुर महाविद्यालयके मुखपत्र 'भारतोदय' के सम्पादककी हैसियतसे आप साहित्य-क्षेत्रमें, प्रचुर प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे, किन्तु 'सतसईसंहार'-शीर्षक लेखमाला लिखकर—जो प्रयागकी 'सरस्वती'में प्राय: एक युग पूर्व प्रकाशित हुई थी—तो आपने साहित्य-सेवियोंके हृदयोंपर अपना सिक्का जमा लिया था और समालोचक-श्रेष्ठकी उपाधि अर्जित करली थी। आपकी उस लेखमालाको पढ़कर कविवर विहारीलालकी उत्कृष्ट कविताका रसास्वादन करनेके लिए लाला-

यित रहनेवाले काव्य-प्रेमियोंने आपसे 'सतसई'की टीका करनेका अनुरोध किया और आपने उक्त अनुरोधकी रक्षाके लिए इस टीकाग्रन्थका प्रणयन किया। प्रथम भाग भूमिकारूपमें लिखा गया है और इसमें सतसईकी तुलनात्मक आलोचना, सतसईका सौष्ठव और वही 'सतसईसंहार' शीर्षक लेखमाला सम्मिलित है। तुलनात्मक आलोचना और सतसई-सौष्ठव शीर्षक निबन्धों द्वारा आपने यह सप्रमाण सिद्ध कर दिया है, कि विहारी व्रजभाषाके श्रेष्ठ कवि हैं। दूसरे भागमें 'सतसई'के १२६ दोहोंपर टीका है। जिस प्रकार कविकुल-गुरु कालिदासके काव्योंपर टीका लिखकर मल्लिनाथने 'दुर्व्याख्याविष-मूर्च्छिता' कालिदासकी भारतीको अमर करदिया और स्वयंभी अमर होगये, उसी प्रकार सतसईकी टीकाकर शर्माजी विहारीकी 'नानार्थदा सुफल-पल्लव-कल्पवल्ली' की रक्षाके साथही स्वयंभी अक्षय कीर्तिके भागी हुए हैं।

तुलनात्मक आलोचना लिखनेकी प्रथा हिन्दीमें नहीं है और जहांतक हमें ज्ञात है, शर्माजीका प्रयास प्रथम प्रयास है। इस प्रथाका प्रचलन करनेकी चेष्टाद्वारा शर्माजीने हिन्दीप्रेमियोंको चिरकृतज्ञता-पाशमें आवद्ध करलिया है और भविष्यमें लिखे जाने-वाले हिन्दीके इतिहासमें इसके लिये आपका उल्लेख गौरवपूर्ण शब्दोंमें किया जायगा। हिन्दीसाहित्यसम्मेलनने इसके लिये आपको १२००) का मंगलाप्रसाद-पारितोषिक प्रदानकर सम्मानित किया है। हमारा तो विचार है कि उक्त पारितोषिक प्राप्तकर आप जितने सम्मानित हुए हैं उससे कहीं अधिक गौरवान्वित स्वयं सम्मेलन अपने इस चुनावके कारण हुआ है। इस पुस्तककी एक और विशेषता है उन ग्रन्थों और कवियोंके नामोंकी तथा पद्यों-की वर्णानुक्रम सूची, जिनका उल्लेख इसमें किया गया है। दूसरे भागमें भी इसी प्रकारकी एक सूची उन दोहोंकी है, जिनकी टीका इसमें है। यह वर्णक्रम सूची Index कितनी उपादेय

और आवश्यक होती है यह मर्मज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं। हमारा हिन्दी प्रेमी मात्रसे साग्रह अनुरोध है, कि वह इस पुस्तकको अवश्य पढ़ें।"

——::❀::——

"भारतमित्र" आषाढ़ शु० ८, सं० १९७६—

"पं० पद्मसिंह शर्माके "सतसई भाष्य"का यह प्रथम भाग हिंदी-साहित्यमें अनूठी चीज है। आजतक ऐसा ग्रन्थ हमारे देखनेमें नहीं आया। + + यह 'तुलनात्मक आलोचना' बड़े मार्केकी है और विहारीकी सतसईका महत्त्व दिखानेके साथ भाषाकारकी हिन्दी-कविता-मर्मज्ञताकाही नहीं बल्कि संस्कृत, प्राकृत, फारसी और उर्दू कविताके ज्ञानका डंका पीटती है। + + अर्थमें तोड़ मरोड़ नहीं कीगयी है और तुलना करते समय कोई ऐसी बात नहीं लिखी गयीहै जो जीमें खटके। + + पं० पद्मसिंह जी शर्माने विहारीकी सतसईके भाष्यका यह प्रथम भाग लिखकर हिन्दीसाहित्यका जो उपकार किया है, उसकेलिये वे अभिनन्दनीय हैं। इस प्रकारका यह पहलाही ग्रन्थ है।"

——::❀::——

हिमालय, मई, १९१९—

"कविवर विहारीकी विकट विद्वत्ता और पं० पद्मसिंह शर्म्मा-का प्रचण्ड पाण्डित्य एकत्रित होकर यदि प्रलय उपस्थित करदें, तो आश्चर्यही क्या? + + विहारीकी सतसईमें सबसे उत्तम और हिंदी संसारके लिए बिलकुल नया विषय तुलनात्मक आलोचना है। + + ख्यातिप्राप्त संस्कृत कवियोंके 'शार्दूल विक्रीड़ित छंदों' के साथ विहारीके दोहे लड़े और किस सफ़ाई से बाज़ी मार लेगये यह देखतेही बनता है! आश्चर्यचकित हो दांतों तले उंगली दबाकर कहना पड़ता है कि देवभाषासे देवनागरी किसी बातमें कम नहीं है।

+ + संस्कृत कवियोंसे टक्कर लेनेके बाद कविवर बिहारीलाल उर्दू के अखाड़ेमें उतरते हैं और वहां सभी कवियों को परास्तकर मातृभाषाके मंदिरकी ओर आते हैं। + + बिहारीका विरह-वर्णन बड़ा विकराल, बहुत बेढ़ब और बेहद बारीक है। अतिशयोक्तिका आगार है। बिहारीके विरह-वर्णनकी बारीकियोंको–झांकपनको–लेखकने बड़ी उत्तमतासे दिखाया है।"

——::❀::——

हिंदी बंगवासी, २३ दिसम्बर, १९१८—

+ + "शर्माजीने जिस खूबीसे अन्यान्य कवियोंके पद्यों पर विचार करते हुए, बिहारीके दोहोंके साथ, उनका मिलान किया है और फिर प्रायः प्रत्येक दोहेकी तुलनात्मक दृष्टिसे श्रेष्ठता प्रतिपादित कीहै, वह हिंदीजगतमें बिलकुलही निराली वस्तु है। + + यह कहनेमें कोई अत्युक्ति नहीं कि आप अपने प्रतिपाद्य विषयमें पूर्णतः सफलीभूत हुएहैं + + इस समालोचनासे आपकी काव्य-सहृदयता तथा मर्मज्ञताका अच्छा परिचय मिलता है।"

——::❀::——

हिन्दीकेसरी, ६ मार्च, १९१९—

—"पं० पद्मसिंह शर्मा सतसईके अद्वितीय पण्डित हैं। + + इस भाष्यकी यथेष्ट प्रशंसा करने और उसके कर्ताके परिश्रम, सहृदयता तथा विवेच्य विषयके प्रति तल्लीनताकी काफ़ी दाद देनेमें हम असमर्थ हैं। वह (भाष्य) अपने "संजीवन" नामको पूरा पूरा चरितार्थ करता है + + बिहारीकी कविताके आकाशका वह चंद्रमा है। भाषाकी चुस्ती, लालित्य, प्रसंगानुसार योजना और शैलीकी सजीवताने भाष्यकी खूबीको चार चांद लगा दिए हैं।"

——::❀::——

शक्ति, ४ मार्च, १९१९—

"बड़ा अमूल्य रत्न है। पढ़नेमें बड़ा स्वाद व आनन्द आता है। पद्मसिंहजीकी चुटकियां ग़ज़ब ढाती हैं। इस मार्मिक आलोचनाने हिंदी साहित्यमें तहलका मचा दिया। ऐसी मार्मिक आलोचना हिंदी साहित्यमें अभीतक नहीं निकली।"+ +

—::❀::—

श्रीयुत डाक्टर सर जी० ए० ग्रियर्सन, पी-एच० डी०, सी० आई० ई०, (इंगलेंड)—

RATHFARNHAM,
CAMBERLEY,
SURREY.

December 29th, 1919.

Dear Sir,

I am much obliged to you for your sending me a copy of your 'Bihari ki Satsai,' which I find full of instructive information. I am much interested in your comparison of the Satsai, with Hala's Saptsatika and other works. It throw quite as new light on Bihari.

Yours faithfully,

(Sd.) **G. A. GRIERSON.**

—::❀::—

"श्रीमंगलाप्रसाद-पारितोषिक" की पहली निर्णायक-समितिके सदस्यों की सम्मति—

श्रीयुत साहित्याचार्य पण्डित चन्द्रशेखर शास्त्री—

"हिन्दीमें तो ऐसी टीका पुस्तक दूसरी हैही नहीं, संस्कृतमें भी ऐसी टीका बहुत कम हैं। इस पुस्तकके सम्बन्ध में मेरी निजी राय तो यह है, कि वह ग्रन्थकार बड़ा भाग्यवान् था, जिसके ग्रन्थकी टीका 'संजीवन भाष्यके' समान पुस्तक बनी है। यह टीका हिन्दी साहित्य-के लिए गौरवकी वस्तु है। इसमें टीकाकारने अपने व्यापक अध्ययन, विस्तृत जानकारी तथा अनुपम ज्ञानका परिचय दिया है। निस्सन्देह ऐसे ग्रन्थ तथा ऐसे ग्रन्थकार आदरकी वस्तु हैं।" + +

श्रीमान् पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, स्वतन्त्र-सम्पादक—

"वास्तवमें यह पुस्तक हिन्दी-साहित्यमें अपने ढंगकी अद्वितीय है। ×'विहारी सतसई' पर कोई २१-२२ टीकाएं हैं, और इनमें जो ४-५ देखनेमें आयी हैं, उनसे तृप्ति नहीं होती। यह काम इस "संजीवन भाष्यसे" होता है। लेखकने 'आर्यासप्तशती' और 'गाथा-सप्तशती' का विहारीसतसईसे अपनी भूमिकामें जो मिलान किया है, उससे संजीवन भाष्यने सचमुच 'संजीवनी' का काम किया है। हिन्दीकी शिक्षाके प्रचारके लिये, जबतक सब काव्यों-पर ऐसी आलोचनात्मक टीका या भाष्य न प्रकाशित होंगे, तबतक हिन्दीकी कविता कैसी है, इस विषयमें लोग अन्धकारमें ही पड़े रहेंगे। इसलिये हिन्दीके उद्धार और साहित्यके प्रचारके लिये, ऐसे ग्रन्थोंके लेखकोंको ही उत्तेजन देना कर्तव्य है। यह भाष्य कोई १०-१२ वर्षके परिश्रम और अध्यवसायके फलसे इस स्वरूपमें आया है। इसने साहित्यको चमकाया है और विहारीलालके

गुणोंपर प्रकाश डाला है। हमारा मत है, कि यह ग्रन्थ ही पारितोषिक के योग्य है और इस वर्ष इसीके लेखकको श्रीमंगलाप्रसाद-पारितोषिक मिलना चाहिये।"

द्वितीय निर्णायक-समितिके सदस्यों की सम्मिलित सम्मति—

"इस ग्रन्थके पहले भागमें भूमिका और दूसरे भागमें भाष्य है। भूमिकामें प्रकरणोंमें विभक्त करके लेखकने हिन्दी, उर्दू, प्राकृत, संस्कृत कोश-काव्योंसे विहारीके दोहोंकी अपूर्व तुलना की है। कवियोंमें किसके विचार उत्कृष्ट हैं, किसने उन्हें कैसी योग्यतासे निभाया है, शब्द-चित्रोंमें कौन अधिक सफल और कुशल चित्रकार सिद्ध होता है; किसने इस प्रसिद्ध काव्यके समझनेमें कितनी और कैसी भूल की, इन सभी विषयोंको लेखकने ऐसी उपयुक्त, क्रमबद्ध रीतिसे लिखा है, कि अन्य उन्नत भारतीय भाषाओंमें कदाचित् ही इस तुलनात्मक ग्रन्थके समान कोई ग्रन्थ निकले। इसका ढंग निराला और सर्वथा मौलिक है। + + यह ग्रन्थ विहारीकी सतसई की समालोचना है, अतः यह पूर्ण स्वतंत्र और मौलिक ग्रन्थ है। + + + + +

दूसरा भाग विहारीके एकएक दोहेका पूरा परिशीलन है, जिसमें समस्त प्राप्य टीकाओं पर तथा आनुषंगिक साहित्यपर प्रसंगानुसार विशद आलोचनाके साथ दोहेके एक व अनेक अर्थ और भाव समझाये गये हैं। यद्यपि दोहे विहारीके हैं, तथापि जो कुछ भाष्यरूपमें उन दोहोंपर लिखा गया है, वह लेखकके अध्यवसायपूर्वक अनुशीलन और स्वतंत्र विचारका परिणाम है। साधारण टीका नहीं है। भाष्य-रीति भी असाधारण स्वविचार-विभूषित